रजत जयन्ती ग्रन्थमाला-21

सांख्यदर्शन-पर्यालोचन

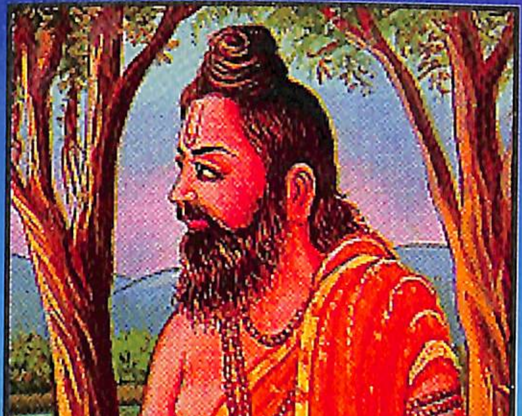

आद्याप्रसाद मिश्र

राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्

रजत जयन्ती ग्रन्थमाला - २१

सांख्यदर्शन-पर्यालोचन

आद्याप्रसाद मिश्र

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
नई दिल्ली
१९९६

प्रकाशकः
डॉ० कमलाकान्त मिश्र
निदेशक
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
४०-ए, राजागार्डन, विशालएन्क्लेव
नई दिल्ली-११००२७

© राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान

रजत जयन्ती ग्रन्थमाला-२१

प्रथम संस्करण—१९९६

वि० सं० २०५३

मूल्य : रु० ५०/-

अमर प्रिंटिंग प्रेस
दिल्ली-११०००९
दूरभाष : ७२५२३६२

पुरोवाक्

'योऽनूचानः स नो महान्' इस उद्घोष के अनुरूप संस्कृत के प्रचार-प्रसार तथा प्राचीन शास्त्रों के संरक्षण व संवर्द्धन के लिए सदैव तत्पर राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान ने अपना रजत जयन्ती वर्ष पूर्ण किया है, यह समस्त विद्वान् एवं संस्कृतानुरागियों के लिए अपार हर्ष का विषय है। प्राचीन शास्त्र परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने एवं राष्ट्रीय ऐक्य की भावना विकसित करने में संस्थान का योगदान संस्कृत जगत् में सुविदित है।

इस अवसर पर देश के विभिन्न प्रान्तों के मूर्धन्य संस्कृत मनीषियों के द्वारा विविधशास्त्रीय विषयों पर रचित अमूल्य ग्रन्थ कुसुमों को रजत जयन्ती ग्रन्थमाला के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

प्रस्तुत **सांख्यदर्शन-पर्यालोचन** नामक यह ग्रन्थ प्रख्यात दर्शनाचार्य, राष्ट्रपति सम्मानित, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति **प्रो॰ आद्याप्रसाद मिश्र** द्वारा प्रणीत है। इसमें विद्वान् लेखक ने सांख्यप्रवर्तकों एवं उनकी कृतियों का विश्लेषण करते हुए प्राच्य-पाश्चात्य विद्वानों के मन्तव्यों के सन्दर्भ में सांख्यशास्त्र के गूढ़ तत्त्व पर प्रकाश डाला है। हमारे अनुरोध को स्वीकार कर प्रो॰ मिश्र ने रजत जयन्ती ग्रन्थमाला के लिए इस ग्रन्थ रत्न के प्रणयन से संस्कृत वाङ्मय को गौरवान्वित किया है, इसके लिए हम हृदय से उनके प्रति आभारी हैं।

रजत जयन्ती ग्रन्थमाला के प्रकाशन आदि कार्यों में सक्रिय भूमिका निभाने वाले डा॰ सविता पाठक एवं डा॰ रा॰ देवनाथन व अन्य सहयोगीगण भी साधुवाद के पात्र हैं।

अमर मुद्रणालय के अधिकारियों ने कम समय में इस ग्रन्थ का मुद्रण कर विमोचनार्थ प्रस्तुत किया है, इसके लिए हम उनके आभारी हैं।

दिनाङ्क २१-८-१९९६ **कमलाकान्त मिश्र**

नयी दिल्ली निदेशक

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

विषयावतरणिका

न हि साङ्ख्यसमं ज्ञानम्—महाभारत की सांख्य विषयक यह सूक्ति सर्वविदित है। किन्तु यह जिज्ञासा तो स्वभावतः मन में उठती ही है कि ऐसा क्यों ? यदि यह तथ्य सर्वथा निश्चित होता कि यह वचन भगवान् कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास का ही है, तो शायद यह शङ्का मन में न उठती। परन्तु यह इसलिए उठी क्योंकि यह बात अब तो विद्वानों के बीच गूंज ही चुकी है कि सम्पूर्ण महाभारत किसी एक ग्रन्थकार की कृति न होकर अनेक-कम से कम तीन-की विभिन्नकालिक कृति है। भगवान् वेदव्यास द्वारा तो भारत-युद्ध के समय ही कौरवों पर पाण्डवों की विजय, और यदि रूपक को हटा कर कहा जाय तो अधर्म पर धर्म की अवश्यम्भावी विजय मात्र को लोकोपदेशार्थ संस्कृत काव्य-परम्परा में अमरता प्रदान करने के लिए **जय** नाम से २०००० श्लोकों में विश्व-पटल पर उपस्थापित किया गया।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो 'जयमु'दीरयेत्॥

इत्यादि मङ्गल-वचन प्रमाण है। बाद में जब व्यास जी के शिष्य वैशम्पायन ने यही कथा नागयज्ञ के अवसर परीक्षित्-पुत्र महाराज को थोड़ी बढ़ाकर सुनाई, तब यह २४००० श्लोकों की होकर **भारत** नाम से लोक में प्रसिद्ध हुई। बहुत बाद, भारतीय संस्कृति के परवर्ती विकास के "नैमिष-युग" में नैमिषारण्यवासी ऋषियों-वानप्रस्थों के प्रश्न के उत्तर-रूप में जब सूत जी ने उन्हें हिन्दू धर्म-दर्शन संस्कृत के समस्त अङ्गोपांगों के सहित इस कथा को उन्हें द्वादश वार्षिक सत्राख्य यज्ञ के अवसर पर खूब पल्लवित करके सुनायी, तो वह विश्व के इतिहास में 'महाभारत' नाम से प्रसिद्ध हुई। पर कथा मूल कवि व्यास जी के नाम से ही-'व्यास-कृत'-प्रथित हुई। महाभारत नाम की व्युत्पत्ति के रूप में **महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते** यह उक्ति प्रसिद्ध हुई। शब्दाकृति के 'महत्त्व' अर्थात् एक लक्षात्मक होने तथा भारवत्त्व अर्थात् लोक जीवनोपयोगी समस्त अर्थों

के भार (अर्थगौरव) से युक्त होने के कारण यह **महाभारत** इस सार्थक नाम से इतिहास-काव्य प्रसिद्ध हुआ ।

अब इस विवेचन के प्रकाश में यह तो कहा ही जा सकता है कि पूर्व उठाई गई सांख्यज्ञान-विषयक शङ्का निराधार या अस्वाभाविक नहीं है । सांख्य ज्ञान क्यों अन्यशास्त्रोपदिष्ट ज्ञानों की अपेक्षा अतिशयी या बढ़कर अथवा श्रेयस्कर है ? सांख्य के अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य ईश्वर कृष्ण ने भी इसे अपनी सांख्यकारिका के उत्तरार्ध में **तद्विपरीतः श्रेयान्** कहा है । तब फिर इसके कारण या कारणों की मीमांसा आवश्यक है । वस्तुतः मानव जीवन की सर्वातिशायिनी समस्या इसका दुःखमय होना है । कुछ भी कर लिया जाय भोगविलासादि से उत्पन्न सुखों के सुन्दर स्त्री, पुत्र पौत्रादि, धन सम्पत्ति इत्यादि सारे उपादान इकट्ठा कर लिये जायँ, फिर भी सुख हाथ नहीं आता और किसी तरह आ भी गया तो थोड़े काल के बाद ही हाथ से खिसक जाता है । इस दुःख को सांख्य दार्शनिक जीवन का ध्रुव सत्य स्वीकार करते हैं । भगवान् बुद्ध भी सांख्य से प्रभावित होकर अथवा स्वतः भी इसे सम्पूर्ण मन से स्वीकारते हैं ।

यहां तक कि वे इसे चार आर्यसत्यों में प्रथम आर्य सत्य कहते हैं । सांख्य की स्पष्ट सोच है कि जब तक जागतिक सुखों को सुख मानते रहेंगे, उसे उसके वास्तविक रूप-दुःखरूप-में नहीं पहचानेंगे तब तक उसके परिहार का चिन्तन क्यों और कैसे करेंगे ? इसी से मौलिक आचार्यों की इस सोच को **ईश्वर कृष्ण** ने अपनी कृति की पहली ही कारिका-**दुःखत्रयाभिज्ञाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ**- इत्यादि कहकर दुःख और दुःखपरिहार या दुःख-निवृत्ति तथा उस निवृत्ति के उपाय के विषय में सुस्पष्ट कथन किया है । सांख्य प्रवचन सूत्र के आरम्भ में भी दुःख की सार्वकालिक निवृत्ति को मानव जीवन के आत्यन्तिक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकृति दी है—**अथ त्रिविधदुःखात्यन्तेनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः**-सां. सू. १.१ । इस प्रकार स्पष्ट है कि सांख्य दार्शनिक जीवन के परम सत्य 'दुःख' से भागते हैं, न पिण्ड छुड़ाते हैं अपितु उसे डटकर मुकाबला करते हैं, उसे दूर भगाने, उसको जीवन परिधि से निवृत्त करने का प्रयास करते हैं, गम्भीर चिन्तन-पूर्वक उसके उपाय का ज्ञान प्राप्त करके उसे क्रियान्वित करते हैं । और सबसे बड़ी बात, इसे सांख्य दर्शन ने अन्य दर्शन शास्त्रों के पूर्व किया । उसके ज्ञान की इसी उत्कृष्टता एवं प्राचीनता के कारण **नहि साङ्ख्यसमं ज्ञानम्** जैसी उक्ति सर्वलोक-व्याप्त है । अब यह बात सर्वथा

विचारणीय है कि सांख्य दर्शन, सांख्य की विचारधारा की प्राचीनता के आधार क्या हैं । संक्षेप में ही इसका विवेचन यहाँ प्रस्तुत करना.सम्भव एवं समुचित होगा । वे आधार इस प्रकार हैं—

मनुष्य स्वाभाव से ही मननशील प्राणी है । अत: मानवीय विचारों की प्रक्रिया उतनी ही पुरानी है, जितनी सृष्टि । स्वभाव के अतिरिक्त मानव की परिस्थितियाँ एवं उसके चारों ओर का वातावरण भी उसको कुछ न कुछ सोचने के लिए सदा प्रेरित करते रहते हैं । सोचने या मनन करने का यह क्रम जाति और व्यक्ति दोनों ही में चलता रहता है । इसी के फलस्वरूप दोनों ही आगे बढ़ते हैं । मानवीय संस्कृति और सभ्यता के विकास का यही रहस्य है । पर सर्वानुभूत बात है कि आरम्भ के विचार अपरिपक्व रहते हैं, नये अनुभवों से मनुष्य के विचारों को नई दिशा प्राप्त होती है, उसका विकास होता है और उसमें क्रमश: परिपक्वता आती जाती है । थोड़ा परिपक्व होने पर ही वे वचनों द्वारा प्रकाशित किए जाने योग्य होते हैं । मन में उठते ही विचार इतने स्फुटित नहीं हो जाते कि वचनों द्वारा प्रकाशित किए जा सकें । फिर कालान्तर में और अधिक परिपक्व होकर व्यवस्थित हो जाने पर लेख-बद्ध होते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्यत: किसी भी देश, समाज या जाति की ग्रन्थ-सम्पत्ति उसकी शताब्दियों की विचार-साधना का सत्फल होने के कारण आरम्भिक विचारों के बहुत बाद उदित होती है । भारतवर्ष और विशेषत: उसके प्राचीन युग के विषय में यह बात और भी अधिक सत्य है क्योंकि उस समय लिखना मनीषियों, चिन्तकों एवं विद्वानों का व्यापार नहीं था । लिखते वे लोग तभी थे जब सतत साधना के अनन्तर सत्य के किसी अंश के 'ऋषि'—द्रष्टा—बनते थे और लोकहितार्थ उसे लेखबद्ध करने के लिए आन्तरिक प्रेरणा पाते थे । समस्त वेद-राशि—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्—का आविर्भाव इसी प्रकार हुआ था । इसी से यह अपौरुषेय कहलाती है क्योंकि गृत्समद, वशिष्ठ, विश्वामित्र इत्यादि उसके कर्ता नहीं, द्रष्टा थे ।

उपर्युक्त कथन से जो बात निस्सन्देह ज्ञात होती है, वह यह है कि हिन्दुओं के दार्शनिक चिन्तन और विचार परवर्ती काल में सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त इत्यादि नामों से व्यवहृत होने वाली विशिष्ट विचार-प्रणालियों के व्यवस्थित रूप धारण करने के अनेक शताब्दियों पूर्व ही आरम्भ हो गये थे और बीच की शताब्दियों में भी अनवरत रूप से चलते रहे । डा० ई० एच० जानसन ने अपने Early

Sankhya नामक ग्रन्थ के आरम्भ में ठीक लिखा है—"Hindu philosophy was in the making for many centuries before any of the extant authoritative treatises on the various classical systems was composed."

आरम्भिक उपनिषद्-साहित्य इन्हीं पूर्व विचारों का लेखबद्ध रूप है, एवं इसी से परवर्ती दर्शन-शास्त्र सूत्र-रूप में व्यवस्थित हुए। इस साहित्य में परवर्ती दर्शन-शास्त्र के मूल-भूत सिद्धान्त बीज-रूप में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। सांख्य-शास्त्र न केवल इस नियम का अपवाद नहीं है, अपितु इसके मूल तत्त्व तो बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसे प्राचीनतम उपनिषदों में भी सूक्ष्म रूप से मिलते हैं। जैसे-पुरुष केवल साक्षी या द्रष्टा है, कर्ता नहीं—इत्यादि भाव बृहदारण्यक की **असङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य** इत्यादि पंक्तियों में झलकते हैं। इसी प्रकार सांख्य का सत्कार्यवाद छान्दोग्य की **कृतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच—कथमसतः सज्जायेतेति, सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्** इत्यादि पंक्तियों में, तथा उसके सत्त्व, रजस् और तमस् गुण **यदग्ने रोहितं रूपं, तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य** इत्यादि पंक्तियों में झलकते हैं। इनकी तो बात ही क्या, ऋग्वेद इत्यादि में भी सांख्य के पदार्थों की झलक मिलती है। जैसे **तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं**-(ऋग्वेद १०, १२९, ३) में सांख्य के भावी 'अव्यक्त' का संकेत मिलता है। इस सबसे यह तो अवश्य स्पष्ट होता है कि विकसित तथा व्यवस्थित सांख्य दर्शन की पृष्ठभूमि में विद्यमान विचार, जिनसे उनका भावी स्वरूप निर्धारित हुआ, अत्यन्त प्राचीन हैं; परन्तु इससे यह कदापि स्पष्ट नहीं होता कि ये प्राचीनतम उपनिषद् किसी प्रकार के सांख्य-शास्त्र से परिचित हैं।

किन्तु भाष्यकार **शङ्कराचार्य** के अनुसार उद्धृत पंक्ति में तीनों गुणों का नहीं अपितु जगत् की त्रिविध प्रकृति तेजस्, जल तथा पृथ्वी का ही उल्लेख है:—**भूत-त्रय-लक्षणैवेयमजा विज्ञेया न गुणत्रयलक्षणा। कस्मात्? तथा ह्येके शाखिनः तेजोऽबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमात्रमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं...** (ब्रह्मसूत्र० १.४.९ पर शां० भा०)। इसके विपरीत **पं० उदयवीर शास्त्री** ने अपने ग्रन्थ सांख्य सिद्धान्त के पृ० ४९ पर लिखा है कि "छठे अध्याय के २,३,४ खण्डों में उसी (मूल उपादान) का वर्णन है। तेज-अप्-अन्नरूप में रजस् सत्त्व और तमस् का वर्णन किया गया है। इस प्रसंग के आधार

पर शंकराचार्य ने जो भूतों के पञ्चीकरण का सिद्धान्त प्रस्फुटित किया है, वह सर्वथा अवैज्ञानिक और अशुद्ध है ।"

वस्तुतः इन सारे विवादों का न तो उठाने का ही यह समुचित अवसर है, और न ही उसके समाधान का । ऐसा इसलिए है कि भूमिका या विषयावतरणिका जैसी वस्तु में इस सबके लिए पर्याप्त अवसर और स्थान नहीं होता । स्थानाभाव के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं होता । इसके लिए ही 'सांख्य दर्शन पर्यालोचन' नामक एक समूचा ग्रन्थ ही आगे प्रस्तुत किया जा रहा है । सांख्य-ज्ञान के पिपासु अपनी ज्ञान पिपासा-जिज्ञासा की शान्ति वहीं करें, इसी निवेदन के साथ यह विषयावतरणिका समाप्त करते हैं ।

—आद्याप्रसाद मिश्र

विषय सूची

क्र. सं. विषय	पृ. सं.
१. सांख्यदर्शन एवं उसकी प्राचीनता	१
२. प्राचीन उपनिषदों में सांख्य के मूल तत्त्व	३६
३. प्राचीन सांख्याचार्य—काल एवं कृतियाँ	७१
४. मध्यकालीन आचार्य काल एवं कृतियाँ	१११
५. सांख्यदर्शन की प्रमाण-प्रमेय मीमांसा	१८१
६. बन्धन तथा उसके कारण	२१५
७. कैवल्य	२३१
८. उपसंहार	२४३

सांख्य दर्शन एवं उसकी प्राचीनता

(१) दर्शन

भारतीय मनीषियों के लिए मानव जीवन सदा से ही एक बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु रहा है । वे इसे यों ही गँवा देने की वस्तु नहीं समझते रहे हैं । इसकी उपयोगिता एवं प्रयोजनवत्ता के सम्बन्ध में हमारे विचारशील पूर्वज सदा से ही जागरूक रहे हैं । हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं, क्यों और किस लिये आए हैं, हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इत्यादि प्रश्नों के सम्बन्ध में वे सदा से विचारते रहे हैं । प्रथम प्रश्न मानव के वास्तविक स्वरूप से सम्बद्ध है, द्वितीय उस स्वरूप के मूल स्रोत या उद्गम से, तृतीय जीवन के महनीय उद्देश्य से, तथा चतुर्थ उस उद्देश्य की संसिद्धि के लिये अपेक्षित साधनों से । इस प्रकार भारतीय विचारकों का जीवन इन प्रश्नों के विविध विचारों एवं उनसे सतत प्राप्त होते रहने वाले नए-नए प्रकाश से नये मोड़ पाकर नए-नए ढंग से गतिमान् होता रहता था । जीवन की नई गति-विधि से, उसके नये आचार से जो नये अनुभव होते थे, उससे वे अपने विचारों में भी तोड़-मरोड़, परिवर्तन करते रहते थे । इस प्रकार उनके विचारों से उनके आचार तथा उनके आचार से उनके विचार सतत प्रेरणा पाते थे, प्रभावित होते थे; तथा विचार और आचार दोनों उनके जीवन को नई प्रेरणा और नया अर्थ दिया करते थे । यही दिव्य प्राचीन भारतीय जीवन था । प्राचीन काल के इस दिव्य भारतीय जीवन में विचारों की दृढ़ता तथा आचार की स्थिरता अवश्य थी, किन्तु साथ ही उसमें थी उसका सुदृढ़ परिचय देने वाली गतिमत्ता, जङ्गमशीलता तथा परिवर्तन-शीलता । जीवन के विरोधी तथा मृत्यु के परिचायक भावों—बद्धता तथा अपरि-

वर्तनशीलता—का उसमें अभाव था। तभी वह इतना सुसमृद्ध, इतना सुसंस्कृत, इतना उन्नत था।

विचार एवं आचार की एकरूपता के लिये होने वाला यह सतत प्रयास जीवन के प्रति भारतीय मनीषियों की तात्त्विक दृष्टि की ओर सङ्केत करता है। यह दृष्टि सत्य के अनुसन्धान की थी। सत्य क्या है? —इसे जानने के लिये प्राचीन मनीषी सदा ही उद्योगशील रहते थे। सतत चिन्तन से जो धारणायें बनतीं, जो विचार निश्चित होते, उनकी सत्यता का अनुभव या साक्षात्कार करने के लिये ही वे उसे आचार में उतारते थे, आचार के साथ उनका समन्वय करते थे। उनका यह ध्रुव विश्वास था और यह ठीक ही था कि मनुष्य जो कुछ आँखों से देखे, उसी को सत्य माने—*चक्षुर्वै सत्यम्*। चक्षुरिन्द्रिय तथा उससे होने वाला दर्शन यद्यपि मुख्यतः बाह्य वस्तुओं से ही सम्बद्ध है, तथापि लक्षणा से उद्धृत श्रुति में वह अनुभव-मात्र के लिये प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में जिसे 'दर्शन' कहते हैं, वह जीवन की प्रयोग-शाला में अनुभव किया गया सत्य है, चाहे वह साध्य-विषयक हो और चाहे साधन-विषयक। विभिन्न समयों में विभिन्न परिस्थितियों के बीच विभिन्न मनीषियों द्वारा किए गए सत्य के अनुसन्धान एवं अनुभव यद्यपि सर्वथा अनुरूप या एक से नहीं हैं और वैयक्तिक एवं अन्य प्रकार की विषमताओं के कारण एक से हो भी नहीं सकते थे, तथापि हैं वे सब सत्य की ही खोज के विभिन्न प्रयोग एवं अनुभव। इसीलिए उनकी 'दर्शन' संज्ञा तथा उनके द्रष्टाओं की 'ऋषि' संज्ञा सर्वथा सार्थक है।

'दर्शन' को इस व्यापक दृष्टि से देखने पर हमारा सारा का सारा आर्ष-साहित्य—वैदिक संहितायें, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्—ही 'दर्शन' हो जाता है और यह ठीक ही होता है। क्योंकि जब वह 'दर्शन' है, तभी तो उसके द्रष्टा 'ऋषि'—*ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः*—हैं, अन्यथा उनका आर्षत्व कथमपि सिद्ध नहीं होता। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि समस्त वैदिक वाङ्मय का आर्षत्व सिद्ध करने के लिये उसे 'दर्शन' मानना है। इसके विपरीत इसका तात्पर्य यह है कि चूंकि सारा वैदिक वाङ्मय प्राचीन तपस्वी मनीषियों एवं चिन्तकों के द्वारा दृष्ट अर्थात्

साक्षात्कृत तत्त्वों या धर्मों की अभिव्यक्ति-मात्र है, उनका दर्शन है, इसलिए वे दर्शक—*साक्षात्कृतधर्मा मनीषी*—'ऋषि'[१] हैं जिसके कारण समस्त वैदिक वाङ्मय आर्ष-साहित्य कहा जाता है । यह अन्य बात है कि वेदों का संहिता-साहित्य विभिन्न देवता-तत्त्वों का दर्शन है, उनकी अभिव्यक्ति और स्तुति-रूप आराधना है; उसका ब्राह्मण-साहित्य उन्हीं देवता-तत्त्वों की आराधना के एक विशिष्ट प्रकार अर्थात् उपासना-तत्त्व—वैदिक कर्म—का दर्शन है, आरण्यक-साहित्य उसके दूसरे विशिष्ट प्रकार अर्थात् ज्ञान-तत्त्व का दर्शन है । परवर्ती काल में जब 'दर्शन' शब्द से सर्व-प्रमुख आत्म-दर्शन ही ग्रहण किया जाने लगा होगा, तब धीरे-धीरे अध्यात्म-ज्ञान-प्रधान उपनिषदों तथा उनके आधार पर रचित न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा इत्यादि के सूत्रों के लिए ही विशेष रूप से उसका प्रयोग होने लगा होगा, ऐसा प्रतीत होता है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् के *मैत्रेयी ब्राह्मण* (बृहदा० ४१५) से भी इसी बात की पुष्टि होती है । इस ब्राह्मण में महामुनि याज्ञवल्क्य तथा उनकी ब्रह्मवादिनी पत्नी मैत्रेयी के बीच अमृतत्व-प्राप्ति के विषय में संवाद हुआ है । मैत्रेयी के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य की एक और पत्नी कात्यायनी थी जो 'स्त्री-प्रज्ञा'—सामान्य स्त्रियों की सी बुद्धि वाली—थी । गृहस्थाश्रम को छोड़कर सन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट करते हुए याज्ञवल्क्य ने एक समय में अपनी ब्रह्मवादिनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी से कहा कि "हे मैत्रेयि ! मैं कात्यायनी के साथ तुम्हारा निपटारा कर देना चाहता हूँ ताकि मेरे न रहने पर तुम दोनों में कलह न हो ।" मैत्रेयी ने उत्तर में कहा कि "हे भगवन् ! यदि यह सारी पृथ्वी वित्त से परिपूर्ण होकर मुझे प्राप्त हो जाय तो मैं अमर हो सकूँगी या नहीं ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"नहीं ! समस्त उपकरणों से युक्त जनों का जैसा जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा भी होगा । वित्त से अमृतत्व की आशा करना व्यर्थ ही है ।" तब मैत्रेयी ने कहा कि "हे भगवन् ! जिस वित्त से मैं अमर न हो सकूँगी, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? जिसे अमृतत्व की प्राप्ति का साधन जानते या

१. साक्षात्कृतधर्माणः ऋषयो बभूवुः ।—निरुक्त में यास्काचार्य ।

समझते हों, उसी का उपदेश कृपया मुझे दें ।" याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे मैत्रेयि ! ध्यान दो, मैं उपदेश दे रहा हूँ । पति, पत्नी, पुत्र, वित्त, पशु, लोक, देव, वेद, प्राणी—सभी कुछ आत्मा के ही लिए, अपने ही लिए प्रिय होता है, पति-पुत्रादि के लिए नहीं । अतः सर्वप्रिय आत्मा का ही 'दर्शन'—अनुभव या साक्षात्कार—करना चाहिए; उसी का श्रुति-वाक्यों से 'श्रवण' तथा श्रुत्यनुकूल तर्कों या युक्तियों से 'मनन' करके अहर्निश 'निदिध्यासन' करना चाहिए । श्रवण, मनन तथा सतत निदिध्यासन से उसका दर्शन हो जाने पर, उसका विज्ञान हो जाने पर अन्य सभी कुछ दृष्ट या विज्ञात हो जाता है, सारे रहस्य का उद्घाटन हो जाता है ।"

इस संवाद से स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों के आविर्भव-काल तक आते-आते आत्म-दर्शन ही मुख्यतम दर्शन हो गया था, सर्व-प्रमुख पुरुषार्थ 'अमृतत्व-प्राप्ति' का एकमात्र साधन ज्ञात होने से यह आत्म-दर्शन मानव जीवन का एकमात्र वास्तविक लक्ष्य बन गया था तथा लक्ष्य-भूत इस दर्शन का मुख्य साधन होने से उपनिषद् इत्यादि अध्यात्म-श्रुतियों का श्रवण तथा मनन एवं तदनन्तर आत्म-निदिध्यासन जीवन की वस्तुतः सार्थक चर्या । अन्य साधनों की सार्थकता आत्म-दर्शन के इन्हीं साक्षात् साधनों की प्राप्ति में सहायक होने में थी । इस प्रकार आत्म-दर्शन के स्वरूप, साधन इत्यादि के निरूपण द्वारा उसकी प्राप्ति में मुख्य साधन होने से उपनिषदों तथा उन पर आधृत अन्य अध्यात्म-विद्या-ग्रन्थों को भी 'दर्शन' संज्ञा प्राप्त हुई । ठीक ही तो हुआ, *दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्* (दृश् धातु + ल्युट् प्रत्यय करणे) अर्थात् जिनके स्वाध्याय तथा तदनुसार अभ्यास या आचरण से तत्त्व का दर्शन हो, वे ही 'दर्शन' हैं । अवान्तर काल में रुचि, शक्ति, अभ्यास आदि के भेद से तत्त्व के विषय में ज्यों-ज्यों विचारभेद होते गए, त्यों-त्यों दर्शन के भी भेद होते गए और एक समय वह आ गया जब भेद के अन्तर्गत अवान्तर भेद होने से ढेर के ढेर दर्शन-सम्प्रदाय देश में उत्पन्न हो गए । ये ही चार्वाक लोकायत, न्याय, सांख्य, योग, मीमांसा, बौद्ध इत्यादि नाम से अभिहित हुए ।

(२) सांख्य-दर्शन

पहले कह आये हैं कि 'सत्य' या 'परमार्थ' का दर्शन विभिन्न स्तर के अधिकारियां या साधकों द्वारा सम्पन्न होने के कारण, साथ ही विभिन्न स्तर के अधिकारियों तथा साधकों के लिए अभिप्रेत होने के कारण भी अनेक-विध हुआ।'दर्शन' की इन्हीं अनेक विधाओं या प्रकारों में से सांख्य भी एक था जो अत्यन्त प्राचीन काल में भारतवर्ष में अत्यन्त लोकप्रिय तथा प्रथित हुआ था। **डा० वासुदेव शरण अग्रवाल** ने ठीक ही लिखा है कि "भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्य दर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था। देश के उदात्त मस्तिष्क सांख्य की विचार-पद्धति से सोचते थे। **महाभारतकार** ने यहाँ तक कहा है कि *ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्* (शान्ति पर्व ३०१।३०९)। वस्तुतः महाभारत में दार्शनिक विचारों की जो पृष्ठभूमि है, उसमें सांख्य-शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शान्ति पर्व के कई स्थलों पर **पञ्चशिख** और उसके शिष्य धर्मध्वज जनक के संवाद-रूप में एवं याज्ञवल्क्य और देवराति जनक के संवाद-रूप में सांख्य दर्शन के विचारों का बड़े काव्य-मय और रोचक ढंग से उल्लेख किया गया है। सांख्य दर्शन का प्रभाव गीता में प्रतिपादित दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर पर्याप्त रूप से विद्यमान है। वस्तुतः सांख्य दर्शन किसी समय अत्यन्त लोक-प्रिय हो गया था।"[१]

इसकी इस लोकप्रियता के और चाहे जोभी कारण रहे हों पर एक जो यह अवश्य रहा प्रतीत होता है कि इस दर्शन ने जीवन में दिखाई पड़ने वाले वैषम्य का समाधान त्रिगुणात्मक प्रकृति की सर्व-कारण रूप में प्रतिष्ठा करके बड़े सुन्दर ढंग से किया। सांख्यों के इस प्रकृतिकारणवाद का महान् गुण यह है कि पृथक्-पृथक् धर्म वाले सत्व, रजस् तथा तमस् तत्त्वों के आधार पर जगत् के वैषम्य का किया गया समाधान न्याय्य, युक्त तथा बुद्धिगम्य प्रतीत होता है[२]।

---

१. द्रष्टव्य पं० उदयवीर शास्त्री-कृत 'सांख्य दर्शन का इतिहास' नामक ग्रन्थ की भूमिका, पृष्ठ १

२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड का 'प्रकृति एवं तीन गुण' नामक चतुर्थ अध्याय।

'सांख्य' शब्द की निष्पत्ति 'संख्या' शब्द के आगे अण् प्रत्यय जोड़ने से होती है और 'संख्या' शब्द की व्युत्पत्ति सम्+चक्षिङ्धातु—ख्याञ् दर्शने+अङ्प्रत्यय+टाप् है, जिसके अनुसार इसका अर्थ 'सम्यक् ख्याति' अर्थात् साधु दर्शन या सत्य ज्ञान है। सांख्यों की यह सम्यक् ख्याति, उनका यह सत्य ज्ञान व्यक्ताव्यक्त रूप द्विविध अचित् तत्त्व से पुरुष रूप चित् तत्त्व को पृथक् जान लेने में निहित है। ऊपर-ऊपर से प्रपञ्च में सना हुआ दिखाई पड़ने पर भी पुरुष वस्तुतः उससे अछूता रहता है, उसमें आसक्त या लिप्त दिखाई पड़ने पर भी वस्तुतः अनासक्त या निर्लिप्त रहता है— सांख्यों की यह सबसे बड़ी दार्शनिक खोज उनहीं के शब्दों में सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति, विवेक-ख्याति, व्यक्ताव्यक्तज्ञ-विज्ञान, विवेक-ज्ञान से वे परम पुरुषार्थ अर्थात् मानव-जीवन के परम लक्ष्य 'मोक्ष' की सिद्धि मानते हैं। इस प्रकार 'संख्या' शब्द सांख्यों की सबसे बड़ी दार्शनिक खोज का बास्तविक स्वरूप प्रकट करने वाला संक्षिप्ततम नाम है जिसके सर्व-प्रथम तथा सर्व-प्रबल व्याख्याता होने से वे अत्यन्त प्राचीन काल में 'सांख्य' नाम से अभिहित हुए, और ऐसा होना सर्वथा ठीक ही था।

जैसा अभी कहा गया, सांख्यों का यह विवेक-ज्ञान प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक विवेक या पार्थक्य का ज्ञान है। इस विवेक-ज्ञान की उत्पत्ति पर **ईश्वरकृष्ण** की ५१वीं कारिका[१] से प्रकाश पड़ता है जिसमें उन्होंने आठ सिद्धियों का वर्णन किया है। उनमें प्रथम 'अध्ययन' है जो यथाविधि गुरु-मुख से अध्यात्मविद्या—सांख्य-शास्त्र—का शब्दतः श्रवण है। द्वितीय 'शब्द' है उसी शब्द-पारायण का अर्थतः ज्ञान है। इस प्रकार प्रथम दोनों सिद्धियाँ पारायण तथा अर्थ रूप द्विविध श्रवण ही हुईं। तृतीय 'ऊह' है जो तर्क या शास्त्रानुकूल युक्तियों द्वारा शास्त्रोक्त विषय की परीक्षा है। चौथी सिद्धि 'सुहृत्प्राप्ति' अर्थात् गुरु, शिष्य तथा सहाध्यायियों (सतीर्थ्यों) के साथ संवाद है। इस प्रकार तृतीय तथा चतुर्थ सिद्धियाँ द्विविध मनन ही हुईं। पाँचवीं 'दान' अर्थात् विवेक-ज्ञान की शुद्धि है

१. ऊहः, शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥—सांख्यका० ५१

जिससे अन्तिम तीन सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं। ये तीनों दु:ख-त्रय के विनाश रूप ही हैं और सब की फल-रूप होने से मुख्य हैं। ये दु:खों के त्रिविध होने से तीन कही गई हैं, पर वस्तुत: एक ही हैं जिसे 'अपवर्ग' या 'कैवल्य' कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अपवर्ग का साधन-भूत विवेक-ज्ञान सांख्य-शास्त्र के श्रवण, तथा उस श्रवण का समर्थन करने वाले अनुकूल तर्कों के द्वारा किये गये मनन से उत्पन्न होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि सांख्य-शास्त्र अपनी प्रणाली में तर्क-प्रधान है। वर्तमान समय में प्राप्त *ईश्वरकृष्ण*-कृत *सांख्यकारिका*, तथा *सांख्य-प्रवचन-सूत्र*, दोनों ही ग्रन्थों में सांख्य के दोनों मूल-भूत तत्त्वों—प्रकृति तथा पुरुष—की सत्ता हेतुओं के आधार पर अनुमान द्वारा ही सिद्ध की गई है। पुरुष की अनेकता में भी युक्तियाँ ही दी गई हैं। 'सत्कार्यवाद' की स्थापना भी हेतुओं के ही आधार पर की गई है। इस प्रकार से शास्त्र का 'श्रवण', जो विवेक-ज्ञान का मूलाधार है, प्रायेण तर्क-प्रधान है। 'मनन' तो अनुकूल तर्कों द्वारा शास्त्रोक्त तथ्यों तथा सिद्धान्तों का चिन्तन है ही। इस प्रकार जिस 'संख्या' या विवेक ज्ञान के कारण सांख्य दर्शन का 'सांख्य' नाम पड़ा, उसका विशेष सम्बन्ध तर्क और बुद्धि-वादिता—rationalism—से है। अवश्य ही इस बुद्धिवाद के कारण अवान्तर-काल में सांख्य दर्शन के कई सिद्धान्त वैदिक परम्परा से बहुत-कुछ पृथक् स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए जिसके कारण **बादरायण वेदव्यास** तथा **शङ्कराचार्य** जैसे महनीय आचार्यों ने इसे अवैदिक तक कह डाला। परन्तु, जैसा आगे स्पष्ट करेंगें, यह शास्त्र मूल में अवैदिक नहीं था और अपने अर्वाचीन—classical—रूप में भी वैदिक-परम्परा के सर्वथा विरुद्ध नहीं है।

गणनार्थक 'संख्या' शब्द से भी 'सांख्य' शब्द की निष्पत्ति मानी जाती है। *महाभारत* में सांख्य के विषय में आये हुए एक श्लोक में ये दोनों ही प्रकार के भाव प्रकट किए गए हैं। वह इस प्रकार है:—

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन साङ्ख्या प्रकीर्तिताः॥

महाभा० १२।३१।४२॥

इसका शब्दार्थ यह है कि जो संख्या अर्थात् प्रकृति और पुरुष के विवेक-ज्ञान का उपदेश करते हैं, जो प्रकृति का प्रतिपादन करते हैं, तथा जो तत्त्वों की संख्या चौबीस निर्धारित करते हैं, वे सांख्य कहे जाते हैं।

कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि ज्ञानार्थक 'संख्या' शब्द से की जाने वाली 'सांख्य' की व्युत्पत्ति ही मुख्य है, गणनार्थक 'संख्या' शब्द से की जाने वाली गौण। चूँकि सांख्य में प्रकृति एवं पुरुष के विवेक-ज्ञान से ही जीवन के परम लक्ष्य 'कैवल्य' या 'मोक्ष' की सिद्धि मानी गई है, अतः उस ज्ञान की प्राप्ति ही मुख्य है और इस कारण सांख्य का सारा बल उसी पर है। सांख्य (पुरुष के अतिरिक्त) चौबीस तत्त्व मानता है, यह तो एक सामान्य तथ्य या वास्तविकता का कथन-मात्र है, अतः गौण है। इसी भाव से **पं० उदयवीर शास्त्री** ने अपने *'सांख्य दर्शन का इतिहास'* नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ६ पर सांख्य शास्त्र के **कपिल** द्वारा प्रणीत होने में *भागवत* ३।२५।१ पर **श्रीधर स्वामी** की व्याख्या को उद्धृत करते हुए इस प्रकार लिखा है:—"अन्तिम श्लोक की व्याख्या करते हुए व्याख्याकार ने स्पष्ट लिखा है— *'तत्त्वानां संख्याता गणकः सांख्यप्रवर्तक इत्यर्थः'*। इससे यह निश्चित हो जाता है कि यही **कपिल** सांख्य का प्रवर्तक या प्रणेता है।" **श्रीधर स्वामी** के 'गणकः' शब्द पर शास्त्री जी ने नीचे दिए गए फुटनोट में इस प्रकार लिखा है:—"मध्य काल के कुछ व्याख्याकारों ने 'सांख्य' पद में 'संख्या' शब्द को गणना-परक समझ कर इस प्रकार के व्याख्यान किए हैं। वस्तुतः इसका अर्थ 'तत्त्वज्ञान' है, इसका विवेचन हमने *'सांख्य सिद्धान्त'* नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया है।" परन्तु गहराई से विचार करने पर यह बात उतनी सामान्य या गौण नहीं है जितनी आपाततः प्रतीत होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत प्राचीन काल में दार्शनिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जब तत्त्वों की संख्या निश्चित नहीं हो पाई थी, तब सांख्य ने सर्वप्रथम इस दृश्यमान भौतिक जगत् की सूक्ष्म मीमांसा का प्रयास किया था जिसके फल-स्वरूप उसके मूल में वर्तमान तत्त्वों की संख्या सामान्यतः चौबीस निर्धारित की थी। इनमें भी प्रथम तत्त्व जिसे उन्होंने 'प्रकृति' या 'प्रधान' नाम दिया, को शेष तेईस का मूल सिद्ध किया

था। उन्होंने चित् पुरुष के सान्निध्य से इसी एक तत्त्व 'प्रकृति' को क्रमश: तेईस अवान्तर तत्त्वों में परिणत होकर समस्त जड़ जगत् को उत्पन्न करती हुई माना था।

श्रीधर स्वामी जैसे महामहिम व्याख्याकार के एतदनुसारी मत का उद्धरण तो अभी पीछे कर ही चुके हैं। **स्वामी वल्लभाचार्य** का भी व्याख्यान इसी विचार का पोषक प्रतीत होता है, यद्यपि यह सर्वथा स्पष्ट नहीं है। उनके शब्द इस प्रकार हैं— *"तत्त्वसंख्याता तत्त्वसंख्यानकर्ता तत्त्वानां सन्दिग्धत्वात्..."*। 'सन्दिग्धत्वात्' पद के प्रयोग से **वल्लभ स्वामी** का यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जब तत्त्वों की संख्या के विषय में लोगों में सन्देह था, उस समय उसको (मीमांसा, विश्लेषण आदि के द्वारा) निश्चय करने वाले 'सांख्य' कहलाये। वस्तुत: तत्त्वों की संख्या का निर्णय 'तत्त्व क्या है अथवा तत्त्व किसे कहना चाहिए' इस प्रश्न के समाधान प्राप्त होना असम्भव है; और 'तत्त्व क्या है'—इसी प्रश्न का उत्तर पाने के लिए सारी बौद्धिक साधना करनी पड़ती है। वस्तुत: इसी प्रश्न का समाधान पाने के प्रयास में विभिन्न दर्शनों का जन्म हुआ। इस प्रकार तत्त्व-संख्या के निर्धारण के पीछे सांख्यों की बहुत बड़ी बौद्धिक साधना छिपी हुई प्रतीत होती है। आखिर सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा दीर्घकाल तक चिन्तन और विश्लेषण किए बिना तत्त्वों की संख्या निर्धारित करना तथा ब्रह्म से उसका विकास-क्रम बताना है[१]।

प्रो० एस्० सूर्यनारायण शास्त्री ने 'सांख्य' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है:—" 'सांख्य' शब्द की व्युत्पत्ति सामान्य ज्ञान, अथवा तत्त्व-गणना से सम्बद्ध विशिष्ट ज्ञान के वाचक 'संख्या' शब्द से बताई जाती है। परन्तु दोनों में कौन सा समीचीन है, इस बात का निर्णय करने के लिए कोई साधन नहीं है।"[२] स्पष्ट है कि शास्त्रीजी ने 'संख्या' शब्द के अन्य लोगों द्वारा लिए जाने वाले ही दोनों अर्थ इन पंक्तियों में दिए हैं। उनका स्वारस्य इन दोनों में से किसी भी अर्थ में नहीं है। इसीलिए उन्होंने एक और भी अर्थ आगे दिया है। इसका

---

१. द्रष्टव्य कीथ-कृत Sankhya System, पृ० ५५।

२. द्रष्टव्य एस्० सूर्यनारायण शास्त्री द्वारा अनूदित सांख्यकारिका की भूमिका, पृष्ठ ९।

आधार उन्हें *महाभारत पर्व* १२ अध्याय ३०६ से और विशेषतः उसके ४२-४३ वें श्लोकों [१] में मिला है। उनके विचार से यह मत आकर्षक और सम्भव दोनों ही है। उन्हीं के शब्दों[२] में यह इस प्रकार है—

"A third suggestion however, which comes from *Mahabharata* (XII. ch. 306) is both interesting and plausible. It is said there that the aim of the system is to grasp the twenty-fifth principle (ie. the spirit) as discriminated from the twenty-four, which are material. The discrimination does not amount to treating the material world as illusory (मिथ्या), but only to the recognition of the fact that that world forms no part of the true nature of the self, who is pure spirit. The Sankhya teaching seems to lead thus to discrimination of matter from spirit and the abandonment of the viles of the former. It is not unlikely that this discrimination and final abandonment (परिसंख्यान) gave its name to the system".

प्रो० शास्त्री के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे 'संख्या' शब्द का अर्थ 'प्रकृति तथा उसके विकार-भूत तेईस तत्त्वों का अपने से विवेक, भेद अथवा पार्थक्य जानकर अन्ततोगत्वा पुरुष के द्वारा उसका परित्याग' लेते हैं। 'संख्या' शब्द का जो 'विवेक-ज्ञान' अर्थ पहले कर आये हैं, उससे इस अर्थ में यह विशेषता है कि

---

१. सांख्यदर्शनमेतावत् परिसंख्यानदर्शनम्।
सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः।
सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वपञ्चविंशक ॥

२. द्रष्टव्य, वही, पृ० ९ ॥

जहाँ पहले अर्थ में विवेक या भेद का ज्ञान ही प्रधान वस्तु थी और विवेक-ज्ञान के अनन्तर पुरुष द्वारा प्रकृति का परित्याग **'जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः'** (श्वेताश्वतर ४ ।५) के अनुसार विवेक-ज्ञान का अनिवार्य फल होने से साक्षात् कथित नहीं था, वहाँ इस अर्थ में 'परित्याग' पर ही विशेष बल दिया गया है, उसी को प्रधानता दी गई है, यद्यपि 'विवेक-ज्ञान' अर्थ को भी उसके द्वार-रूप से कहा गया है । इस प्रकार दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं प्रतीत होता, केवल गौण-मुख्य दृष्टि का भेद है । अब दोनों की गौण-मुख्य दृष्टि के औचित्य की दृष्टि से भी शास्त्री जी के अर्थ की अपेक्षा प्रथम अर्थ ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि साधक के लिए मुख्य साध्य तो विवेक-ज्ञान ही है, प्रकृति का परित्याग तो उसका अनिवार्य फल है, साध्य नहीं । इसके अतिरिक्त शास्त्री जी के अर्थ में एक और अपरिहार्य दोष है, वह यह कि 'परिसंख्यान' या 'संख्या' का 'परित्याग' रूप अर्थ अश्रुतपूर्व अतश्च असम्भव-प्राय है, जैसा कि **डा० बार्नेट** ने प्रथम संस्करण की समीक्षा—Review—करते हुए *रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन* के १९३१ के *जरनल* में लिखा था:—
"The Suggested etymology of the name ('parisankhyana' with the impossible meaning of abandonment) is not at all convincing." द्वितीय संस्करण की भूमिका में इसका खण्डन करने का प्रयास करते हुए **प्रो० शास्त्री** ने *महाभारत* के मूल अंश को उद्धृत करके इस प्रकार लिखा है:—"The purport of the whole passage seems to be not the enumeration of catgories which ^parisankhyana* is usually taken to mean, but the knowledge of the self as other than the twenty-four tattvas and different from them in nature; that is to say, tattvas are to be known, in order that they may be excluded from the self: It is not pretended that the evidence for this is convincing or conclusive but it

seems far more plausible than the suggestion of release resulting from enumeration. . . ."

प्रो० शास्त्री द्वारा इस उद्धरण में 'परिसंख्यान' शब्द के अपने द्वारा किए 'परित्याग' अर्थ की सम्भाव्यता तथा समीचीनता प्रदर्शित करने के सम्बन्ध में कोई प्रयास नहीं किया गया है । अत: **डा० बार्नेट** द्वारा आरोपित दोष पूर्ववत् स्थित है । इसके स्थान में 'परिसंख्यान' के 'तत्त्वगणना' रूप दूसरे अर्थ का मोक्ष के साथ साध्य-साधन सम्बन्ध ग्रहण करके उसकी असम्भाव्यता तथा असमीचीनता प्रदर्शित करने का व्यर्थ ही प्रयास किया गया है । यह तो सर्व-सामान्य को स्पष्ट होना चाहिए कि प्रकृति से लेकर पञ्च महाभूतों तक के चौबीस तत्त्वों तथा पचीसवें 'पुरुष' तत्त्व के जिह्वया परिगणन या जप से मोक्ष नहीं होगा । अत: एतदर्थ किया गया प्रयास उपहासास्पद ही है । अत: जैसा पूर्व में कह चुके हैं, सूक्ष्म मीमांसा द्वारा तत्त्व-परिगणन में सांख्यों की अपूर्व साधना छिपी हुई है । ऐसी मीमांसा, तथा उस मीमांसा द्वारा तत्त्वों का निर्धारण करने वाले पुरुष अवश्य ही ज्ञानी एवं मुक्तप्राय रहे होंगे ।ज्ञानी या मनीषी के अर्थ में 'संख्यावान्' शब्द का प्रयोग[१] इस तथ्य की ओर स्पष्ट सङ्केत है ।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा निश्चय होता है कि सांख्य दर्शन का 'साङ्ख्य' नाम दोनों ही प्रकारों से उसके बुद्धिवादी—तर्क प्रधान—होने का सूचक है । सांख्यों का अचित् प्रकृति तथा चित् पुरुष, दोनों ही मूल-भूत तत्त्वों को आगम या श्रुति प्रमाण से सिद्ध मानते हुए भी मुख्यत: अनुमान प्रमाण के आधार पर सिद्ध करना भी इसी बात का परिचायक है, यह इसके पूर्व स्पष्ट कर चुके हैं । सां० सूत्र, अ० १, सूत्र १३०-३७ में प्रकृति तथा अ० १, सूत्र १४०-४४ में पुरुष की सत्ता को सिद्ध करने के लिए कई हेतु दिए गए हैं । **ईश्वरकृष्ण**-कृत *कारिकाओं* में भी १५वीं में प्रकृति एवं १७वीं में पुरुष की सत्ता तथा १८वीं में पुरुष की अनेकता हेतुओं के ही

---

१. धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः ।
धीमान् सूरिः कृती कृष्टिर्लब्धवर्णो विचक्षणः ॥— अमर० २ ।८ ।पं० १९९४-९५

बल पर सिद्ध की गई है । सांख्य दर्शन का प्रसिद्ध सत्कार्यवाद भी ९वीं कारिका में पाँच पृथक्-पृथक् हेतुओं के आधार पर ही सिद्ध किया गया है । प्रसिद्ध भाष्यकार **विज्ञान भिक्षु** ने भी सांख्य को आगम या श्रुति का सत् तर्कों द्वारा किया जाने वाला 'मनन' ही माना है । उन्होंने अपने *सांख्यप्रवचनसूत्र-भाष्य* के अवतरणिका-श्लोकों में यही बात इस प्रकार कही है:—"जो 'एकोऽद्वितीय:' इत्यादि पुरुष-विषयक वेद-वचन जीव का सारा अभिमान दूर करके उसे मुक्त कराने के लिये उस पुरुष को सर्व प्रकार के वैधर्म्य रूप भेद से रहित बताते हैं, न कि उसकी अखण्डता का प्रतिपादन करते हैं, उन्हीं वेद-वचनों के अर्थ के मनन के लिए अपेक्षित सद् युक्तियों का उपदेश करने के लिए सांख्य-कर्ता नारायणावतार भगवान् कपिल आविर्भूत हुए थे"। **अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः** ॥ सां० सं० १ ।६० ॥ के भाष्य[1] में भी उन्होंने यही बात कही है । भाष्य की पंक्तियों का तात्पर्य यह है कि 'सांख्य के अनुमान-प्रधान शास्त्र होने के कारण ही प्रस्तुत सूत्र में अप्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान केवल अनुमान प्रमाण द्वारा बताया गया है, न कि इसलिए कि यह मत आगम या शब्द प्रमाण की उपेक्षा करता है । यही बात छठीं सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने भी सुस्पष्ट की है । इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि सांख्य-शास्त्र मनन-शास्त्र है' ।

(३) सांख्य शास्त्र वैदिक या अवैदिक ?

विज्ञानभिक्षु के पूर्व वचनों से यह भी स्पष्ट है कि वे सांख्य शास्त्र को वेदानुसारी मानते हैं । उनका स्पष्ट मत है कि **'एकोऽद्वितीय:'** इत्यादि वेद-वचनों

१. प्रत्यक्षेणासिद्धानां प्रकृतिपुरुषादीनामनुमानेन प्रमाणेन बोधः पुरुषनिष्ठफलसिद्धिर्भवति. . . . . अनुमानासिद्धमप्यागमात् सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । अस्य शास्त्रस्यानुमानप्राधान्यात् तु केवलानुमानस्य मुख्यतयैवोपन्यासो, न त्वागमस्यानपेक्षेति । तथा च कारिका—
सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥ इति ।
अनेन च सूत्रेणेदं मननशास्त्रमित्यवगम्यते ।

के अर्थ का ही वह सद् युक्तियों एवं तर्कों द्वारा समर्थन करता है, उसका प्रतिपादन और विवेचन करके उसे बोधगम्य बनाता है । **विज्ञान भिक्षु** ने वस्तुतः लोक में प्रचलित पूर्व परम्परा का ही अनुसरण करते हुए अपना पूर्वोक्त मत प्रकट किया है । अत्यन्त प्राचीन काल से ही *महाभारत, गीता, रामायण, स्मृतियों* तथा *पुराणों* में सर्वत्र सांख्य का न केवल उच्च ज्ञान के रूप में उल्लेख भरा हुआ है, अपितु उसके सिद्धान्तों का यत्र-तत्र विस्तृत विवरण भी हुआ है । *श्रीमद्भागवत* पुराण में सांख्य को मोक्षप्रद कहा गया है । भगवान् **कपिल** माता देवहूति से कहते हैं कि "माँ ! जो पुरुष मुझ में चित्त लगा कर श्रद्धा-पूर्वक एक बार भी इस सांख्य ज्ञान को सुन लेता है अथवा दूसरे के प्रति कथन करता है, वह मेरे परम पद को प्राप्त हो जाता है ।[१] सांख्य-प्रकरण की समाप्ति पर **भागवतकार** स्वयं कहते हैं कि "जो पुरुष भगवान् में चित्त लगा कर कपिल मुनि के इस परम गुह्य आत्म-योग को सुनते और कहते हैं, वे भगवच्चरणों को प्राप्त होते हैं ।"[२] *महाभारत* के *शान्ति पर्व* में एक स्थान पर कहा गया है कि "लोक में जो ज्ञान सांख्य-सम्प्रदाय से प्राप्त हुआ है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।"[३] उसी में अन्यत्र फिर कहा गया है कि 'सांख्य के समान कोई ज्ञान नहीं है और योग के समान कोई बल नहीं है ।"[४] *महाभारत* के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंश *श्रीमद्भगवद्गीता* में भी सांख्य दर्शन के त्रिगुणात्मक सिद्धान्त को बड़ी सुन्दर रीति से अपनाया गया है । त्रिगुणात्मिका प्रकृति नित्य-परिणामिनी है, उसके

---

१. द्रष्टव्य भागवत ३ ।३२ ।४३:—
य इद्धं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत् ।
यो वाऽभिधत्ते मच्चित्तः सह्येति पदवीं मम ॥

२. द्रष्टव्य भागवत ३ ।३३ ।३७:—
य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम् ।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेतावुपलभते भगवत्पदारविन्दम् ॥

३. द्रष्टव्य शान्ति पर्व का मोक्षधर्म-प्रकरण, ३०१ ।१०९:—
....ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित्, सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन् ॥

४. द्रष्टव्य उसी का ३१६ ।२:—
नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं, नास्ति योगसमं बलम् ।... ॥

तीनों गुण ही सदा कुछ न कुछ परिणाम, कोई न कोई कार्य उत्पन्न करते रहते हैं, पुरुष तो अकर्ता है—सांख्य का यह सिद्धान्त गीता के निष्काम कर्म-योग का आवश्यक अङ्ग बन गया

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

[गीता १३ ।२७,२९]

इत्यादि शब्दों में यह सिद्धान्त स्पष्ट देखा जा सकता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी सांख्य दर्शन के अनेक सिद्धान्त परवर्ती दर्शनों के सिद्धान्तों के पूरक रूप में प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में दृष्टिगोचर होते हैं । इन सब बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह दर्शन अपने मूल में वैदिक ही रहा है, अवैदिक नहीं । क्योंकि यदि सत्य इससे विपरीत होता तो निस्सन्देह वेद-प्राण इस देश में सांख्य के इतने अधिक प्रचार-प्रसार के लिये उपयुक्त क्षेत्र न मिलता । इसके अनीश्वरवाद, प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद, (प्रकृति) परिणामवाद आदि तथाकथित वेद-विरुद्ध सिद्धान्तों के कारण वेद-बाह्य कहकर इसका खण्डन करने वाले वेदान्त-भष्यकार **शङ्कराचार्य** को भी *ब्रह्मसूत्र* २ ।१ ।३ के भाष्य में लिखना ही पड़ा कि 'अध्यात्मविषयक अनेक स्मृतियों के होने पर भी सांख्य-योग स्मृतियों के ही निराकरण में प्रयत्न किया गया, क्योंकि ये दोनों लोक में परम पुरुषार्थ के साधन रूप में प्रसिद्ध हैं, शिष्ट महापुरुषों द्वारा गृहीत हैं तथा '**तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः** (श्वेता० ६ ।१३) इत्यादि श्रौत लिङ्गों से युक्त हैं ।'[१] स्वयं भाष्यकार के अपने साक्ष्य से भी स्पष्ट है कि उनके तथा उनके पूर्ववर्ती सूत्रकार के समय में भी अनेक शिष्ट

१. सतीष्वप्यध्यात्मविषयासु बह्वीषु स्मृतिषु सांख्ययोगस्मृत्योरेव निराकरणे यत्नः कृतः। सांख्ययोगौ हि परमपुरुषार्थसाधनत्वेन लोके प्रख्यातौ, शिष्टैश्च परिगृहीतौ, लिङ्गेन च श्रौतेनोपबृंहितौ 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वेता० ६ ।१३) इति ।

पुरुष सांख्य दर्शन को वैदिक दर्शन मानते थे तथा परम-पुरुषार्थ का साधन मानकर उसका अनुसरण करते थे ।

आखिर सांख्य के विषय में उस सुदूर अतीत काल में भी शिष्ट जनों की इस मान्यता का क्या कारण हो सकता है ? अहैतुक अथवा अकारण तो यह मान्यता हो नहीं सकती । इसका एक कारण तो भाष्यकार शङ्कराचार्य के पीछे दिए गए उद्धरण से ही स्पष्ट है, और वह कारण यह है कि यह दर्शन श्रौत लिङ्गों से युक्त है अर्थात् **'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः** (श्वेताश्वतरोपनिषद् ६ ।१३) इत्यादि श्रुति-वचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस दर्शन को समस्त बन्धनों से मुक्ति दिलाने वाला कहा गया है । सच तो यह है कि **शंकराचार्य** की दृष्टि से सांख्य का *उपनिषदों* से कई बातों में जो भेद दीख पड़ता है, जैसे उपनिषदों के ईश्वरवाद के विरुद्ध सांख्य निरीश्वरवादी है[१] उपनिषदों के प्रज्ञानात्मक-ब्रह्माद्वयवाद (Idealistic monism) के विपरीत सांख्य प्रकृति-पुरुष-द्वैतवादी है, उपनिषदों के विवर्तवाद (मायावाद या अजातिवाद) के विपरीत सांख्य प्रकृति-परिणामवादी है, उपनिषदों के ऐकात्म्यवाद के विपरीत सांख्य पुरुषबहुत्व-वादी है, वह सब उनकी विशेष दृष्टि के कारण । उनकी दृष्टि में केवल सांख्य दर्शन का ही उपनिषदों से विरोध हो, ऐसी बात नहीं है । इसके विपरीत न्याय, वैशेषिक, योग और यहाँ तक कि अपने एवं अपने परम-गुरु **गौडपाद** से पूर्ववर्ती वेदान्त का भी तथाकथित औपनिषद मत के साथ स्पष्ट विरोध है । यही कारण है कि अपने *वेदान्तभाष्य* में **शङ्कराचार्य** को औपनिषद मत का अपनी दृष्टि से उपन्यास कर चुकने के बाद उसके विरोधी इन सभी मतों के सविस्तर खण्डन का प्रयास करना पड़ा । ऐसी स्थिति में उपनिषदों के साथ सांख्य दर्शन के इस

---

१. यह कथन निरीश्वरवादी (Clsssical) सांख्य को दृष्टि में रखकर किया गया है, उपनिषद्मूलक महाभारत, भागवत आदि के सेश्वर सांख्य के विषय में नहीं । इसे द्वितीय अध्याय में स्पष्ट करेंगे ।

तथा-कथित विरोध की मीमांसा करने के अनन्तर ही इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है । इसे अगले अध्याय में करेंगे ।

पं० एस्० सूर्यनारायण शास्त्री आदि कुछ आधुनिक विचारकों का मत है कि "यद्यपि सांख्य सच्चे अर्थों में बाह्यार्थवादी है, चित् पुरुष के अतिरिक्त अचित् प्रकृति को जड जगत् का कारण मानकर चलता है, और इस प्रकार विज्ञानात्मक ब्रह्माद्वयवाद से भिन्न प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद का अनुयायी है, तथापि इस मत का अन्त या पर्यवसान उस स्थिति में होता है जिसमें जड प्रकृति मुक्त पुरुष के लिए नित्य-परिणामिनी रूप से रह ही नहीं जाती । सांख्य दर्शन का इस स्थिति में पर्यवसान तो उसके विषय में इस मान्यता या कल्पना के साथ अधिक मेल में है, अधिक संगत है कि सांख्य दर्शन में भी उपनिषदों की ऐक्य-दृष्टि की ही प्रकारान्तर से खोज की जा रही थी, न कि उस दृष्टि के विरुद्ध किसी प्रकार का विद्रोह किया जा रहा था[१] ।" **शास्त्री** जी ने अपना यह मत **प्रो० गार्बे** के उस मत के विरोध में प्रकट किया है जो **प्रो० गार्बे** ने "सांख्य"[२] नामक अपने एक निबन्ध में प्रकट किया है । वह मत यह है कि सांख्य दर्शन उपनिषदों के प्रज्ञानाद्वैतवाद (Idealistic monism) के विरोध में, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ । **प्रो० शास्त्री** ने

---

१. द्रष्टव्य, एस्० सूर्यनारूयण शास्त्री द्वारा सम्पादित सांख्यकारिका की स्वलिखित भूमिका, पृष्ठ २ :—

While it may be truly said that the Sankhya is undoubtedly realistic, in that it starts with the two realities-spirit and matter yet it concludes with a state when matter, as a mutable evolvent does not exist for the reseased spirit, and this conclusion would seem to accord better with the hypothesis that the vision of oneness was being sought after than that it was rebelled against.

२. द्रष्टव्य Encyclopeadia of Religion and Ethics का एकादश भाग, पृष्ठ १८९ ।

प्रो० गार्बे के इस मत का जो विरोध किया, वह तो ठीक ही किया; कयोंकि जैसा **प्रो० शास्त्री** ने स्वयं भी लिखा[१] है, ऐसा मानना उपनिषदों की बहुविधता तथा सांख्य दर्शन के विकास के इतिहास, दोनों के ही विरुद्ध सांख्य दर्शन का प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद उद्भूत हुआ कहा जा सके, और न सांख्य दर्शन अपने विकास-क्रम में आदि से अन्त तक एक सा ही है जिससे उसे औपनिषद या वैदिक सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध कहा जाय, क्योंकि कारिकाओं से पूर्व का सांख्य दर्शन औपनिषद मत के बहुत समान है। परन्तु प्रो० गार्बे के मत का विरोध करते हुए प्रो० शास्त्री ने जो यह कहा है कि सांख्य में भी प्रकारान्तर से उपनिषदों की ऐक्य-दृष्टि ही प्राप्त होती है, वह अनपेक्षित होने के साथ ही अयुक्त भी है। जैसा आगे सविस्तर प्रतिपादित करेगें, भारतीय दर्शन का 'सांख्य' प्रस्थान मूलत: वैदिक होने के कारण अनेक सिद्धान्तों में उसके समान होने पर भी एक विशिष्ट प्रस्थान है। उसकी सबसे बड़ी विशिष्टता रही है उसका द्वैत-प्रतिपादन, उसका प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद तथा पुरुष-बहुत्ववाद। ऐसी स्थिति में उसके सिर पर ऐक्य मढ़कर शास्त्री जी ने उसके साथ पर्याप्त अन्याय किया है। सांख्य को वैदिक अथवा वेदविरोधी सिद्ध करने के लिए इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि इस मढ़े हुए सिद्धान्त के अतिरिक्त सांख्य के अनेक वास्तविक सिद्धान्त भी ऐसे हैं जिनके आधार पर उसका मूलत: वैदिक होना सिद्ध होता है। इस प्रकार शास्त्री जी के पूर्व उद्धृत कथन का निर्दिष्ट अंश अयुक्त एवं अनपेक्षित, दोनों ही हैं।

वास्तविक बात जो यह है कि यह मान्यता केवल शाङ्कर वेदान्त की है कि उपनिषदों में एक-मात्र प्रज्ञानाद्वैत-वाद प्रतिपादित है और यह प्रज्ञान-धन अद्वैत तत्त्व

---

१. द्रष्टव्य एस्० सूर्यनारायण शास्त्री की भूमिका, पृ० १:—To say that the Sankhya is a re-action against the idealistic monism of the Upanishads is to ignore both the diversified character of the Upanishadic teaching and the history of the Sankhya doctrine itself which in its pre-classical stages seems to have had considerable affinities with Upanishadic doctrine.

ही औपनिषद् 'ब्रह्म' शब्द का वाच्यार्थ है । इसी प्रकार ब्रह्म-विवर्तवाद भी शाङ्कर तथा उनके अनुयायियों का ही है, अन्य सभी का नहीं । ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपञ्च, भास्कर इत्यादि शङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती भी अनेक वेदान्तियों के मत से उपनिषदों में ब्रह्म-परिणामवाद का सिद्धान्त ही प्रतिपादित है । ऐसी स्थिति में सांख्यों के प्रकृति-पुरुष-द्वैतवाद और प्रकृति-परिणामवाद को ही उपनिषदों का विरोधी मत कहना कहाँ तक उचित है ? परिणामवादी होनो के नाते तो सांख्य **शंकराचार्य** के वेदान्त की अपेक्षा पूर्व वेदान्तियों के मत के अधिक समीप हैं; क्योंकि जहाँ शंकराचार्य सृष्टि को ब्रह्म में विवर्त या मिथ्यारोप मानते हैं, वहाँ ब्रह्मदत्त, भर्तृप्रपञ्च आदि पूर्व वेदान्ती तथा सांख्याचार्य, दोनों ही उसे परिणाम या वास्तविक कार्य मानते हैं, भले ही एक उसे ब्रह्म का परिणाम मानते हों और दूसरे प्रकृति का । शंकराचार्य के उत्तरवर्ती अनेक वेदान्तियों ने भी उनके मत के विपरीत उपनिषदों में मूलत: ब्रह्म-परिणामवाद मानते हुए रुचि-भेद से अपने अपने भिन्न मार्ग चलाये । इसी प्रकार द्वैत-अद्वैत अदि के सम्बन्ध में भी मत-भेद है । एवं जब वेदान्त के ही विभिन्न, आचार्यों में परस्पर भेद हैं, तब सांख्यों को ही उनके मत-भेद के लिए वेद-विरोधी या अवैदिक कहना कहाँ तक ठीक है ? सच तो यह है कि भारत का उपनिषत्-साहित्य एक नहीं अपितु अनेक तथा विभिन्न स्तर और रुचि के महर्षियों का 'दर्शन' है अतएव उसमें अनेक प्रकार से और अनेक दृष्टि से तत्त्व की मीमांसा प्रकट हुई है । ऐसी स्थिति में उसमें किसी विशिष्ट वाद या मत की स्थापना देखना साम्प्रदायिक दृष्टि का परिचय देना होगा । उसकी उत्कृष्ट मौलिकता के कारण ही उसके अनेक प्रकार के भाष्य या व्याख्यान अत्यन्त प्राचीन काल से होते रहे हैं और आज भी हो रहे हैं । इससे उस साहित्य की उत्कृष्टता जितनी प्रकट होती है, किसी व्याख्या-विशेष की साधुता या असाधुता उतनी नहीं । और फिर यदि निस्सन्देह रूप से उपनिषदों की **शंकराचार्य**-कृत व्याख्या साधुतम मान भी ली जाय तो भी यह बात सब को निस्सन्देह माननी ही होगी कि उपनिषदों के मतों के व्याख्यान एवं विकास के अन्य प्रकार भी, चाहे वे समग्रता की दृष्टि से उतने संगत भले ही न लगें, सम्भव ही नहीं अपितु प्राप्त भी हैं । सांख्य भी उनमें से एक अत्यन्त प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण प्रकार रहा होगा ।

वैदिक परम्परा के साथ सांख्य के जिस विरोध की चर्चा अभी पीछे कर आये हैं, वह भी विशेष रूप से *सांख्य-कारिकाओं* के (Classical) सांख्य को दृष्टि में रखकर कहा गया है । पर यदि इस सांख्य की पूर्ववर्ती परम्परा अर्थात् *महाभारत, गीता,* और *भागवत* इत्यादि पुराणों में प्रतिपादित सांख्य को दृष्टि मे रखा जाय तो वैदिक परम्परा के साथ सांख्य का तथा-कथित विरोध और भी कम होता दिखाई पड़ेगा । *महाभारत* के अनेक स्थलों में, विशेषत: *गीता, अनुगीता* तथा *शान्ति पर्व* के *मोक्ष-धर्म प्रकरण* में सांख्य के सिद्धान्तों के विवरण प्राप्त होते हैं । इन में प्रकृति के अधिष्ठाता और प्रेरक रूप में परम पुरुष की सत्ता मानी गई है । उदाहरण के लिए *महाभारत* के *शान्ति पर्व* का **मोक्षधर्म-प्रकरण** देखा जा सकता है । इसमें जनदेव **जनक** तथा आचार्य **पञ्चशिख** का संवााद आया है जिसमें आसुरि द्वारा अक्षर ब्रह्म के प्रतिपादन की चर्चा की गई है :—

यत्तदेकाक्षरं ब्रह्म नानारूपं प्रदृश्यते ।
आसुरि मण्डले तस्मिन् प्रतिपेदे तदव्ययम् ॥

[अध्याय २१८ ।१४]

इसी पर्व में आगे **असित-नारद-संवाद** है जिसमें असित मुनि ने नारद जी के प्रति अपने उपदेश का उपसंहार इस प्रकार किया है:—

पुण्यपापक्षयार्थं हि सांख्यज्ञानं विधीयते ।
तत्क्षये ह्यस्य पश्यन्ति ब्रह्मभावे परां गतिम् ॥ [२७५ ।३८]

इसी में **युधिष्ठिर** से संवाद करते हुए **भीष्म** पितामह जी एक स्थान पर कहते हैं :—

सांख्या राजन् महाप्राज्ञा गच्छन्ति परमां गतिम् ।
ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते ॥

अत्र ते संशयो मा भूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम् ।
अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ [३०१ ।१००,१०१]

फिर इसी में आगे **वसिष्ठ** मुनि ने कराल **जनक** से संवाद करते हुए इस प्रकार है :—

अनादिनिधनोऽनन्तः सर्वदर्शी निरामयः ।
केवलं त्वाभिमानित्वाद् गुणेषु गुण उच्यते ॥

अप्रबुद्धमथाव्यक्तमगुणं प्राहुरीश्वरम् ।
निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव ॥[३०५ ।२८.२२] ।

इसी प्रकार महर्षि **याज्ञवल्क्य** ने भी दैवराति **जनक** को उपदेश देते हुए कहा है—

अचेतना चैव मता प्रकृतिश्चापि पार्थिव ।
एतेनाधिष्ठिता चैव सृजते संहरत्यपि ॥ [३१४ ।१२] ।

व्यासशिष्य **वैशम्पायन** ने राजा **जनमेजय** से अपने गुरु के पूर्वोक्त वाक्यों का उद्धरण करते हुए इस प्रकार कहा है:—

यथावृत्तं हि कल्पादौ दृष्टं मे ज्ञानचक्षुषा ।
परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविदो जनाः ।

महापुरुषसंज्ञां स लभते स्वेन कर्मणा ।
तस्मात् प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तं विदुर्बुधाः ॥[३४० ।२८.२९]

इन समस्त उद्धरणों मे यद्यपि एक-सा वर्णन नहीं है, तथापि सांख्य के ईश्वर वादी होने के विषय में प्रायेण ऐकमत्य है । इस प्रकार महाभारतकार के मत से सांख्य सम्प्रदाय के ईश्वरवादी होने पर सांख्य दार्शनिकों के सम्बन्ध में उनका **'यथाश्रुतिनिदर्शिनः', 'ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः'** [शान्ति० ३०२ ।२९] इत्यादि कथन भी संगत होता है अन्यथा नहीं । गीता मे भी अनेकशः प्रकृति के अधिष्ठाता और प्रेरक रूप में ईश्वर का कथन हुआ है । जैसे एक स्थल पर श्रीकृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! मेरी अध्यक्षता मे ही प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती

है और इस कारण से यह सृष्टि-चक्र सदा घूमता रहता है'।[१] *भागवत* के तृतीय स्कन्ध के सांख्योपदेश-परक अध्यायों में तो प्रकृति के अधिष्ठाता के रूप में एक परम पुरुष या ईश्वर की कल्पना को ढूँढ़ना ही नहीं है। *भागवत* का सांख्य तो मुख्यत: विष्णु-भक्तियोग ही है जिसका प्रतिपादन तृतीय स्कन्ध के २५वें तथा २८वें अध्यायों में विशेष रूप से हुआ है। *ब्रह्मपुराण* में चौबीस भेदों वाली प्रकृति को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति कहा है। *विष्णु पुराण* में भी सृष्टि के प्रकरण में काल के साथ प्रधान और पुरुष को भी भगवान् विष्णु के ही भिन्न रूप बताकर[२] आगे कहा है कि "अव्यक्त या प्रधान भगवान् विष्णु के चतुर्थ रूप 'व्यक्त'—कार्य जगत्—की योनि, उसका उपादान कारण है। यह सारा कार्य या प्रपञ्च प्रलय के होने से लेकर सृष्टि के आरम्भ तक इसी प्रधान से व्याप्त था, तद्रूप था। उस समय न दिन था, न रात थी, न आकाश था, न भूमि थी, न अन्धकार था, न प्रकाश था और न और ही कुछ था। बस श्रोत्रादि इन्द्रियों और बुद्धि आदि का अविषय एक प्रधान ही था। सर्ग-काल उपस्थित होने पर परमेश्वर ने अपनी इच्छा से 'व्यय' प्रधान एवं 'अव्यय' पुरुष में प्रविष्ट होकर उन्हें क्षोभित किया। इस प्रकार क्षोभित होने पर गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान जब परमेश्वर के 'क्षेत्रज्ञ' अर्थात् पुरुष रूप से अधिष्ठित हुआ, तब उससे महत् तत्त्व उत्पन्न हुआ[३]।"

---

१. द्रष्टव्य गीता, अ० ९, श्लोक १० :—
मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

२. द्रष्टव्य विष्णु पुराण, १।२।१५,१६ :
—परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज।
व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम्॥
प्रधानपुरुषव्यक्तकालानां परमं हि यत्।
पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम्॥

३. द्रष्टव्य, उसी के श्लोक १९, २१, २३, २९, ३१ :—
अव्यक्तं कारणं यत्तत् प्रधानमृषिसत्तमैः।

इन सारे उद्धरणों से स्पष्ट है कि महाभारत एवं पुराणों से मौलिक सांख्य की परम्परा सेश्वर ही ज्ञात होती है, यद्यपि सांख्य सिद्धान्त के विपरीत इनमें प्रकृति को परमेश्वर से अभिन्न बताने के भाव से उसका अंश या रूप अथवा उससे उत्पन्न कहा गया है । इसी कारण से उनमें आये हुए सांख्य को अनेक विद्वान् विशुद्ध मौलिक सांख्य मानने से ही इनकार करते हैं । लोकमान्य श्री बाल गङ्गाधर तिलक ने अपने 'गीता-रहस्य' के 'कापिल सांख्य-शास्त्र' नामक सप्तम प्रकरण के पृ० १६१ पर लिखा है कि "महाभारत में सांख्य-मत का निर्णय कई अध्यायों में किया गया है । परन्तु उसमें वेदान्त-मतों का भी मिश्रण हो गया है । इसलिए कपिल के शुद्ध सांख्य-मत को जानने के लिए दूसरे ग्रन्थों को भी देखने की आवश्यकता है । इस काम के लिए उक्त सांख्यकारिका की अपेक्षा कोई भी अधिक प्राचीन ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है ।" आगे इसी प्रकरण के अन्त में, पृ० १७५ पर उनहोंने फिर लिखा है कि ".....गीता में सांख्यवादियों के द्वैत पर अद्वैत परब्रह्म की छाप लगी हुई है ।" **प्रो० गार्बे** भी *महाभारत* के सांख्य को मिश्रित, अविशुद्ध ही मानते हैं । उन्होंने अपने Sankhya Philosophy नामक ग्रन्थ के ५४-५९ पृष्ठों पर यह बात सविस्तर स्पष्ट की है । संक्षेप में उनका मत इस प्रकार रक्खा जा सकता है कि महाभारत का सांख्य वास्तविक या मौलिक सांख्य का लोकप्रिय, अतश्च अविशुद्ध रूप है, मौलिक सांख्य स्वरूपत: इतना विशिष्ट है कि वह किसी विशिष्ट महापुरुष के ही मस्तिष्क की उपज हो सकता है । **लोकमान्य जी** के शब्दों से ऐसा प्रतीत

प्रोच्यते प्रकृतिः सूक्ष्मा नित्यं सदसदात्मकम् ॥
त्रिगुणं तज्जगद्योनिरनादिप्रभवाप्ययम् ।
तेनाग्रे सर्वमेवासीद् व्याप्तं वै प्रलयादनु ॥
नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभूच्च नान्यत् ।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत् ॥
प्रधानपुरुषौ चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले द्विजोत्तम ॥
गुणसाम्यात्ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ।
गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम ॥

होता है कि वे *गीता, महाभारत* आदि में प्रतिपादित सांख्य में उपलब्ध अद्वैतभाव को वेदान्त के प्रभाव का फल मानते हैं। हम **लोकमान्य** जी की इस मान्यता से सर्वथा सहमत हैं क्योंकि विशुद्ध सांख्य आदि से अन्त तक कट्टर द्वैतवादी है और फिर यह बात कोई भी बुद्धिमान् पुरुष न मानेगा कि अपने उद्भव के समय में सांख्य जैसा कुछ भी था, वैसा ही *महाभारत, भागवत* आदि में भी वर्णित हुआ है एवं उसमें कुछ भी विकास या परिवर्तन नहीं हुआ है। वस्तुतः ऐसा मानना इतिहास और विकास के नियमों के प्रतिकूल होगा। इसी प्रकार **गार्बे** के मत के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है कि निस्सन्देह *महाभारत* जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ में सांख्य क्या, किसी भी विशिष्ट दर्शन या सम्प्रदाय का ज्यों का त्यों ग्रहण किया जाना अस्वाभाविक तथा असम्भव है, क्योंकि ऐसा करके उसे लोकप्रिय नहीं बनाया जा सकता था। परन्तु यदि **लोकमान्य** जी का बल 'अद्वैत' शब्द पर न होकर 'परब्रह्म' शब्द पर हो और उनका यह तात्पर्य हो कि मूलतः निरीश्वर सांख्य वेदान्त के प्रभाव से *महाभारत* इत्यादि में आकर सेश्वर हो गया, तो इसके विरुद्ध इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि इस बात में कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसके विपरीत इस बात के स्पष्ट प्रमाण प्राप्त हैं कि *महाभारत* और *भागवत* इत्यादि में प्राप्त होने वाला सांख्य-सम्प्रदाय बहुत प्राचीन है और उनके समय तक उसमें कोई आमूल-चूड़ परिवर्तन नहीं हुआ है। अपितु अपनी पूर्व धारा को बहुत कुछ अक्षुण्ण रखता हुआ ही वह किसी भी अन्य जीवित वस्तु की भाँति ही विकास और वृद्धि को प्राप्त हुआ है। *महाभारत* के शान्ति पर्व (अ० ३०१।१०८-१०९) में भीष्म पितामह का वचन है कि "सांख्यों ने सृष्टि-रचना इत्यादि के बारे में एक बार जो ज्ञान प्रचलित कर दिया है, वही पुराण, इतिहास, अर्थशास्त्र आदि सबमें पाया जाता है[१]।" *महाभारत* में अनेक स्थलों में संवादों के रूप में सांख्य का विवेचन मिलता है। ये संवाद **पञ्चशिख** और **धर्मध्वज जनक, मैत्रावरुणि वसिष्ठ** तथा **कराल जनक,** ऋषि

---

१. यच्चेतिहासेषु महत्सु दृष्टं यच्चार्थशास्त्रे नृपशिष्टजुष्टे।
ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् सांख्यागतं तच्च महन्महात्मन्॥—शान्ति० ३०१।१०९

याज्ञवल्क्य तथा **दैवराति जनक** इत्यादि के बीच हुए हैं। इन्हें सर्वत्र ही पुरातन इतिहास कहा गया है। 'पुरातन' कहने से स्पष्ट रूप से पूर्वोद्धृत वचन का ही समर्थन होता है। ये परम्परायें निराधार हैं, ऐसा कहना तो दूस्साहस-मात्र होगा।

(४) सांख्य दर्शन की प्राचीनता

पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि सांख्य की इस प्राचीन परम्परा का उद्गम क्या है और इन्हें कहाँ से यह प्राप्त हुई? **प्रो० गार्बे** का मत इसके पूर्व उद्धृत किया जा चुका है जिससे उनका यह विचार प्रकट हुआ है कि "सांख्य स्वरूपत: इतना विशिष्ट है कि वह किसी विशिष्ट महापुरुष के ही मस्तिष्क की उपज हो सकता है"। अपने Sankhya Philosophy ग्रन्थ के ५५-५९ पृष्ठों पर उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि "सांख्य महाभारत के उद्भव या कम से कम उसके वर्तमान विकसित एवं विशाल रूप ग्रहण करने के पूर्व ही आविर्भूत हुआ होगा। इसी कारण से इस जैसे महत्त्वपूर्ण दर्शन का महाभारत पर अमिट प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक है।" इसमे **गार्बे** के द्विविध विचार सामने आते हैं। एक तो यह कि सांख्य दर्शन की परम्परा *महाभारत* से पर्याप्त प्राचीन है, यह स्थापना इसके पूर्व की जा चुकी है। दूसरा यह कि सांख्य मूल में किसी विशिष्ट व्यक्ति के मस्तिष्क की ही उपज हो सकता है। **गार्बे** के शब्दों से यह बात प्रायेण स्पष्ट है कि वे सांख्य के उद्भावक मूल पुरुष के विचारों का अन्य कोई मूल या आधार नहीं मानते। **डा० कीथ** ने भी **प्रो० गार्बे** के शब्दों का यही अर्थ लिया है और ऐसा उन्होंने सम्भवत: ठीक ही किया है। इसका खण्डन करते हुए **डा० कीथ** ने ठीक ही लिखा है कि गार्बे के एतत्सम्बन्धी तर्कों में कोई गुरुता नहीं है, वे ठोस नहीं कहे जा सकते।[१]

प्रो० जैकोबी भी सांख्य का विकास प्राचीन उपनिषदों से नहीं मानते। उनका कथन है कि सांख्य दर्शन भौतिकवाद पर आधारित है, अत: यह उपनिषदों के विचारों से विकसित हुआ हो, ऐसा नहीं हो सकता। **डा० कीथ** ने इस मत को

१. द्रष्टव्य कीथ का Sankhya System, पृ० ५८।

काटते हुए इस प्रकार लिखा है:—"स्पष्ट है कि सांख्य विशुद्ध अमिश्रित भौतिकवादी विचार-धारा से कदापि कथमपि विकसित हुआ नहीं माना जा सकता। इसका जन्म तथा विकास ऐसे भौतिकवाद से मानना पड़ेगाा जिसका पूरक अध्यात्मवाद रहा हो। इस प्रकार फिर वही समस्या हमारे समक्ष उपस्थित होती है कि भौतिक तत्त्वों के विरुद्ध पुरुषों की सत्ता स्थापित करने वाली विचार-धारा उपनिषदों से विकसित हुई।"[१]

डा० कीथ के ग्रन्थ से उद्धृत उपर्युक्त अंश से उनका यह मत स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि वे सांख्य को **गार्बे** तथा **जैकोबी** की तरह मूलत: अवैदिक या ब्राह्मणेतर सम्प्रदाय का नहीं मानते। अन्तिम पंक्ति से यह भी स्पष्ट है कि उनके विचार से उपनिषदों से ही इसका विकास हुआ। अन्यत्र भी **डा० कीथ** ने इसे स्पष्ट किया है:—

"There is every evidence that the system is a natural growth from the philosophy of the Upanishads. We have seen that the Upanishads, in their later period of development beginning with Katha, show traces of the doctrines which we find in the Sankhya, such as the evolution of principles and the drawing up of classes of principles. These Upanishads, however, differ essentially from the Sankhya in the fact that they definitely accept either the doctrine of the absolute in its pure form, as does the katha, or the doctrine in a theistic form, as does the Shvetashvatara.[२]

---

१. द्रष्टव्य कीथ का Sankhya System, पृ० २१-२२।

२. द्रष्टव्य कीथ का Sankhya System, पृ० ५९-६०।

डा० कीथ के उद्धरण से एक नई बात यह प्रकट होती है कि उनके मत से सांख्य के महत्, अहंकार इत्यादि विशिष्ट तत्त्व नहीं, अपितु उनके केवल पूर्व लक्षण ही, जिनसे अवान्तर काल में उन विशिष्ट तत्त्वों या पदार्थों की धारणा विकसित हुई, उपनिषदों में प्राप्त होते हैं; और ये पूर्व लक्षण भी सर्वाधिक प्राचीन *बृहदारण्यक, छान्दोग्य* आदि उपनिषदों में नहीं, अपितु बाद के *कठ, श्वेताश्वतर* आदि में ही मिलते हैं। साथ ही उनकी यह मान्यता भी स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि *कठ, श्वेताश्वतर* इत्यादि सेश्वर उपनिषदों से विकसित होने पर भी सांख्य दर्शन आरम्भ से ही निरीश्वर था। **डा० कीथ** के ये दोनों ही मत अमान्य प्रतीत होते हैं। प्रथम पर विचार अगले अध्याय में करेंगे। द्वितीय के सम्बन्ध में यहाँ केवल इतना ही कहना है कि **डा० कीथ** का यह मत अस्वाभाविक होने के साथ ही स्वतो विरुद्ध भी है। जब **डा० कीथ** यह मानतें हैं कि सांख्य की विचार-धारा *कठ* आदि परवर्ती उपनिषदों से क्रमशः विकसित हुई, तब बिना कोई विशिष्ट कारण बताये उसे ब्रह्म या परमेश्वर की कल्पना के विषय में उन उपनिषदों से भिन्न बताना सर्वथा अस्वाभाविक है। स्वाभाविक तो यही है कि *कठ, श्वेताश्वतर* आदि से निकल कर विकसित होने वाला सांख्य दर्शन मूल में ईश्वरवादी ही माना जाय। स्वाभाविक होने के अतिरिक्त यह मान्यता सांख्य के पूर्व इतिहास से प्रामाणिक भी सिद्ध होती है, जैसा कि पिछले प्रतिपादन से स्पष्ट है। न केवल *कठ, श्वेताश्वतर* आदि उपनिषदों एवं भागवत, विष्णु आदि पुराणों में वर्णित सांख्य ही सेश्वर है, अपितु *महाभारत* में वर्णित सांख्य दर्शन भी सेश्वर ही है। यद्यपि सांख्य दर्शन के **महाभारत** स्थित कई वर्णनों में से कुछ में प्रकृति के अधिष्ठाता एवं प्रेरक परम पुरुष या ईश्वर का स्पष्ट कथन या संकेत कुछ भी नहीं प्राप्त होता, तथापि अन्य वर्णनों में उसका स्पष्ट कथन होने से महाभारतीय सांख्य के सेश्वर होने में सन्देह नहीं है। किन्तु इसके विपरीत *कूर्मपुराण* में—

यं न पश्यन्ति योगीन्द्राः सांख्या अपि महेश्वरम्।
अनादिनिधनं ब्रह्म तमेव शरणं व्रज॥

इत्यादि श्लोक में सांख्य को निरीश्वर ही कहा गया है, एवं पराशर उपपुराण में भी

अक्षपाद-प्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः ।
त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंऽशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः ॥

जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन ।
श्रुत्या वेदार्थविज्ञाने, श्रुतिपारं गतौ हि तौ ॥

इत्यादि श्लोकों मे सांख्य को अन्य शास्त्रों के साथ कुछ अंशों में श्रुति-विरोधी तथा सेश्वर ब्रह्ममीमांसा-शास्त्र को सर्वांश में श्रुति-सम्मत कहने से सांख्य के अनीश्वर होने का आभास अथवा संकेत मिल सकता है । 'मिल सकता है' ऐसा कथन करने का उद्देश्य इस तथ्य को प्रकट करना है कि उक्त कथन का यह निष्कर्ष अनिवार्य नहीं है, क्योंकि सर्वथा श्रुति-सम्मत शास्त्रों में अनीश्वरवादी *जैमिनीय मीमांसा* का भी तो कथन किया गया है और कुछ अंशों में श्रुति-विरोधी शास्त्रों में सेश्वर न्याय एवं योग शास्त्रों का भी कथन है । हाँ, सांख्य-सूत्रों के भाष्यकार **विज्ञान भिक्षु पराशर** के उद्‌धृत वचन का उपर्युक्त ही निष्कर्ष निकालते प्रतीत होते हैं (द्रष्टव्य सांख्य-प्रवचन-भाष्य की अवतरणिका) ।

यहाँ यह तथ्य अवधेय है कि कूर्मादि पुराणों तथा पराशर आदि समस्त उपपुराणों का समय बहुत बाद का होने के कारण ये कथन बौद्ध धर्म एवं दर्शन से प्रभावित निरीश्वर सांख्य के विषय में किये गये प्रतीत होते हैं । अतः पूर्व की गई स्थापना में इन कथनों से किसी प्रकार का व्याघात नहीं उपस्थित होता । अब जहाँ तक सांख्य के मूलतः एवं मुख्यतः ईश्वरवादी होने, एवं परवर्ती समय में बौद्धधर्म एवं दर्शन से प्रभावित होकर अनीश्वरवादी, निरीश्वर अथवा नास्तिक होने का प्रश्न है, इसकी विशेष मीमांसा तो आगे ईश्वर के प्रकरण में की जायगी किन्तु अत्यन्त संक्षेप में इसके विषय दो-चार बातें कह देना अप्रासङ्गिक न होगा ।

सांख्य प्रवचन सूत्र या **सांख्य-षडध्यायी** के **कपिल**-कृत अतएव मौलिक प्राचीन सूत्र-कृति होने के विषय में विद्वानों में बहुत विवाद आज भी है यद्यपि **पं० उदयवीर शास्त्री** ने इसे कपिल-कृत एवं प्राचीनतम मौलिक-कृति सिद्ध करने

का पृथक प्रयत्न कियां है । इसलिये प्रकृति के अधिष्ठाता एवं नियन्ता रूप में ईश्वर या ब्रह्म को जिन सूत्रों (१ ।६१,३ ।५६-५७,५ ।२-१२) में मान्यता दी गई है, उनका यहाँ उद्धरण एवं विवेचन न करके अन्य अविवादित सम्बद्ध सन्दर्भ संक्षेप में उद्धृत किये जा रहे हैं । सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तो प्राचीनतम आचार्य **कपिल महर्षि** के प्रशिष्य **पञ्चशिख** के दो सन्दर्भ हैं जिनसे स्पष्टत: ईश्वर की सत्ता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । इनमें से एक सन्दर्भ है—**पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते** । दूसरा सन्दर्भ है—**महदादिविशेषान्तः सर्गो बुद्धिपूर्वकत्वात्** - - - - - - । एवं तस्माद् ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नः- - - - । इन दोनो ही सन्दर्भों से यह तथ्य उजागर होता है कि आचार्य **पञ्चशिख** जगत् की सृष्टि में प्रधान अर्थात् प्रकृति को स्वतन्त्र न मान कर पुरुषाधीन, पुरुषाधिष्ठित, पुरुष-प्रेरित मानते थे । यह तो स्पष्ट ही है कि प्रकृति का नियामक या अधिष्ठाता भोक्ता एवं अल्पज्ञ जीव-पुरुष न होकर सर्वज्ञ, अभोक्ता परम पुरुष ईश्वर ही होगा । दूसरे सन्दर्भ से यह बात स्पष्ट भी हो जाती है, क्योंकि उसमें 'पुरुष' के स्थान में 'ब्रह्म' शब्द प्रयुक्त है । इस सन्दर्भ के पूर्व भाग में यह बात कही गई है कि महत् से लेकर पञ्च महाभूतों तक की सृष्टि बुद्धिपूर्वक होती है । इसी से यह स्पष्ट हो गया कि आचार्य **पञ्चशिख** के अनुसार सृष्टि केवल प्रकृति का कार्य नहीं हो सकती क्योंकि वह बुद्धिपूर्वक होती है, और बुद्धिचेतन का धर्म है, अचेतन का नहीं । सन्दर्भ के उत्तर भाग में **ब्रह्मणोऽभिध्यानादुत्पन्नः** कहने से और भी स्पष्ट हो गया कि वह बुद्धि जिसका सृष्टि होने में साहाय्य या सहयोग कहा गया था, वह ब्रह्म-कृतबुद्धि है । उसे ही उत्तर भाग में अभिध्यान जो 'ईक्षण' नाम से *ऐतरेय, छान्दोग्यादि* उपनिषदों में कथित है, कहा गया । ब्रह्म के अभिध्यान या ईक्षण अर्थात् सङ्कल्प से प्रेरित प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, यह सिद्धान्त आचार्य **पञ्चशिख** के इन दोनों सन्दर्भों के आधार पर प्रतिष्ठित होता है । **पञ्चशिख** के गुरु आचार्य **आसुरि** महर्षि **कपिल** के साक्षात् शिष्य थे । अत: **आसुरि** के एकमात्र उद्धरण जो ईश्वर-विषयक नहीं है, के प्राप्त होने एवं सांख्य प्रवचन सूत्र के कर्तृव्य के विवादास्पद होने के बावजूद यह कहना सत्य से दूर नहीं

होना चाहिये कि महर्षि **कपिल** एवं **आचार्य** आसुरि भी ईश्वरवादी एवं आस्तिक थे तथा उनके द्वारा आरब्ध एवं उपदिष्ट सांख्य शास्त्र ईश्वरवादी दर्शन था अनीश्वरवादी नहीं। सांख्य की मुख्य विचारधारा अपने मौलिक रूप में सेश्वर थी, निरीश्वर नहीं।

हाँ, सांख्य के एक प्रमुख आचार्य अवश्य ही इस मूलधारा से हटकर अलग होकर प्रकृति-कृत सृष्टि में किसी चेतन के नियामकत्व या प्रेरकत्व की अपेक्षा नहीं स्वीकार की, उसको नकारा। वह आचार्य **वार्षगण्य** थे। उनका एक सन्दर्भ इस प्रकार है—**प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्यमाणाऽऽदिसर्गे वर्तते**। इसका अर्थ यह है कि आदि सर्ग में प्रधान की प्रवृत्ति अप्रत्यय अर्थात् चेतन-निरपेक्ष होती है। 'प्रत्यय' अर्थात् ईक्षण, अभिध्यान या ज्ञान। प्रस्तुत प्रसंग में उसे करने वाले चेतन तत्त्व से तात्पर्य है। प्रधान अपनी प्रवृत्ति या सृष्टि-क्रिया के लिये चेतन पुरुष की कोई अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार प्रधान आदि सर्ग से ही अपनी प्रवृत्ति होती है, ऐसे ही (अचेतन) प्रधान की प्रवृत्ति होती है। इससे यह भाव ध्वनित होता है कि **वार्षगण्य** स्वतन्त्र अचेतन प्रधान में सृष्टि की प्रवृत्ति या क्रिया स्वीकार करता है। **वार्षगण्य** ने इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अपने सन्दर्भ में 'शरीर' पद के विशेषण के रूप में 'अचेतन' पद का साक्षात् निर्देश किया है, जो उनके मत से अचेतन प्रधान की स्वतन्त्र अर्थात् चेतन-निरपेक्ष प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है। यह दृष्टान्त **वार्षगण्य** के विचार की कहाँ तक पुष्टि करता है, इसके विवेचन की आवश्यकता नहीं। फिर भी इतना कह देना अप्रासङ्गिक या अनुपयुक्त न होगा कि स्त्री और पुरुष के शरीर एक दूसरे के उद्देश्य से तभी प्रवृत्त देखे जाते हैं जब वे चेतन से अधिष्ठित हों। एक-दूसरे के प्रति आकर्षण की स्थिति किन्हीं विशेष भावनाओं पर आधारित होती है जो चेतनाधिष्ठित शरीर में ही सम्भव है।

वैदिक मर्यादाओं के अधः पतन काल में आविर्भूत **बुद्ध** ने वैदिक यज्ञादि को हिंसामय देखकर जब उसके प्रति विद्रोह करते हुये **अहिंसा परमो धर्मः** का नारा जनता को दिया, तब जनता में ईश्वर-कृत वेदों के यज्ञयागादि कर्मकाण्ड के विरुद्ध अहिंसा में श्रद्धा स्थिर करने के भाव से उन्हें वेदों और उनके कर्ता ईश्वर की भी

उपेक्षा करनी पड़ी । **बुद्ध** के समय के पूर्व से सांख्य दर्शन विद्वत्समाज में प्रतिष्ठित एवं समादृत था । **बुद्ध** के समय में भी वह अपने समुज्ज्वल रूप में छाया था । इतिहास साक्षी है कि **बुद्ध** ने सांख्याचार्य **आराडकलाम** से सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया था । यद्यपि वे अन्ततः उससे पूर्ण प्रभावित नहीं हुये, फिर भी ईश्वर-विषयक भावना की उपेक्षा के लिये उन्हें अपने पूर्ववर्ती सांख्याचार्य **वार्षगण्य** के विचारों में आधार मिल गया, जिसका बौद्धों द्वारा शताब्दियों तक प्रचार होने से पूरे सांख्य पर उसी की एकदेशीय गौण विचारधारा निरीश्वरवाद—दृढ़ रूप से आरोपित हो गई । फलतः कपिलोपज्ञ सम्पूर्ण सांख्य ही बौद्धों के विचारों एवं प्रचारों से प्रभावित होकर सदा-सदा के लिये नास्तिक, अनीश्वरवादी दर्शन हो गया ।

यद्यपि **श्रीयुत बाल गङ्गाधर तिलक** का भी यही मत है कि सांख्य दर्शन मूलतः श्रुतियों से ही विकसित हुआ, जैसा कि अगले उद्धरण से स्पष्ट है, तथापि उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि तिलक जी के मत से सांख्य मूलतः ईश्वरवादी दर्शन था या निरीश्वरवादी । उनके कथन का सारांश यह है कि सम्भवतः प्राचीन वेदान्त[१] के सिद्धान्तों में ही **कपिलाचार्य** ने अपने मत के अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके सांख्य शास्त्र की उपपत्ति कर दी है । उन्होंने *गीतारहस्य* के "कापिल सांख्य-शास्त्र" नामक सप्तम प्रकरण में पृ० १५६-५७ पर इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—"यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वेदान्त और सांख्य के जो सिद्धांत आपस में मिलते-जुलते हैं, उन्हें पहले किसने निकाला था, वेदान्तियों ने या सांख्यवादियों ने ? इस प्रश्न का उत्तर तीन प्रकार से दिया जा सकता है । पहला यह कि शायद उपनिषद् (वेदान्त) और सांख्य दोनों की वृद्धि, दो सगे भाइयों के समान साथ ही साथ हुई हो; और उपनिषदों में जो सिद्धान्त सांख्यों के मतों के समान दीख पड़ते हैं, उन्हें उपनिषत्कारों ने स्वतन्त्र रीति से खोज निकाला हो । दूसरा यह कि कदाचित् कुछ सिद्धान्त सांख्य शास्त्र से लेकर वेदान्तियों ने उन्हें वेदान्त के

---

१. यह शब्द तिलक जी ने उपनिषद् के लिए ही प्रयुक्त किया है, परवर्ती बादरायण-कृत वेदान्त सूत्र आदि के लिए नहीं । आगामी उद्धरण की अन्तिम पंक्ति से यह बात स्पष्ट है ।

अनुकूल स्वरूप दे दिया हो । तीसरा यह कि कदाचित् प्राचीन वेदान्त के सिद्धान्तों में ही **कपिलाचार्य** ने अपने मत के अनुसार कुछ परिवर्तन और सुधार करके सांख्य शास्त्र की उपपत्ति कर दी हो । इन तीनों में से तीसरी बात ही अधिक विश्वसनीय ज्ञात होती हैं; क्योंकि यद्यपि वेदान्त और सांख्य दोनों बहुत प्राचीन हैं, तथापि उनमें वेदान्त या उपनिषद् सांख्य से भी अधिक प्राचीन हैं ।"

जैसा अभी ऊपर कह आए हैं, **तिलक जी** के शब्दों से यह बात स्पष्ट नहीं होती कि प्राचीन वेदान्त के सिद्धान्तों में अपने मत के अनुसार अपेक्षित परिवर्तन करके **कपिलाचार्य** ने जिस मौलिक सांख्य दर्शन की उपपत्ति की, उसमें ईश्वर के लिए स्थान था या नहीं । हो सकता है कि यह परिवर्तन प्रकृति-पुरुष द्वैत तक ही सीमित रहा हो अथवा यह भी हो सकता है कि श्रुति-प्रतिपादित ईश्वरवाद में भी परिवर्तन करके **कपिल देव** ने निरीश्वरवाद का प्रतिपादन किया हो ।

तिलक जी के शब्दों से यह भी बात स्पष्ट नहीं है कि प्राचीन उपनिषदों से सांख्य शास्त्र की उपपत्ति **कपिल मुनि** ने कितने समय बाद की । यह काल-व्यवधान अल्प भी हो सकता है, अधिक भी । यद्यपि *श्वेताश्वतर* में 'सांख्य', 'कपिल' आदि नाम अवश्य आये हुए हैं, तथापि भाष्यकार **शंकराचार्य,** तथा उनका अनुसरण करते हुए **प्रो० रानाडे, डा० कीथ** इत्यादि विद्वान् इन्हें सांख्य-शास्त्र और उसके प्रवर्तक **कपिल मुनि** के लिए प्रयुक्त नहीं मानते । परन्तु इस सम्बन्ध में अपनी तो दृढ़ धारणा यही है कि **कठ** में आए हुए अव्यक्त, महत् आदि शब्द अवश्य ही सांख्य शास्त्र से सम्बद्ध हैं तथा *श्वेताश्वतर* के सांख्य, कपिल आदि शब्द भी **सांख्य** दर्शन एवं उसके प्रवर्तक **कपिल मुनि** के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं । फलत: *कठ* और *श्वेताश्वतर* इत्यादि प्राचीन उपनिषदों के पूर्व सांख्य दर्शन अवश्य ही एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित हो चुका था । और इन उपनिषदों की शब्दावली तथा विचार, दोनों ही न्यूनाधिक रूप में सांख्य से प्रभावित हैं और बदले में दोनों ने सांख्य को भी थोड़ा-बहुत अवश्य ही प्रभावित किया होगा । इस सब पर सविस्तर विचार अगले अध्याय में होगा । परन्तु निष्कर्ष रूप में यहाँ इतना कह देना अनुचित न होगा कि चूंकि *कठोपनिषद्* में सांख्य के अव्यक्त, महत् इत्यादि तत्त्वों का क्रम

कथित है, तथा *श्वेताश्वतर* में सांख्य, कपिल आदि का स्पष्ट निर्देश है, एवं चूंकि अत्यन्त प्राचीन बृहदारण्यक तथा *छान्दोग्य* में सांख्य के विचार सूत्र रूप में सूक्ष्मतया मिलते हैं, अत: *कपिल मुनि* तथा उनके सांख्य शास्त्र का काल अत्यन्त प्राचीन तथा प्राचीन उपनिषदों के सन्धि-काल में होना चाहिए।

प्रो० जैकोबी भी सांख्य दर्शन की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन तथा प्राचीन उपनिषदों के मध्यकाल में मानते हैं। यह काल उनके मत से *महाभारत* एवं बौद्ध धर्म के उद्‌भव से पूर्व का है। **प्रो० जैकोबी** के अनुसार बौद्धधर्म-गत बारह हेतुओं की संहिता या सन्तान सांख्य दर्शन की परिणाम-परम्परा की स्पष्ट प्रतिच्छाया है। उनका कथन है कि "महाभारत में सांख्य एवं योग के सनातन मार्ग कहे जाने से यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है कि महाभारत, जो ई० सन् के प्रारम्भ के बाद का नहीं हो सकता, के काल में सांख्य और योग मत बहुत प्राचीन हो चुके थे, एवं बुद्ध के समय में सारा वातावरण सांख्य के विचारों से परिपूर्ण था। इस प्रकार उनसे प्रभावित होकर ही बुद्ध ने कारण-कार्य के विषय में यह सिद्धान्त निकाला जिससे सांख्य तथा स्वयं उनके अपने मत में भी प्रधानतया प्रतिपादित जीवन-दु:खों के उद्‌भावक हेतुओं की सन्तोषप्रद व्याख्या की जा सके।" बौद्ध धर्म को सांख्य दर्शन से परवर्ती एवं उससे प्रभावित हुआ मानने में **प्रो० जैकोबी डा० गार्वे** के ही समकक्ष हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ Sankhya Philosophy में तथा सांख्य-प्रवचन सूत्रों की स्व-सम्पादित *अनिरुद्ध-वृत्ति* की भूमिका में भी इस मत का सुदृढ़ शब्दों में प्रतिपादित किया है। **डा० गार्वे** से भी पूर्व **प्रो० वेबर** ने अपना यही मत प्रकट किया था, जिसके समर्थक तथ्यों के सविस्तर प्रतिपादन का प्रस्ताव करते हुए **डा० गार्वे** ने पूर्वोक्त भूमिका में पृ० २ पर इस प्रकार लिखा है:—

Prof. Webr, too who regards the Sankhya philosophy as the oldest of the existing systems and Buddhism as having been orignalty only a form of the Sankhya doctrine (Hist. of Indian Literature, translated by Man and Zachariae, 235 sec., 165), will, I suppose,

not think it superfluous to adduce further arguments for the pre-Buddhistic age of the Sankhya system and for Buddha's dependence on the same."

इस प्रकार स्पष्ट है कि **वेवर, गार्वे** तथा **जैकोबी**, तीनों ही सांख्य की उत्पत्ति बौद्ध धर्म के उद्भव से पूर्व काल की मानते हैं। इसके पूर्व यह भी स्पष्ट कर आए हैं कि **प्रो० गार्वे** सांख्य दर्शन को उपनिषदों के विज्ञानाद्वैतवाद के विरुद्ध उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ मानते हैं।[१] यह तो सर्व-विदित ही है कि नित्य-विज्ञानाद्वैत का सिद्धान्त सर्व-प्रथम सर्वाधिक प्राचीन बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों में प्रतिपादित हुआ है। इस प्रकार **प्रो० गार्वे** के मत से भी सांख्य दर्शन का प्रादुर्भाव प्राचीनतम उपनिषदों के बाद और बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व हुआ। सामान्यतः विद्वानों एवं विचारकों की ऐसी धारणा है और यह ठीक ही है कि बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व प्रायेण सभी प्राचीन उपनिषदें बन चुकी थीं। अतः सभी प्रकार से हम उसी पूर्व निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अत्यन्त प्राचीन एवं प्राचीन उपनिषदों के मध्य काल में सांख्य दर्शन का प्रादुर्भाव या जन्म होना चाहिए।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि प्राचीनतम एवं प्राचीन उपनिषदों का मध्य काल, कालगणना के अनुसार क्या हो सकता है ? इस प्रश्न पर अनेक शताब्दियों में घुसना अप्रासङ्गिक न होने पर भी अनुपादेय या अनुपयोगी, अतएव निरर्थक भी हैं, क्योंकि इस विषय में अन्तिम निर्णय पर पहुंचना दुस्साध्य होने के साथ ही

---

१. द्रष्टव्य, प्रो॰ गार्वे की अनिरुद्ध-वृत्ति की भूमिका, पृ॰ १९–there can be doubt in my opinion that the idealistic doctrine of the Upanishads regarding Brahman-Atman...is an older product of philosophical thinking than the leading ideas of the other systems. Apparently the foundation of the Sankhya philosophy is to be sought in a reaction against the propagation of the consistent idealism which began to be proclaimed with enthusiasm.

प्रभूत-स्थान-साध्य भी है और यहाँ उतना स्थान देना वस्तुतः इसे एक पृथक् एवं अप्रासङ्गिक विषय बना देने के तुल्य होगा। अतएव यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जो पाश्चात्य एवं पौर्वात्य विद्वान् अत्यन्त प्राचीन उपनिषदों का समय उनकी भाषा आदि के आधार पर **यास्क** अथवा **पाणिनि** के समय के आस-पास रखते हैं, वे ठीक नहीं करते। प्राचीनतम *बृहदारण्यक* एवं *छान्दोग्य* उपनिषदों का समय इससे कहीं अधिक प्राचीन हैं। इनमें चित्रित तात्कालिक भारतीय समाज एवं संस्कृति तथा राज-कुलों एवं ब्राह्मण-कुलों के विषय में वर्तमान अनेक उलल्लेखों के आधार पर जब कभी तत्काल-सम्बन्धी भारतीय इतिहास लिखा जायगा, तब इस रहस्य का उद्घाटन होगा। *सांख्य दर्शन का इतिहास* नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के लेखक **पं० उदयवीर शास्त्री** महोदय ने सांख्य शास्त्र के मूल प्रवर्तक आदि-विद्वान् **कपिल मुनि** का काल भारतीय परम्पराओं के अनुसार महाराज सगर के काल को ही माना है और यह वर्तमान कल्प के सत्य युग का अन्तिम काल था। इस प्रकार कपिल मुनि से उद्भूत सांख्य-शास्त्र सत्य युग के अन्त का है। यह काल **पं० उदयवीर जी** के अनुसार प्राचीनतम उपनिषदों के पूर्व का है या पश्चात् का, इसका पता नहीं चलता; क्योंकि इस सम्बन्ध में उन्होंने उपनिषदों एवं उनके काल की कोई चर्चा ही नहीं की है।

प्राचीन उपनिषदों में सांख्य के मूल तत्त्व

(१) सांख्य के आविर्भाव-काल के विषय में जैकोबी, ग्राबें तथा कीथ के मत

गत अध्याय में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि सांख्य दर्शन की परम्परा *भागवत, महाभारत* इत्यादि से पर्याप्त प्राचीन हैं । उसमें यह भी कह आये हैं कि इस सांख्य का मूल अत्यन्त प्राचीन उपनिषदों में प्राप्त होता है एवं अनेक तत्त्वदर्शी मनीषियों तथा विचारकों के विविध अनुभवों—दर्शनों—के समुदाय-भूत इन उपनिषदों से विकसित अनेक दर्शन-शास्त्रों में सांख्य भी न केवल एक था, अपितु अत्यन्त विशिष्ट प्रकार का दर्शन-शास्त्र था । प्रस्तुत अध्याय में इसी द्वितीय कथन या मान्यता की विशेष परीक्षा एवं जाँच-पड़ताल करनी है ।

गत अध्याय के अन्तिम पृष्ठों में कहा जा चुका है कि *बृहदारण्यक* एवं *छान्दोग्य* उपलब्ध उपनिषदों में सर्वाधिक प्राचीन हैं तथा इनमें भी सांख्य दर्शन के मूल सिद्धान्तों का कुछ-कुछ आभास प्राप्त होता है । यह अन्य बात है कि सांख्य की परवर्ती विकसित अवस्था की विशिष्टतायें इन उपनिषदों में नहीं मिलतीं और इनके स्थान में केवल वे ही सिद्धान्त प्राप्त होते हैं जो वेदान्त और सांख्य सम्प्रदायों में आरम्भ से ही समान रहे हैं । जो लोग इस मत के पक्ष में हैं कि सांख्य वैदिक परम्परा का अनुयायी नहीं है—वह श्रुति के उपनिषद् रूप अथवा प्रकार पर आधारित नहीं है, उससे नहीं विकसित हुआ है । वे लोग इन दोनों सम्प्रदायों के समान सिद्धान्तों को, जो *छान्दोग्य* एवं *बृहदारण्यक* जैसे प्राचीनतम उपनिषदों में मिलते हैं, केवल वेदान्त के ही सिद्धान्त मानने के पक्ष में हैं । ऐसे लोगों की दृष्टि में इन प्राचीनतम उपनिषदों में सांख्य दर्शन के सिद्धान्त सूक्ष्मतम रूप में भी नहीं

मिलते । *डा० कीथ* का मत है—'उपनिषदों में सांख्य दर्शन या सम्प्रदाय का किसी प्रकार का वास्तविक साक्ष्य पाना असम्भव है । फिर भी उनमें यत्र-तत्र ऐसे बीज मिलते हैं जिनसे उन विचारों का विकास लक्षित होता है । जो आगे चल कर सांख्य सम्प्रदाय के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप में रक्खे गए । किन्तु इन बिखरे हुए संकेतों में इस बात का लक्षण पाना असम्भव है कि उस समय सांख्य दर्शन के निर्माण या व्यवस्था की प्रक्रिया चल रही थी । **शङ्कराचार्य** के वेदान्त की भाँति अथवा **बादरायण** के वेदान्त की भाँति ही सांख्य भी एक ऐसा सम्प्रदाय या दर्शन है जो कि उपनिषदों से ही उद्‌भूत एवं विकसित हुआ है । परन्तु इन दोनों से ही यह दर्शन इस अर्थ में भिन्न है कि यह मूलत: और तत्त्वत: भी उपनिषदों की शिक्षा के बहुत आगे चला जाता है ।'[१] इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट है कि **डा० कीथ** सांख्य दर्शन के व्यवस्थित विचारों का उपनिषदों की शिक्षा के साथ बहुत दूर का ही अन्वय या सम्बन्ध मानते हैं । यह दूरी काल की दृष्टि से अनेक शताब्दियों की है, एक-दो की नहीं । इन्हीं अनेक शताब्दियों की दीर्घकालीन लम्बी यात्री समाप्त करने के अनन्तर ही प्राचीन उपनिषदों के विचार मौलिक एवं तात्त्विक भेद के साथ सांख्य दर्शन में स्थान पा सके ।

गत अध्याय में कह आये हैं कि **गार्वे** एवं **जैकोबी,** दोनों ही सांख्य-दर्शन को बौद्ध-धर्म के उद्‌भव से पूर्व का मानते हैं । इसके लिए **गार्वे** महोदय यह तर्क उपस्थित करते हैं कि बुद्ध का तृष्णा, ज्ञान, संयम, सत्य आदि अत्यन्त सूक्ष्म विषयों को भी भेदों अथवा प्रकारों में बाँट करके ही समझाना संख्या या गणना के प्रति उनके मोह या पक्षपात का द्योतक है । 'सांख्य', जिसका नाम ही 'संख्या' या परिगणन की प्रवृत्ति के कारण पड़ा, में भी बिल्कुल यही विशिष्टता या विलक्षणता दीख पड़ती है । *तत्त्वसमास-सूत्र* जैसे अत्यन्त लघुकाय ग्रन्थ के पचीस सूत्रों में से केवल आठ में नहीं, शेष सभी में संख्या द्वारा ही तत्त्वों का उपदेश किया गया है । कारिकाओं एवं सांख्य-प्रवचन सूत्र में भी त्रिविध दु:ख, चतुर्विध वैराग्य, पचास

१. द्रष्टव्य Sankhya System, पृ० ७ ।

प्रकार का प्रत्यय-सर्ग या बौद्धिक सृष्टि [जिसमें पाँच प्रकार की अविद्या, अट्ठाइस प्रकार की अशक्तियाँ, नौ प्रकार की तुष्टियाँ तथा आठ प्रकार की सिद्धियाँ सम्मिलित हैं] तथा पञ्चविध अविद्या के अवान्तर भेदों को लेकर कुल बासठ प्रकार (अष्टविध तमस् तथा मोह, दशविध महामोह, तथा अष्टादश-विध तामिस्र एवं अन्धतामिस्र) की अविद्यायें कहीं गई हैं। दोनों सम्प्रदायों का इस प्रकार का संख्या विषयक अत्यधिक साम्य तत्त्व-गणना के प्रति भारतीयों का सामान्य मोह या पक्षपात कह कर नहीं टाला जा सकता, बल्कि इसे वैदुषिक विचार की एक विशिष्ट प्रणाली या पद्धति के रूप में स्वीकारकरना होगा। अब यदि यह प्रशन उठाया जाय कि दोनों में से किस ने किससे यह विशिष्ट प्रणाली प्राप्त की तो उत्तर में निस्सन्देह यही कहना पड़ेगा कि **बुद्ध** ने **कपिल** से। समस्त आस्तिक दर्शनों में सांख्य का ही त्रिविध दु:ख को विशेष बल देकर प्रतिपादित करना तथा उसी से *सांख्य-प्रवचन-सूत्र* तथा *सांख्यकारिकाओं*, दोनों का आरम्भ होना जबकि अन्य आस्तिक दर्शन-ग्रन्थ किसी न किसी मङ्गल-वाचक शब्द से आरम्भ होते हैं, तथा बुद्ध का भी अपनी अनेक उक्तियों द्वारा उसी को जीवन-सत्य के रूप में प्रतिपादित करना तथा उससे छुटकारा पाने के लिए सर्वथा प्रयत्न करने को ही वास्तविक पुरूषार्थ कहना इसी बात की ओर संकेत करते हैं कि **बुद्ध** अपनी दु:ख-धारण में **कपिल** के सांख्य से ही प्रभावित थे। वैदिक यज्ञों को उनमें होने वाली हिंसा के कारण अविशुद्ध साधन तथा उनसे उत्पन्न होने वाले स्वर्गादि फलों को क्षय तथा न्यूनाधिक्य दोष से युक्त बताकर सांख्यचार्यों [१] ने श्रेय:-साधन के रूप में यज्ञों का महत्त्व घटा दिया, उन्हें गौण बना दिया। **बुद्ध** ने वैदिक यज्ञों के विरुद्ध **अहिंसा परमो धर्मः** का प्रबल प्रचार करके उनका महत्त्व और भी अधिक घटा दिया। सांख्याचार्यों से इस माने में बुद्ध के

---

१. द्रष्यव्य, आचार्य पञ्चशिख का प्रसिद्ध सूत्र "स्यात् स्वल्पः सङ्करः, सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति" आचार्य ईश्वरकृष्ण ने भी बहुत बाद अपनी
"दृष्टवदानुश्रविकः स अनिशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तविज्ञानात्॥"
इत्यादि द्वितीय कारिका में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है।

बहुत आगे जाने से यही बात निस्सन्देह प्रतीत होती है कि बुद्ध अपनी इस यज्ञ-विरोधी भावना में सांख्य से ही प्रभावित थे।

सांख्य दर्शन का जगत् को सत्य कहना तथा बौद्ध धर्म एवं दर्शन का उसी को शून्य कहना उपर्युक्त सत्य के विरुद्ध अवश्य है, परन्तु इस सम्बन्ध में **ओल्डेनवर्ग** का यह मत सर्वथा ठीक है कि बौद्ध धर्म अपने मूल में शून्यवादी नहीं, सद्वादी ही था। **प्रो० गार्वे** ने अपने ग्रन्थ Saṅkhya Philosophy में तथा *अनिरुद्ध वृत्ति* की अपनी भूमिका (पृ० २-१५) में भी यह सब सविस्तर प्रतिपादित किया है। **प्रो० जैकोबी** का मत तो इसके पूर्व प्रथम अध्याय में दे चुके हैं। वे भी सांख्य को बौद्ध से बहुत पूर्व का मानते हैं। दु:ख के प्रत्यय अथवा हेतुओं को ढूंढने में बुद्ध ने जो द्वादश हेतुओं की शृङ्खला खोज निकाली, उसमें **प्रो० जैकोबी** को स्पष्ट सांख्य-प्रभाव दीख पड़ता है। **गार्वे** के मत का खण्डन करते हुए **डा० कीथ** ने अपने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में इस प्रकार लिखा है:—"प्रो० गार्वे के इस तर्क के विरुद्ध सबसे बडा आक्षेप यह है कि महाभारत-काल, जो कि २०० ई० पू० से लेकर २०० ई० सन् के बीच माना जा सकता है, तक सांख्य दर्शन अपने पूर्ण एवं विकसित रूप में स्थित हो चुका था, इस तथ्य या सत्य को सिद्ध करने के लिए भी नहीं या वास्तविक प्रमाण नहीं मिलता; क्योंकि जैसा पहले देखा जा चुका है, सांख्य के बौद्ध धर्म के पूर्ववर्ती सिद्ध होने के जो भी प्रमाण या साक्ष्य प्राप्त होते हैं, वे प्रतीति-जनक या निश्चयात्मक नहीं कहे जा सकते। इसके अतिरिक्त इस धारणा के लिए भी वस्तुत: कोई पर्याप्त आधार नहीं मिलता कि सांख्य दर्शन किसी विशिष्ट मस्तिष्क की मौलिक एवं साहसपूर्ण उपज है। इसके विपरीत सूक्ष्म पर्यालोचन से यह बात देखी जा सकती है कि सांख्य दर्शन औपनिषद ब्रह्मवाद मे व्यक्त हुए सिद्धान्तों का बहुत कुछ अनुपपन्न या अयुक्त समाहार अथवा व्यवस्थीकरण मात्र है। इसके अतिरिक्त औपनिषद दर्शन से सांख्य दर्शन के द्रुत विकास के सिद्धान्त के विरुद्ध क्रमिक विकास का सिद्धान्त माना जाना चाहिए, जो कि प्रथम की अपेक्षा कहीं अधिक सम्भव प्रतीत होता है। इस दर्शन के तत्त्वों को परवर्ती *कठ* एवं *श्वेताश्वतर* उपनिषदों में देखा जा सकता है, जिनमें सांख्य-दर्शन के ढंग का तत्त्वों

के विकास-सिद्धान्त के पूर्व रूप या लक्षण-स्पष्ट प्राप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त एक और भी बात यह है कि यदि पूर्ण व्यवस्थित सांख्य दर्शन *महाभारत* के पूर्व वर्तमान था, जैसा कि माना जाता है, तो सचमुच यह बड़ी विलक्षण बात लगती है कि उसमें पञ्च तन्मात्रों के सिद्धान्त की, जिसका सांख्य दर्शन में स्पष्ट प्रतिपादन है और जो उस दर्शन का विशिष्ट-सिद्धान्त है, सर्वथा उपेक्षा ही कर दी जाय, उसकी चर्चा तक न की जाय ।"

डा० कीथ के इन दोनों ही उद्धरणों से यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि उनके मत से सांख्य 'दर्शन' या 'शास्त्र' के रूप में बहुत बाद का है, अर्थात् २०० ई० से भी बाद का है, भले ही उसके पूर्व लक्षण परवर्ती *कठ* एवं *श्वेताश्वतर* उपनिषदों में प्राप्त होते हैं । तात्पर्य यह है कि प्रो० कीथ स्वमतानुसार ई० चतुर्थ शताब्दी में होने वाले **ईश्वरकृष्ण** की *सांख्यकारिकाओं* के classical सांख्य को ही व्यवस्थित सांख्य अर्थात् सांख्य 'दर्शन' मानते हैं ।

(२) डा० कीथ के मत की पर्यालोचना

प्रो० कीथ के ये विचार कई कारणों से युक्त अथवा संगत नहीं जान पड़ते । सर्वप्रथम तो उनका यही विचार असंगत लगता है कि *महाभारत* का समय २०० ई० पूर्व से लेकर २०० ई० तक के मध्य हो सकता है । महाभारत के काल का इस स्थल में निर्धारण तो विषयान्तर होगा परन्तु कीथ महोदय के विचार के विरुद्ध इतना अवश्य कहना है कि जिस महाभारत के लेखक का उल्लेख[१] अन्यान्य आचार्यों के साथ पञ्चम शताब्दी ई० पू०[२] के *आश्वलायन-गृह्यसूत्र* में आया है, तथा जिस महाभारत के ययाति-उपाख्यान का एक श्लोक तथा उसके गीता-अंश का

१. द्रष्टव्य आश्वलायन-गृह्यसूत्र ३/३:—
सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैलसूत्रभाष्यभारत- महाभारतधर्माचार्याः ॥

२. प्रायः सभी पौर्वात्य विद्वानों के साथ पाश्चात्य सिद्धान्तों का भी मत है कि आश्वलायन-गृह्यसूत्र का समय ई० पू० पञ्चम शताब्दी से बाद का नहीं होगा ।

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥"

इत्यादि प्रसिद्ध श्लोक पञ्चम शताब्दी ई० पू० के ही आस-पास के *बौधायन-गृह्यसूत्र* में उद्धृत हुआ है, वह २०० ई० पू० से लेकर २०० ई० तक के बीच का कैसे कहा जा सकता है ? विद्वानों की यह मान्यता अब निश्चित हो चली है कि सम्पूर्ण महाभारत, जो आज एक लाख श्लोकों का मिलता है और जिसे पाँचवीं-छठी ई० शताब्दी के लेखों में *शतसाहस्री संहिता*[१] कह कर उद्धृत किया गया है, एक साथ अथवा एक ही बार में नहीं लिखा गया है । इसका क्रमिक विकास हुआ है और इस क्रमिक विकास के तीन निश्चित सोपान हैं—पहला वह जब यह बिशुद्ध इतिहास-ग्रन्थ था और **जय**[२] नाम से प्रसिद्ध था; दूसरा वह जब इसे वेदव्यास जी के शिष्य **वैशम्पायन** ने उनसे पढ़ कर **जनमेजय** को पढ़ाया; तब इसमें आज के अनेक आख्यान तथा उपाख्यान नहीं जुड़े थे और यह *चतुर्विंशति-साहस्री संहिता* ही था तथा *भारत* नाम से प्रसिद्ध था;[३] तीसरा वह जब यह अनेक आख्यानों तथा उपाख्यानों के योग से विपुल आकार धारण करके लक्ष-श्लोकात्मक धर्म-संहिता बन गया और *महाभारत* नाम से आज तक उसी रूप में उपलब्ध है ।

अठारह अध्यायों में उपलब्ध *गीता* इसी तृतीय सोपान अर्थात् *महाभारत* में आकर सम्पूर्ण हुई होगी । प्रथम अध्याय में उद्धृत सांख्य-प्रतिपादक अनेक संवादात्मक आख्यान भी इसी विस्तृत *महाभारत* के अंश हैं । इसी *महाभारत* के कर्ता आचार्य का उल्लेख धर्माचार्य के रूप में पूर्वोक्त *आश्वलायन-गृह्यसूत्र* में

---

१. द्रष्टव्य, गुप्त-संवत् २१४ का खोह-स्थित ताम्र-लेखः—उक्तं च महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेन व्यासेन ।

२. द्रष्टव्य, महाभारत का मङ्गल-श्लोकः—
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

३. चतुर्विंशतिसाहस्री चक्रे भारतसंहिताम् ।
उपाख्यानं विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ॥

हुआ है और जब यह सूत्र-ग्रन्थ पञ्चम शताब्दी ई० पू० का है तो पूर्ण विकसित *महाभारत* का काल उससे कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व का होगा, क्योंकि *आश्वलायन-गृह्यसूत्र* जैसे प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ में महाभारतकार का धर्माचार्य के रूप में उल्लेख तथा *बोधायन-गृह्यसूत्र* में उसके किसी श्लोक का उद्धरण बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है, जिसका होना तभी सम्भव हो सकता है जब उसके समय तक *महाभारत* प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्धि पा चुका हो, और इसके लिए दो सौ वर्षों से क्या कम समय चाहिए ? तात्पर्य यह कि वर्तमान *महाभारत* भी षष्ठ शताब्दी ई० पू० से पर्याप्त पूर्व का होना चाहिए । इन तथ्यों से यह बात निश्चित एवं निस्सन्देह रूप से ज्ञात होती है कि *महाभारत* अपने वर्तमान रूप में भी षष्ठ शताब्दी में उद्भूत बौद्ध धर्म से पूर्व का है और उसमें उपलब्ध सांख्य दर्शन का विवरण या वर्णन भी बौद्ध धर्म के आविर्भाव से पर्याप्त पूर्व का है । इस प्रकार **कीथ** महोदय का यह कथन कि २०० ई० पू० से २०० ई० के बीच के *महाभारत* में व्यवस्थित सांख्य दर्शन का कोई वास्तविक प्रमाण या आधार नहीं मिलता, निराधार एवं निर्मूल है । महाभारत में व्यवस्थित सांख्य दर्शन का कोई निश्चित आधार नहीं मिलता, इस कथन का इसके अतिरिक्त और क्या आधार हो सकता है कि उसमें प्राप्त होने वाले सांख्य का सूक्ष्म एवं सांगोपांग विवरण नहीं मिलता जिससे उस काल में इसके विशिष्ट शास्त्र रूप में स्थित होने का पता चले । पर इस निषेधात्मक आधार पर ऐसा कथन करना सर्वथा अनुचित एवं अयुक्त है, क्योंकि *महाभारत* जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ में, जो कि जनसाधारण को अपेक्षाकृत सरल एवं सामान्य भाषा में सुगम-सुबोध एवं दर्शन आदि का ज्ञान देने के उद्देश्य से लिखा गया हो, किसी भी शास्त्र के गूढ़ सिद्धान्तों के गहन एवं सांगोपांग विवेचन की आशा करना एवं उसमें उसे खोजना उस ग्रन्थ के साथ अन्याय करना है । स्वयं *महाभारत* के ही अनेक कथनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके निर्माण का उद्देश्य वेद-विद्या एवं कठिन शास्त्रों के ज्ञान से वञ्चित रहने वाले स्त्री, शूद्र आदि के लिए विशेष रूप से तथा द्विजातियों के लिए भी सामान्य रूप से धर्म एवं दर्शन आदि के ज्ञान का प्रचार करना ही था । ऐसी स्थिति में उसमें सांख्य या अन्य किसी भी

विचार-धारा या सम्प्रदाय के समस्त अंगों का सूक्ष्म विवेचन न मिलने भर से ऐसी कल्पना करना कि वह सम्प्रदाय उसके समय तक विशिष्ट तन्त्र या शास्त्र के रूप में विकसित ही नहीं हुआ था, अनर्गल प्रतीत होता है ।

प्रो० कीथ ने यह भी कहा है कि सांख्य के बौद्ध धर्म से पूर्व का होने में जो प्रमाण या तथ्य मिलते हैं, वे कथमपि निश्चयात्मक अथवा प्रतीतिजनक नहीं है । इस कथन का जो कारण जो उन्होंने दिया है, उसका सारांश यह है कि सांख्य दर्शन और बौद्ध धर्म में कोई वास्तविक साम्य या सादृश्य नहीं है । जो कुछ साम्य आपाततः प्रतीत भी होता है, वह उनके सिद्धान्तों में दोनों सम्प्रदायों के बहुत भिन्न या विषम होने के कारण कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता । जैसे सांख्य नित्यात्मवाद तथा यथार्थवाद का प्रबल पोषक है, परन्तु इसके विपरीत बौद्ध धर्म नैरात्म्यवाद तथा अवस्तुवाद आदि का पोषक है । सांख्य शास्त्र की परिणाम-परम्परा के साथ भी बौद्ध धर्म के द्वादश प्रत्ययों अथवा हेतुओं के सन्तान का विशेष मेल नहीं मिलता । अतः सांख्य से बौद्ध धर्म के अनेक सिद्धान्त प्रभावित तथा विकसित नहीं कहे जा सकते । **प्रो० कीथ** के इन तर्कों का उत्तर एक प्रकार से **प्रो० गार्वे** के पूर्वोद्धृत उन तर्कों से प्राप्त हो जाता है, जो उन्होंने बौद्ध धर्म पर सांख्य दर्शन का ऋण सिद्ध करने के लिए दिये हैं । वहाँ उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अपने आरम्भ-काल में बौद्ध धर्म न तो नैरात्म्यवादी ही था और न अवस्तुवादी ही । अर्थात् आन्तरिक एवं बाह्य, उभय जगत् की वास्तविक अवस्तुता या शून्यता का सिद्धान्त परवर्ती बौद्ध सम्प्रदाय में विकसित हुआ, भगवान् बुद्ध के शब्दों से कहीं भी इसका आभास नहीं मिलता । प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के प्रो० ओल्डेनवर्ग द्वारा दिए गए विवरण को प्रो० गार्वे ने अपने कथन में प्रमाण बताया है । सांख्य शास्त्र की परिणाम-परम्परा एवं बौद्ध धर्म की द्वादश-हेतु-शृङ्खला में विशेष साम्य न होने का कारण वही प्रतीत होता है जो सामान्यतः इस प्रकार के अन्य सभी स्थलों में होता है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि जब कोई परवर्ती विचार-धारा किसी पूर्ववर्ती विचार-धारा से प्रभावित होती है, उससे कुछ ग्रहण करती है, तो गृहीत अथवा उधार ली गई वस्तु सर्वथा पूर्ववत् नहीं होती । कम से कम उसका वैसा ही होना अनिवार्य नहीं है, किसी विशेष कारण

से कभी वैसी ही हो भी सकती है । सामान्यत: तो रुचि-भेद से अथवा अन्य किन्हीं कारणों से गृहीत वस्तु में भेद ही देखा जाता है । ऐसी वस्तु-स्थिति में बहुत-कुछ सांख्य से गृहीत होने पर भी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का सांख्य सिद्धान्तों के सर्वथा समान होना न केवल अनिवार्य नहीं है, अपितु ऐसा होना अस्वाभाविक ही होता ।

प्रो० कीथ का तीसरा कथन है कि सांख्य दर्शन किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क की एक काल की उपज न होकर औपनिषद सिद्धान्तों से धीरे-धीरे कई शताब्दियों में विकसित हुआ । सांख्य का यह क्रमिक विकास परवर्ती *कठ* और *श्वेताश्वतर* इत्यादि उपनिषदों के बीच देखा जा सकता है । इनमें तत्त्वों के विकास का सिद्धान्त आगे आने वाले सांख्य के ढंग पर ही प्राप्त होता है । परन्तु पूर्ववर्ती *बृहदारण्यक* और *छान्दोग्य* में इस शास्त्र के तत्त्वों का कोई आभास नहीं मिलता । प्रो० कीथ की इन मान्यताओं के विपरीत संक्षेप में पहले कह आये हैं कि *छान्दोग्य* और *बृहदारण्य* में भी सांख्य दर्शन के कुछ मुख्य सिद्धान्त अपने पूर्व रूप में स्पष्ट प्राप्त होते हैं । साथ ही यह भी कह आये हैं कि *कठ* और *श्वेताश्वतर* उपनिषदों के समय तक सांख्य शास्त्र उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो उनमें सांख्य, कपिल आदि नाम से प्राप्त होते । इस प्रकार सांख्य का निर्माण **कपिल मुनि** ने प्राचीनतम उपनिषदों के ही आधार पर *कठ* और *श्वेताश्वतर* के पूर्व ही किया होगा, ऐसी सम्भावना प्रतीत होती है । हाँ, यह बात अवश्य सत्य है कि *श्वेताश्वतर* के 'सांख्य', 'कपिल' आदि शब्दों का सांख्य शास्त्र और उसके प्रवर्तक कपिल मुनि से तात्पर्य है अथवा अन्य किन्हीं से, इस विषय में बड़ी विप्रतिपत्तियाँ हैं । इसी प्रकार *छान्दोग्य* में **तेजोऽबन्न** अर्थात् तेजस् जल और पृथ्वी रूप जो त्रिरूप या त्रिगुणात्मक जगत्-कारण प्रतिपादित है, वह सांख्य प्रतापादित लोहित-शुक्ल-कृष्ण जड़ प्रकृति ही है, अथवा उससे भिन्न, इस विषय में भी विप्रतिपत्ति है । ऐसी स्थिति में जब तक इस विषय का विचार करके किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुंच लिया जाय, तब तक अत्यन्त प्राचीन एवं प्राचीन उपनिषदों में सांख्य शास्त्र के तत्त्वों की उपलब्धि का प्रश्न सुलझा हुआ नहीं माना जा सकता ।

(३) श्वेताश्वतर आदि में सांख्य के उल्लेख

श्वेताश्वतर ६/१२[१] का भाष्य करते हुए आचार्य **शङ्कर** ने इस प्रकार लिखा है:—**सर्वस्य सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं ज्योतिर्मयं मुच्यते सर्वपाशैरविद्या-दिभि:** । भाष्य की इस पंक्ति में 'सांख्य' और 'योग' शब्दों के वाच्यार्थ पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है । परन्तु *ब्रह्मसूत्र* २/१/३ [एतेन योग: प्रत्युक्त] के भाष्य में पहले सांख्य और योग शास्त्रों को श्रौत लिङ्ग से युक्त प्रदर्शित करने के लिए इसी *श्वेताश्वतर* श्रुति की उद्धृत करके फिर उसी बात का खंडन करते हुए उत्तर पक्ष में इस प्रकार लिखा है:—**यत्तु दर्शमुक्तं 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्' इति, वैदिकमेव तत्र ज्ञानं ध्यानं च सांख्ययोगशब्दाभ्यामभिलष्यते प्रत्यासत्तेरि-त्यवगन्तव्यम्** । यहाँ भाष्यकार ने 'सांख्य' शब्द का स्पष्ट ही 'वैदिक ज्ञान' अर्थ लिया है, न कि सांख्य-शास्त्रीय-ज्ञान जिसे वे अवैदिक कहते हैं । **वाचस्पति मिश्र** ने भी *भामती*[२] में इसी अभिप्राय को लेते हुए 'सांख्य' शब्द की इस प्रकार व्युत्पत्ति दी है—**संख्या सम्यग्बुद्धिर्वैदिकी, तया वर्तन्त इति सांख्या:** । भाष्य की स्वकृत टीका *न्याय-निर्णय* में **आनन्दगिरि** ने भी आचार्य **वाचस्पति मिश्र** का ही अक्षरश: अनुसरण किया हैं:— *वैदिकी सम्यग्बुद्धि: संख्या, तया सह वर्तते इति सांख्यम्* । भाष्यकार के अनुयायी होने के कारण *वाचस्पति मिश्र* एवं *आनन्दगिरि* के इन लेखों का कारण स्पष्ट है । परन्तु आचार्य *शङ्कर* के 'सांख्य' शब्द का प्रसिद्ध या रूढ़ 'सांख्य-शास्त्रीय ज्ञान' अर्थ छोड़कर 'वैदिक ज्ञान' अर्थ लेने में क्या उपोद्बलक हो सकता है ? इसका संक्षिप्त उत्तर भाष्य के 'प्रत्यासत्ते:' शब्द में मिलता है । 'प्रत्यासत्ति' शब्द का अर्थ सामीप्य या सन्निधि होता है । 'प्रत्यासत्ते:' कहने का तात्पर्य यह है कि सन्निकृष्ट होने के कारण वैदिक परम्परा के सम्यग् ज्ञान और ध्यान

---

१. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं (भिपन्नं—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य का पाठ) ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै: ॥

२. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य की वाचस्पतिमिश्र-कृत टीका, पृ० ३५४ ।

ही 'सांख्य' आदि पदों के वाच्य हैं।[१]वैदिक ज्ञान और ध्यान कहाँ और कैसे प्रत्यासन्न या प्रकरणस्थ हैं, इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि *श्वेताश्वतर* ६/१३, जिसमें ये दोनों शब्द 'सांख्य' तथा 'योग' आये हुए हैं, के ठीक पूर्व स्थित मन्त्र ६/१२ में कहा गया है कि "जो एक अर्थात् अद्वितीय एवं वशी अर्थात् स्वतन्त्र (देव) बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेक कर देता है, अपने अन्तःकरण में स्थित उसे जो धीर पुरुष देखते हैं, साक्षात् कर लेते हैं, उन्हें ही नित्य सुख प्राप्त होता है, औरों को नहीं।"[२] स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में स्थित दर्शन अर्थात् साक्षात्कार के लिए ही भाष्यकार अगले अन्य में स्थित सांख्य और योग शब्दों को प्रयुक्त मानते हैं। परन्तु इसमें एक कठिनाई यह है कि 'दर्शन' तो एक ही है और सांख्ययोग दो हैं। तब सांख्य और योग, इन दोनों ही शब्दों से एक ही दर्शन का परामर्श हुआ है, यह कैसे माना जा सकता है ? समस्त उपनिषद् का प्रतिपाद्य अथवा प्रकरणस्थ तो सब का एक मात्र कारण ब्रह्म या परमात्मा है, जैसा **किं कारणं ब्रह्म कुत स्म जाताः** (श्वेताश्व० १/१) इत्यादि उपक्रम, तथा, **तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्** (श्वेताश्व० ६/२१) इत्यादि उपसंहार से स्पष्ट है। उपक्रम-मन्त्र में प्रकट की गई ब्रह्म-जिज्ञासा तथा उपसंहार-मन्त्र में प्रकट किए गये ब्रह्म-ज्ञान से यह भी स्पष्ट है कि उसी सर्व-कारण ब्रह्म का ज्ञान ही मानव-जीवन का उद्देश्य या लक्ष्य है जो प्रस्तुत श्रुति में अभीष्ट रूप से प्रतिपादित है।

उपक्रम-मंत्र में प्रकट हुई ब्रह्म-विषयिणी जिज्ञासा के अनन्तर ही तृतीय मन्त्र में **ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिस्वगुणैर्निगूढाम्** इत्यादि कहा गया है। यहाँ भी पूर्वोद्धृत मन्त्र ६/१३ की भाँति परा देवता और उसको सच के कारण रूप में देखने या साक्षात् करने की बात कही गई है। ६/१३ में 'सांख्ययोगाधिगम्यं'

१. द्रष्टव्य आनन्दगिरि की न्यायनिर्णय टीकाः—अतः सन्निकृष्टं सम्यग् ज्ञानं वैदिकं सांख्यादिशब्दितमित्यर्थः।

२. एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

पद आया है, यहाँ 'ध्यानयोगानुगता:' पद आया है। भाष्यकार ने **ध्यानं नाम चित्तैकाग्र्यं तदेव योगो युज्यतेऽनेनेति ध्यातव्य स्वीकारोपाय:, तमनुगता:** इत्यादि अर्थ किया है, जो सर्वथा ठीक ही है। अब यदि ६/१३ के सांख्य-योग के जोड़ में यहाँ भी 'ध्यान और योग' अर्थ किया जाय, तो 'ध्यान' शब्द को 'सांख्य' शब्द का अर्थ सदा ज्ञान ही लिया जाता है, ध्यान नहीं; यह ज्ञान चाहे रूढ़ प्रयोग लेकर 'सांख्याशास्त्रीय विवेक-ज्ञान' माना जाय और चाहे वैदिक ब्रह्म-ज्ञान माना जाय। *गीता* इत्यादि में 'सांख्य' शब्द ज्ञान-मार्ग के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। भाष्यकार ने इसीलिए 'ध्यानं चित्तैकाग्र्यं, तदेव योग:' ऐसा विग्रह किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'ध्यान' शब्द योग के ही लिए प्रयुक्त हुआ है। अतएव **प्रो० गार्वे** के मत का खण्डन करते हुए **डा० कीथ** ने जो "The parallel of I. 3, where in place of Sankhya and Yoga are found Dhyana and Yoga, show clearly that we have here Sankhya in the simple sense of meditation as opposed to devotion in Yoga"[१] इत्यादि लिखा है, वह अयुक्त और अयथार्थ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि ६/१३ के 'सांख्य' और 'योग' पदों द्वारा १/३ के ध्यान और योग का भी परामर्श नहीं किया गया है। ऐसी स्थिति में 'सांख्य' और 'योग' शब्दों से किनका परामर्श है, यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्व-कारण ब्रह्म या परमात्मा का जो दर्शन अथवा साक्षात् ज्ञान समस्त *श्वेताश्वतर* का प्रतिपाद्य या लक्ष्य पहले कहा गया है, तथा जिसका फल प्रस्तुत मन्त्र में 'सर्वपाश-विमुक्ति'[२] अर्थात् मोक्ष और उसके पूर्व मन्त्र में 'शाश्वत सुख'[३] कहा गया है, उसी ज्ञान की विधि या पद्धति का संकेत उक्त 'सांख्ययोगाधिगम्यं' पद में किया गया है।

'अधिगम्यम्' पद से इस सूझ की पुष्टि होती है। इस प्रकार श्रुति के इस समस्त पद का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि योगशास्त्रीय विधि से ध्यान अर्थात् चित्तैकाग्र्य

१. द्रष्टव्य Sankhya System, p, १४.

२. ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

३. तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

सम्पादित करके सांख्य-विधि से पूर्व ग्रन्थ में प्रतिपादित त्रिगुणात्मिका प्रकृति से अपने पृथक्त्व तथा परमेश्वर से अपने अभेद का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये, क्योंकि इस ज्ञान से साधक समस्त बन्धनों से छुटकारा पा जाता है। इस मन्तव्य के विपरीत यदि कोई यह शङ्का करे कि निरीश्वर सांख्य में प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक विवेक या भेद के ज्ञान की बात तो समझ में आती है परन्तु परमेश्वर के साथ पुरुष के अभेद के ज्ञान की बात समझ के परे हैं तथा निरर्थक एवं अयुक्त है, तो इसका समाधान, जैसा कि पूर्व भी कह आये हैं, यह है कि सेश्वर *उपनिषदों, महाभारत, भागवत* आदि का सांख्य सेश्वर ही है, निरीश्वर नहीं। क्योंकि यदि सत्य इसके विपरीत माना जाय, तो ईश्वरवादी *महाभारत, भागवत* आदि के सांख्य ज्ञान-विषयक सारे स्तुतिपरक वचन, जिनका उद्धरण पहले किया जा चुका है, असंगत एवं निरर्थक हो जायेंगे। इस पर यदि कोई यह शङ्का करे कि मौलिक सांख्य के ईश्वरवादी होने पर प्राचीन वेदान्त से उसका क्या भेद ही रह जायगा। जिसके कारण अत्यन्त प्राचीन समय से ही सांख्य पृथक् प्रस्थान या मार्ग माना जाता रहा है, तो इसका समाधान यह है कि सांख्य एवं वेदान्त दर्शनों के मुख्य भेद, जो अत्यन्त प्राचीन काल से ही उनके पृथक्-पृथक् प्रस्थान होने के आधार बने, दो हैं:—एक तो है सांख्य दर्शन का इस जगत् को द्विसत्तात्मक अर्थात् प्रकृति-पुरुष-मूलक या जड़-चेतनात्मक मानना और वेदान्त दर्शन का उसे ब्रह्माद्वैत-मूलक अथवा एकात्मक मानना; दूसरा है सांख्य का चेतन तत्त्व अर्थात् पुरुष को परमार्थतः अनेक मानना तथा वेदान्त का उसे परमार्थतः एक अर्थात् अद्वैत मानना। इस प्रकार सांख्य जहाँ एक ओर प्रकृति और पुरुष के बीच तथा दूसरी ओर अनेक पुरुषों के बीच भी वास्तविक भेद मानने के कारण सदा से ही सवा सोलह आने द्वैतवादी रहा है, वहाँ वेदान्त एक ओर प्रकृति और पुरुष अथवा माया और ब्रह्म के बीच और दूसरी ओर ब्रह्म एवं प्रत्यगात्माओं या जीवों के बीच पारमार्थिक अभेद मानने के कारण सदा से ही अद्वैतवादी रहा है। यद्यपि वेदान्त सूत्रों का **मध्वाचार्य**-कृत द्वैतपरक भाष्य भी है, तथापि अन्य सम्प्रदायों के भाष्यों से यही प्रतीत होते है कि किसी न किसी रूप में अभेद या ऐक्य को प्रतिपादित करना ही सूत्रों को अभीष्ट है एवं **मध्वाचार्य**

का भाष्य बहुत-कुछ उनकी अपनी विशिष्ट रुचि को ही प्रकट करता है, वेदान्त-सूत्र-कार के मौलिक सिद्धान्तों को नहीं ।

श्वेताश्वतर[1] में आए हुए 'कपिल' शब्द को भी आचार्य **शङ्कर** तथा उनका अनुसरण करते हुए अन्य अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्य भी सांख्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक **कपिलाचार्य** का वाचक नहीं मानते । *ब्रह्मसूत्र* २/१/१ के भाष्य[2] में आचार्य शङ्कर ने सांख्य मत की अवैदिकता और हीनता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि "विरोधी द्वारा जो श्वेताश्वतर-श्रुति कपिल का परमोच्च ज्ञान वर्णन करने वाली उद्धृत या उपस्थित की गई है, उसके आधार पर श्रुति-विरुद्ध भी सांख्य मत मान्य अथवा अङ्गीकार्य नहीं हो सकता । क्योंकि एक तो 'ऋषि प्रसूतं कपिलम्' इत्यादि श्रुति में कपिल का सामान्य रूप से ही कथन है, उनके विषय में ऐसी विशिष्ट बात नहीं कथित है जिससे अनेक कपिलों में से सांख्य-प्रवर्तक विशिष्ट कपिल मुनि का ही उक्त श्रुति में ग्रहण हो सके । वस्तुत: तो महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक अर्थात् विष्णु के अवतार सांख्य प्रणेता कपिल से भिन्न कपिल का ही उसमें स्मरण या निर्देश हुआ है । दूसरे, यदि उक्त श्रुति में 'कपिल' पद का अर्थ सांख्य-प्रवर्तक कपिल ही मान लिया जाय, तो भी परमेश्वर की प्राप्ति के प्रसङ्ग में उन्हीं का माहात्म्य प्रदर्शित करने के लिए कपिल की सर्वज्ञता का उसके अङ्ग रूप से किया गया यह वर्णन अथवा कथन उस (सर्वज्ञता) का साधक नहीं हो सकता ।" भाष्य में आए हुए 'प्रतप्तु:' और 'वासुदेवनाम्न:' इन दोनो पदों को पञ्चम्यन्त मान कर उपर्युक्त अर्थ किया गया है । परन्तु ये पद षष्ठ्यन्त भी हो

---

१. द्रष्टव्य ५/२ :—
यो योनि योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वा: ।
ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥

२. द्रष्टव्य, पृ० ३४९ :—या तु श्रुति: कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यं, कपिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात् । अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्न: स्मरणात् । अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात् ।

रचयिता **गोविन्दानन्द,** दोनों ने इन पदों को षष्ठ्यन्त ही माना है और उसका अर्थ यह किया है कि "श्रुति में महाराज सगर के पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक किसी अन्य कपिल का ही उल्लेख है । इसलिए 'कपिल' इस शब्द-मात्र की समानता से श्रुति में सांख्य-प्रवर्तक कपिल का वर्णन मानना भ्रम है, क्योंकि सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाला वासुदेव नामक वैदिक कपिल सांख्य-प्रणेता अवैदिक कपिल से भिन्न है" ।[१] इस व्याख्या में मूल का 'अन्यस्य' पद साकांक्ष रहता है, क्योंकि इसमें वाक्यार्थ को पूरा करने के लिए 'सांख्यप्रणेतुरवैदिकात् कपिलात्' का अध्याहार करना पड़ता है । किन्तु ऐसी व्याख्या करने पर भाष्यकार के लेख का यह आशय प्रकट होता है कि 'वासुदेव' नामक अर्थात् विष्णु के अवतार कपिल सांख्य के प्रणेता नहीं है और इसका *श्रीमद्भागवत, विष्णु* इत्यादि पुराणों के

'पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम् ।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम् ॥'

(भागवत १/३/११)

कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै द्विज ।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशायोर्वीमुपागतः ॥

(विष्णु पुराण २/१४/९)

इत्यादि[२] वचनों के साथ स्पष्ट ही विरोध है । इससे ऐसा लगता है, जैसे भाष्यकार का स्वारस्य इस अर्थ में नहीं है । पञ्चम्यन्त मान कर प्रथम अर्थ करने पर

---

१. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र २/१/१ के शां० भा० की आनन्दगिरि-कृत व्याख्या, पृ० ३५०:-शब्दसामान्यादेव सांख्यप्रणेता कपिलः श्रौतक इति भ्रान्तिरविवेकिनामित्यर्थः । वैदिको हि कपिलो वासुदेवनामा पितुरादेशादश्वमेधपशुमन्विध्य परिसरे पश्यतामिन्द्रचेष्टितमदृष्टवतां षष्टिसहस्रसंख्याजुषामात्मोपरोधिनां सगरसुतानां सहसैव भस्मीभावहेतुः सांख्यप्रणेतुरवैदिकादन्यः स्मर्यते ।

२. द्रष्टव्य, वायु ८८/१४५-१४८, मत्स्य ३/२९ तथा १७१/१०, पद्म (सृष्टि-खंड) ८/१४७, स्कन्द (रेवाखण्ड) १७५/२-७ ॥

न तो अध्याहार ही करना पड़ता है और न भागवत आदि के साथ विरोध ही होता है । अत: उसी में भाष्यकार का स्वारस्य प्रतीत होता है ।

अब प्रथम अर्थ के सम्बन्ध में एक प्रश्न उठता है और वह यह कि सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाले, विष्णु के अवतार, सांख्य-प्रणेता कपिल ऋषि से भिन्न कौन से दूसरे कपिल हो सकते हैं जिनका उल्लेख भाष्यकार **शङ्कराचार्य** के मत से 'ऋषि प्रसूतं कपिलम्' इत्यादि श्रुति-वचन में हुआ है । इसका समाधान भाष्यकार ने स्वयं ही अपने *श्वेताश्वतर-भाष्य* में इस प्रकार दिया है: "ऋषि प्रसूतं कपिलम्" इत्यादि श्रुति-वचन में हुआ है । इसका समाधान भाष्यकार ने स्वयं ही अपने श्वेताश्वतर-भाष्य में इस प्रकार दिया है: "ऋषिं सर्वज्ञमित्यर्थ: । कपिलं कनककपिलवर्णप्रसूतं स्वेनैवोत्पादितं 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्' इत्यस्यैव जन्मश्रवणादन्यस्य चाश्रवणात् । उत्तरत्र 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणेति तस्मै' इति वक्ष्यमाणत्वात् 'कपिलोऽग्रज' इति पुराणवचनात् कपिलो हिरण्यगर्भो वा व्यपदिश्यते ।" इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'कपिल' पद का अर्थ प्रस्तुत स्थल में हिरण्यगर्भ ही है । 'हिरण्य' का अर्थ है कनक जो 'कपिल' अर्थात् पीत वर्ण का होता है, अतएव कपिल का अर्थ हिरण्यगर्भ है । प्रस्तुत श्रुति के 'प्रसूतम् अग्रे' पदों से भी यही बात सिद्ध होती है क्योंकि **हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्** इत्यादि श्रुति वचन में सृष्टि के आदि में उसी का जन्म कथित है, अन्य किसी का नहीं । इसी श्रुति में आगे भी इसी अर्थ का प्रतिपादक **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्** (६/१८) इत्यादि वचन आया हुआ है । **कपिलोऽग्रज:** अर्थात् कपिल सृष्टि के आदि में उत्पन्न होते हैं, इस पौराणिक वचन से भी श्रुति के प्रस्तुत स्थल में कपिल या हिरण्यगर्भ का ही निर्देश सिद्ध होता है । सम्भवत: भाष्यकार के इसी व्याख्यान के आधार पर **प्रो० रानाडे,**[१] **डा० कीथ**[२] तथा और भी कई अर्वाचीन विद्वानों ने उद्धृत *श्वेताश्वतर*-श्रुति में 'कपिल' का अर्थ हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा ही लिया है । इस

---

१. द्रष्टव्य, प्रो० रानाडे का Constructive Survey of Upanishadic Philosophy.

२. द्रष्टव्य, प्रो० कीथ-कृत Sankhya System, पृ० ८,४० ।

प्रकार ये इसमें सांख्य-प्रवर्तक कपिल का कोई उल्लेख स्वीकार नहीं करते । इस मत के विपरीत **प्रो० गार्वे** का मत है कि *श्वेताश्वतर* ५/२ में 'कपिल' तथा ६/१३ में 'योग' के साथ 'सांख्य' का प्रयोग होने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस श्रुति के संग्राहक को सांख्य शास्त्र का निश्चित ज्ञान था ।[1] परन्तु इसका खण्डन करते हुए **प्रो० कीथ** ने स्पष्ट लिखा है कि "यह बात पूर्व उद्धृत तथ्यों के आधार पर स्पष्टतः सिद्ध नहीं होती" ।

कपिल, जैसा कि हम पीछे पृष्ठ ८ और ९ पर देख चुके हैं, मानव रूप में कभी रहे ही नहीं । *श्वेताश्वतर* ६/१३ में प्रयुक्त 'सांख्य-योग' शब्दों के लिए उसके जोड़ के मन्त्र *श्वेताश्व.* १/३ में 'ध्यान-योग' शब्दों का प्रयोग स्पष्ट सिद्ध करता है कि इस स्थल में 'सांख्य' शब्द 'ध्यान' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।"[2] **डा० कीथ** की दूसरी बात का खण्डन पीछे सविस्तर कर चुके हैं । प्रथम का सविस्तार खण्डन तो यद्यपि अगले अध्याय में करेंगे, तथापि यहाँ इतना अवश्य वक्तव्य है कि स्वयं भाष्यकार भी 'कपिल' शब्द का पूर्वोक्त प्रकार से 'हिरण्यगर्भ' अर्थ कर चुकने पर सन्तोष का अनुभव न करते हुए से उसका फिर सप्रमाण सर्वप्रसिद्ध, सांख्य-कर्ता 'कपिल ऋषि' भी अर्थ करते हैं:—**कपिलर्षिर्भगवतः सर्वभूतस्य वै किल विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय समुपागतः ॥ 'कृतयुगे परं ज्ञानं कपिलादिस्वरूपधृत्। ददाति सर्वभूतात्मा सर्वस्य जगतो हितम् ॥ त्वं शक्रः सर्वदेवानां ब्रह्मा ब्रह्मविदामसि। वायुर्बलवतां देवो योगिनां त्वं कुमारकः ॥ ऋषीणां च वसिष्ठस्त्वं व्यासो वेदविदामसि। सांख्यानां कपिलो देवो रुद्राणमसि शङ्करः ॥ इति परमर्षिः प्रसिद्धः ।...स एव वा कपिलः प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टिकाले ।'** ब्रह्मसूत्र-शाङ्कर **भाष्य** का **अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिरहितस्यासाधकत्वात्** इत्यादि वचन भी, जिसका उद्धरण तथा संक्षिप्त विचार पीछे कर आए हैं, इसी बात का द्योतक है कि स्वयं भाष्यकार को भी स्व-कृत पूर्व अर्थ खटकता था और वह इसलिए कि प्रसिद्ध

---

१. द्रष्टव्य, प्रो० गार्वे-कृत Sankhya Philosophy, द्वितीय संस्करण, पृ० ४६ तथा उसके आगे

२. द्रष्टव्य, प्रो० कीथ-कृत Sankhya System, पृ० १४ ।

अर्थ का परित्याग करके अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करने का कोई विशिष्ट कारण या आधार उपलब्ध नहीं है । **पं० उदयवीर शास्त्री** ने अपने *सांख्य दर्शन का इतिहास* नामक ग्रन्थ में इन सारे विषयों को सविस्तर प्रतिपादित किया है । 'अन्यार्थदर्शनस्य च प्राप्तिहितस्यासाधकत्वात्' इस भाष्य-पंक्ति का अर्थ देकर निष्कर्ष रूप में **शास्त्री** जी ने इस प्रकार लिखा है—"शङ्कराचार्य ने इस पंक्ति को लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि इस *श्वेताश्वतर* श्रुति में सांख्यों का प्रसिद्ध **कपिल** ही उपादेय है, भले ही उसका उल्लेख प्रसङ्ग-वश आया हो । हम इस समय उसके (अर्थात् कपिल के) मत की मान्यता या अमान्यता पर विचार नहीं कर रहे हैं । हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि इस श्रुति में जिस कपिल का उल्लेख है, वह सांख्य-प्रवर्तक कपिल ही है और यह मत **शङ्कराचार्य** को भी मान्य है । इसीलिए प्रथम, 'कपिल' पद का जो अर्थ **शङ्कराचार्य** ने हिरण्यगर्भ (कनककपिल-वर्ण) किया है, वह प्रौढिवाद से ही किया है तथा उसमें श्रुति का स्वारस्य न जान कर ही अन्त में विस्तारपूर्वक, प्रमाणहित सांख्य-प्रवर्तक कपिल का ही उल्लेख माना है ।"[१] ऐसी स्थिति में 'सांख्य' तथा 'कपिल' शब्दों की **श्वेताश्वतर** में उपलब्धि होने से हम **प्रो० गार्वे** के पूर्व-उद्धृत इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस श्रुति के संग्राहक को निश्चित रूप से सांख्य शास्त्र ज्ञात था और अवश्य ही सांख्य सम्प्रदाय शास्त्र रूप में भी इस श्रुति से पर्याप्त प्राचीन है ।

इसके अतिरिक्त भी ऐसी कई बातें इस उपनिषद् में मिलती हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि इसके वर्तमान स्वरूप प्राप्त करने के पूर्व ही मौलिक सांख्य निर्धारित या व्यवस्थित हो चला था । सबसे पहली बात तो यही है कि इसमें सांख्योक्त प्रकृति तत्त्व के वाचक प्रधान, अव्यक्त, अजा इत्यादि पारिभाषिक पदों का कई बार प्रयोग हुआ है, जब की *बृहदारण्यक* और *छान्दोग्य* में ये एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुए हैं । १/८ में 'व्यक्त' के साथ 'अव्यक्त'[२] १/९ तथा ४/५ में

१. द्रष्टव्य, पृ० १६ ।

२. संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

'अजा'[१], १/१० 'प्रधान'[२], तथा ४/१० में 'प्रकृति'[३] का प्रयोग हुआ है । ध्यान देने की बात तो यह है कि इनमें से प्रत्येक स्थल में जीव, प्रकृति तथा ब्रह्मा या ईश्वर, ये तीनों पृथक्-पृथक् स्पष्ट कथित हैं । इनके अतिरिक्त अन्य अनेक मन्त्रों में भी यह त्रैत कथित हैं । जैसे **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति** [श्वेताश्व० ४/६], इस सुप्रसिद्ध मन्त्र में जीव, ईश्वर, तथा प्रकृति के शरीर आदि कार्य का स्पष्ट ही पृथक्-पृथक् रूप से कथन किया गया है । यह त्रैत मौलिक सांख्य की अपनी विशिष्टता थी, अपनी अपूर्व कल्पना थी, जैसा कि आगे स्पष्ट करेंगे । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मौलिक सांख्य-दर्शन के इसी त्रैतवाद की पृष्ठभूमि में *श्वेताश्वतर* की रचना हुई । यह अवश्य सत्य है कि उपयुक्त अनेक मन्त्रों में वेदान्त के ब्रह्मात्मैक्यवाद की मुहर या छाप लगी हुई है जिसके कारण *शङ्कराचार्य* इत्यादि वेदान्ती दार्शनिक इस उपनिषद् में सांख्य का त्रैतवाद न मानकर वेदान्त का ब्रह्मैक्यवाद ही प्रतिष्ठित हुआ मानते हैं, और **किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा** इत्यादि प्रथम ही मन्त्र में 'जगत् का कारण ब्रह्म है या काल, स्वभाव इत्यादि' यह शङ्का उठा कर **ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्** इत्यादि तृतीय मन्त्र में 'ब्रह्म देवता की परमातिपरम 'शक्ति' को ही ध्यान-योग द्वारा जगत् के कारण रूप में देखा' इत्यादि उत्तर देने से भी वेदान्त के अभेदवाद की ही प्रतिष्ठा होती प्रतीत होती है, तथापि प्राचीनतम *बृहदारण्यक* तथा *छान्दोग्य* में 'प्रधान' या 'अजा' तत्त्व की कल्पना परिनिष्ठित रूप में न प्राप्त

---

१. (i) ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विदते ब्रह्ममेतत् ।
(ii) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

२. क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात् तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥

३. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

होने से सामान्यत: ऐसा अनुमान होता है कि *श्वेताश्वतर* में 'अजा' की यह कल्पना सांख्य से आई होगी। 'प्रधान' तत्त्व की परिनिष्ठित कल्पना *छान्दोग्य* आदि में नहीं मिलती, इस कथन का तात्पर्य इतना ही है कि त्रिरूप जगद्योनि का सिद्धान्त *छान्दोग्य* में बीज रूप से ही प्राप्त है, विकसित रूप में नहीं। सांख्य ने इसी से अपना त्रिगुणात्मक-प्रधान-कारणवाद विकसित किया। इन दोनों कथनों की सत्यता अभी प्रतिपादित करेंगे। मन्त्र के 'स्वगुणैर्निगूढाम्' पदों से पूर्वोक्त अनुमान और अधिक दृढ़ तथा अनिवार्य सा हो जाता है, क्योंकि जगद्योनि के त्रिविध गुणों की कल्पना भारतीय दर्शनों के इतिहास में सांख्य की अपनी विशेषता है। प्राचीनतम *छान्दोग्य* तथा बृहदारण्यक में इनका उल्लेख नहीं है। किन्तु *श्वेताश्वतर* के पूर्वोद्धृत मन्त्र में ही नहीं, अपितु

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

इस प्रसिद्ध मन्त्र में भी तीनों गुण ही कथित प्रतीत होते हैं, क्योंकि जैसे सांख्य शास्त्र में तीनों गुणों अथवा त्रिगुणात्मिका प्रकृत को क्रमशः श्वेत, रक्त एवं कृष्ण वर्णित किया जाता है, उसी प्रकार इस मन्त्र में भी जगत् को उत्पन्न करने वाली 'शक्ति' को 'लोहितशुक्लकृष्णा' कहा गया है। एवं जैसे सांख्य में प्रकृति को 'अजा' अर्थात् न उत्पन्न होने वाली कहा गया है, उसी प्रकार इसमें भी जगत्कर्त्री शक्ति को 'अजा' अर्थात् न उत्पन्न होने वाली कहा गया है, उसी प्रकार इसमें भी जगत्कर्त्री शक्ति को 'अजा' कहा गया है। इसके अतिरिक्त, जैसे सांख्य में विविध एवं बहुरूप जगत् को अकेली प्रकृति से सम्भाव्य सिद्ध करने के लिए उसे स्वरूपतः त्रिगुणात्मक अर्थात् बहुविध—स्वगत भेद से युक्त माना जाता है, उसी प्रकार इस मन्त्र में भी जगत्कर्त्री अजा 'शक्ति' को त्रिविध कहा गया है। इन समस्त तथ्यों का विचार करने पर एक मात्र इसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि इस मन्त्र के जगत् का उपादान कारण ईश्वर नहीं, अपितु प्रकृति ही कथित है। सांख्य के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त के विषय में *सांख्य-सूत्र श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य* [५/१२] में जिस श्रुति

की दोहाई अथवा गवाही दी गई है, वह *विज्ञान भिक्षु* आदि आचार्यों के मत से भी यही है।

परन्तु **शङ्कराचार्य** के मत से 'अजा' शब्द से सांख्य की 'प्रकृति' का ग्रहण अभिप्रेत नहीं है। इसका कारण बताते हुए उन्होंने *ब्रह्म-सूत्र* १/४/८ के भाष्य में लिखा है कि इस मन्त्र में ऐसी कोई विशिष्ट बात नहीं आई है। जिससे निश्चित रूप से यह सिद्ध होता हो कि 'अजा' शब्द से सांख्यों की प्रकृति ही अभिप्रेत अथवा गृहीत है। इस पर यदि कोई जिज्ञासु यह प्रश्न उठावे कि आखिर इस 'अजा' से किसका ग्रहण होना चाहिए, तो इसके उत्तर में **शङ्कराचार्य** का कथन है कि परमेश्वर से उत्पन्न तेजस् जल और पृथ्वी ही चतुर्विध प्राणि-समूह को उत्पन्न करने वाली 'अजा' है।[१] अपनी इस मान्यता का कारण स्पष्ट करते हुए उन्होंने अपने **ब्रह्मसूत्र-भाष्य**[२] में लिखा है कि चूंकि *छान्दोग्य* उपनिषद् में परमेश्वर से इन तीनों की उत्पत्ति कह कर इन्हीं को क्रमशः लाल, सफेद और काला कहा है, अतः ये ही तीनों 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादि *श्वेताश्वतर*-मन्त्र में भी 'अजा' शब्द से गृहीत हैं।

---

१. द्रष्टव्य श्वेताश्वतर-भाष्यः—इदानीं तेजोऽबन्नलक्षणां प्रकृतिं छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धामजारूपकल्पनया दर्शयति-अजामेकामिति।

२. द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र 'ज्योतिरुपक्रमा तु, तथा ह्यधीयत एके, [१/४/९]का शाङ्कर भाष्यः—परमेश्वरादुत्पन्ना ज्योतिःप्रमुखा तेजोबन्नलक्षणा चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य प्रकृतिभूतेयमजा प्रतिपत्तव्या। तु शब्दोऽवधारणार्थः। भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया, न गुणत्रयलक्षणा। कस्मात्? तथा ह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्वरादुत्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादिरूपतामामनन्ति—यदग्ने रोहितरूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत् कृष्णं तदन्नस्य इति। तान्येवेहे तेजोऽबन्नानि प्रत्यभिज्ञायन्ते। असन्दिग्धेन च सन्दिग्धस्य निगमनं न्याय्यं मन्यन्ते। तथा इहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किं कारणं ब्रह्म' (श्वेताश्व० १,१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वेताश्व० १/३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्तजगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्। वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति, 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' (श्वेताश्व० ४/१०, ११) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित् प्रकृतिः प्रधानेनामजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम्।

जैसे *छान्दोग्य* में तेजस् इत्यादि तीनों लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहे गये हैं, उसी प्रकार *श्वेताश्वतर* में 'अजा' भी। लाल, सफेद और काले वर्ण ही लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण शब्दों के मुख्यार्थ हैं, सांख्योक्त सत्त्व रजस् एवं तमस् नामक विशेष गुण नहीं वे तो लोहित, शुक्ल और कृष्ण शब्दों के लक्ष्यार्थ ही हो सकते हैं। परन्तु वाच्यार्थ के संभव या सङ्गत न होने पर ही लक्ष्यार्थ लेना उचित और न्याय्य होता है। असन्दिग्ध *छान्दोग्य* श्रुति, जिसमें लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण शब्दों से क्रमशः लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण वर्ण वाले तेजस्, जल एवं पृथ्वी गृहीत होते हैं, के आधार पर इस सन्दिग्ध *श्वेताश्वतर* श्रुति में भी इन पदों का यही मुख्यार्थ प्रतीत होता है, और यह असम्भव या असंगत भी नहीं है। अतः इसी को यहाँ भी ग्रहण करना उचित है। निश्चित से ही अनिश्चित का निश्चय या ज्ञान किया जाता है, ऐसा नियम हैं। प्रस्तुत *श्वेताश्वतर* श्रुति में पहले 'ब्रह्मवादी परस्पर संवाद करते हैं कि जगत् का कारण-भूत ब्रह्म कैसा है', इस प्रकार प्रारम्भ करके आगे 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्, इत्यादि मन्त्र में समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाली परमेश्वरीय शक्ति का कथन किया गया है। फिर 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (४/१०) तथा 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' (४/११) इत्यादि उपसंहारात्मक मन्त्रों में भी उसी परमेश्वरीय शक्ति का कथन है। इससे निश्चित रूप से कहना पड़ता है कि सांख्य-प्रतिपादित 'प्रधान' नामक कोई स्वतन्त्र प्रकृति अर्थात् जगत् का उपादान कारण *श्वेताश्वतर* के 'अजामेकाम्' इत्यादि मन्त्र में कथित नहीं है।

भाष्यकार **शङ्कराचार्य** के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि वे *छान्दोग्य* और *श्वेताश्वतर* उपनिषदों मे एकवाक्यता या सामञ्जस्य मानते हुए दोनों को इसी सिद्धान्त का प्रतिपादक बताते हैं कि इस जगत् का उपादान कारण विविध सृष्टि में समर्थ पारमेश्वरी शक्ति है। उनके मत से वस्तुतः इसी सर्व-समर्थ शक्ति या माया के योग से निकल एवं अकारण ब्रह्म सकल (अर्थात् सगुण) एवं कारण कहा जाता है। मुख्य रूप से यही स्थापना उन्होंने उस *कठ* श्रुति के भाष्य में भी की है जिसमें कम से कम बाह्य दृष्टि से तो अवश्य ही सांख्य दर्शन के महत्, अव्यक्त आदि

पारिभाषिक पदों का उल्लेख या प्रतिपादन प्राप्त होता है । इसमें आए हुए **महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः** वाक्य में सांख्य दर्शन के महत्, अव्यक्त और पुरुष तत्त्व कथित हैं । इसका सबल खण्डन उन्होंने *कठ-भाष्य* तथा **आनुमानिक-मप्येकेषाम्** इत्यादि *ब्रह्मसूत्र* १/४/१ के भाष्य में भी किया है । 'महतः परमव्यक्तम्' इत्यादि *कठ*-वाक्य के भाष्य में सांख्य के विरुद्ध उन्होंने अपने मत का उपन्यास बहुत संक्षेप में इस प्रकार किया है:—**महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं चाव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्य-कारणशक्तिसमाहाररूपमव्यक्ताव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मनि ओत-प्रोतभावेन समाश्रितं, वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः** । इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'अव्यक्त' को भाष्यकार परमात्मा की ही सर्व-कारण-सामर्थ्य से युक्त अनन्त शक्ति, उसी की कारणावस्था मानते हैं, सांख्य दर्शन के 'प्रधान' की तरह उससे पृथक् स्वतन्त्र रूप से स्थित कोई तत्त्व नहीं । *ब्रह्मसूत्र-भाष्य* के अन्तर्गत की गई स्वमत-स्थापना विशेषतः खण्डन-परक होने के कारण संक्षिप्त न होकर बड़ी विस्तृत है । उस सबको यहाँ देना अप्रासङ्गिक होगा, प्रस्तुत प्रकरण या विषय—'प्राचीन उपनिषदों में सांख्य के मूल तत्त्व'—को छोड़कर अन्य विषय का ग्रहण या प्रस्ताव होगा । इस कारण से इसका विस्तार आगे किया जायगा । यहाँ तो इतना ही विषयोपन्यास इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि **शङ्कराचार्य** के समीप सांख्यों का स्वतंत्र प्रकृतिवाद सर्वथा अवैदिक या वेद-विरुद्ध है, उनकी दृष्टि में विशुद्ध सिद्धान्त यही है कि समस्त विश्व की पुष्टि करने वाली अघटित-घटना-पटीयसी परमेश्वरीय शक्ति या माया है जो उसके सर्वथा अधीन है, उससे स्वतंत्र नहीं । इसे ही **कठ** उपनिषद् में अव्यक्त नाम से बोधित किया गया है तथा *श्वेताश्वतर* में इसे ही शक्ति, माया, प्रकृति, प्रधान आदि नामों से घोषित किया गया है । इस माया या शक्ति का त्रिरूपत्व इसके तेजस् जल एवं पृथ्वी कार्यों के त्रिरूपत्व के कारण ही कहा गया है (अन्यथा तो है विश्वरूप ही है), क्योंकि जब

माया के कार्य-भूत-तेजस्, जल एवं पृथ्वी में त्रिरूपता प्रत्यक्ष-सिद्ध है, तब तो यह अनुमान होना स्वाभाविक ही है कि यह त्रिरूपता मूल प्रकृति अर्थात् माया में अवश्य रही होगी जिससे यह तेजस् आदि कार्यों में आई; क्योंकि कारण के गुणों से ही कार्य गुण उत्पन्न होते हैं । **भाष्यकार** की **तस्याश्च स्वविकारविषयेण त्रैरूप्येण त्रैरूप्यमुक्तम्**[१] पंक्ति का यही तात्पर्य है । वास्तविक बात तो यह है कि मूल प्रकृति अर्थात् ब्रह्म-शक्ति या माया के विषय में मन्त्र के 'लोहितशुक्लकृष्णाम्' पद की संगति दिखाने के लिए ही **भाष्यकार** ने **सूत्रकार** का अनुसरण करते हुए *छान्दोग्य*-प्रतिष्ठित तेजोऽबन्न रूप विविध अवान्तर प्रकृति को *श्वेताश्वतरोपनिषद्* के 'अजा' पद का वाच्यार्थ कहा है, अन्यथा त्रिरूप अवान्तर प्रकृति 'अजा' या मूल प्रकृति का कार्य है और इन्हीं के द्वारा से अजा माया समस्त विविध विश्व को उत्पन्न करती है । परन्तु इस प्रकार कार्य प्रकृतियों के वर्णों का, मूल या कारण प्रकृति में आरोप करके उन्हें जगत् की मूल प्रकृति कहने में कोई अनौचित्य या दोष नहीं है, क्योंकि कारण और कार्य का एक दूसरे से आरोप लोक में भी देखा जाता है । एवं इस समस्त विवेचन का यह सारांश अथवा निष्कर्ष निकलता है कि त्रिरूप जगद्योनि का सिद्धान्त *छान्दोग्य* इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित है और यह सिद्धान्त भाष्यकार **शङ्कराचार्य** को भी मान्य है ।

अब यदि निष्पक्षपात दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि *छान्दोग्य* में प्रतिपादित त्रिरूप जगद्योनि का यही सिद्धान्त सांख्य दर्शन के त्रिगुणात्मक प्रधान कारणवाद के मूल में था । *छान्दोग्य* के तैजस्, आप् और अन्न के रोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्णों का स्पष्ट प्रतिभास सांख्य की प्रकृति के लोहित रजस्, शुक्ल सत्त्व तथा कृष्ण तमस् गुणों में दीख पड़ता है । किन्तु छान्दोग्य के तेजोऽबन्न पहले तो एक नहीं, अपितु तीन हैं, फिर वे अज नहीं, अपितु ब्रह्म से जायमान या उत्पन्न हैं । इसके विपरीत सांख्य की प्रकृति त्रिगुणात्मक होने पर भी एक ही है, अनेक नहीं ।

---

१. द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र १/९ का शाङ्करभाष्य ।

फिर वह अजा अर्थात् अनादि है। *श्वेताश्वतर* भी जगत् के उपादान कारण को त्रिरूप, अज और एक ही मानता है।[१] हाँ, यह बात अवश्य सत्य है कि वह इस अजा को सर्वत्र समान रूप से ब्रह्म या परमेश्वर की शक्ति मानता है। जैसे इस उपनिषद् के प्रारम्भ में ही **किं कारणं ब्रह्म कुतःस्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः** इत्यादि प्रश्न करके इसके उत्तर में **ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्** (१/१/३) इत्यादि कह कर उपसंहार में **अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्; मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्** (श्वेताशअव० ४/९, १०, ११) इत्यादि कहने से स्पष्ट है कि श्रुतियों को जगत्-योनि 'प्रकृति' या 'माया' का परमेश्वर के अधीन होना, परमेश्वर से अभिन्न उसकी शक्ति होना ही अभिप्रेत है, उससे पृथक् स्थित होगा नहीं जैसा कि सांख्य दर्शन मानता है। तथापि पूर्वोक्त अनेक समानताओं के कारण सांख्य दर्शन की प्रकृतिविषयक कल्पना को *छान्दोग्य* और *श्वेताश्वतर* के बीच की कड़ी मानना सत्य के अधिक समीप प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि *श्वेताश्वतरोक्त* त्रिगुणात्मक तथापि एक, एवं अज अर्थात् अजायमान अथवा अनादि प्रकृति की कल्पना की *छान्दोग्योक्त* त्रिरूप तेजोऽबन्न जगद्योनि से साक्षात् विकसित न मानकर सांख्योक्त त्रिगुणात्मक अजा प्रकृति की कल्पना के द्वार या माध्यम से विकसित मानना ही अधिक युक्ति-युक्त एवं स्वाभाविक लगता है।

---

१. द्रष्टव्य श्वेताश्व० १/९ [ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।...], ४/५ [आजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्...] इत्यादि। केवल 'क्षर' प्रधानाममृताक्षरं हरः' इत्यादि श्वाताश्व० १/१० में प्रधान या प्रकृति को 'क्षर' अर्थात् विनाशी कहने से उसके जायमानत्व का आभास मिलता है। परन्तु 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इस चतुर्थ पंक्ति में 'माया की निवृत्ति' के कथन से तथा प्रथम पंक्ति के 'हरः' (हरत्यविद्यामित्यर्थः) शब्द के प्रयोग से 'अविद्या' अर्थ में ही प्रधान को 'क्षर' कहा गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त इस उपनिषद् में 'सांख्य' 'कपिल' आदि शब्दों का स्पष्ट उल्लेख होने तथा सांख्य दर्शन के 'अव्यक्त', 'प्रधान', 'गुण' इत्यादि कई पारिभाषिक पदों का प्रयोग होने से भी इसी बात की अधिक सम्भावना प्रतीत होती है कि सांख्य इस श्रुति के वर्तमान रहे होंगे । किन्तु यदि **शङ्कराचार्य** तथा उनसे सहमत अन्य प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों के विचार के अनुसार 'सांख्य' और 'कपिल' इत्यादि शब्द सांख्य शास्त्र एवं उसके प्रवर्तक के लिए आए हुए न माने जायँ, तब यह मानना होगा कि सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक सबसे अधिक *श्वेताश्वतर* के ही ऋणी हैं । जो कुछ भी हो किन्तु इतनी बात तो निश्चित सी जान पड़ती है कि **शङ्कराचार्य** के भगीरथ-प्रयत्न के बाद भी यह बात निस्सन्देह रूप से सिद्ध नहीं होती कि सांख्यचार्यों की त्रिगुणात्मिका प्रकृति अश्रौत अथवा अवैदिक है ।

यह अन्य बात है कि सांख्य का यह प्रकृतिवाद श्रुति-प्रतिपादित एतद्विषयक सिद्धान्त का अनुकरण-मात्र नहीं बल्कि उससे स्वतंत्र रूप से विकसित है और स्वतन्त्र रूप से विकसित होने में उससे भिन्न हो गया है । *वेदान्त-सूत्रों* के कर्ता बादरायण व्यास से भी पूर्व ही मौलिक सांख्य निरीश्वर हो चुका होगा, यह बात सूत्रों के तर्क-पाद में सांख्य के निरीश्वर प्रकृतिवाद के खण्डन से प्रतीत होती है । किन्तु जब मौलिक सांख्य ईश्वरवादी रहा होगा तब भी वह प्रकृति को उसकी शक्ति न मान कर उससे पृथक् स्थित ही पदार्थ मानता रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है । क्योंकि अपने प्रादुर्भाव या उद्भव के समय से ही यह एक पृथक् प्रस्थान माना जाता रहा है और ऐसी मान्यता के लिए उपनिषदों से इसका कुछ न कुछ मौलिक भेद तो होना ही चाहिए । **शंकराचार्य** ने अपना सारा दर्शन इस उपनिषदों तथा तन्मूलक वेदान्त सूत्रों के ऊपर लिखे गये भाष्यों के ही रूप में प्रस्तुत किया है । यद्यपि इनमें उनके विचारों की स्वतंत्रता एवं मौलिकता खूब प्रकट हुई है, तथापि उन्होंने स्वयमेव अपने को सगर्व श्रुतिवादी एवं सम्प्रदाय-विद् उद्घोषित करते हुए अपने भाष्यों को वस्तुतः श्रुति-परक एवं तदनुसारी कहा है । स्वमत-विरोधी अन्य

भाष्यों एवं व्याख्यानों को श्रुति-विरुद्ध एवं तदनुसारी कहा है। स्वमत-विरोधी अन्य भाष्यों एवं व्याख्यानों को श्रुति-विरुद्ध कह कर उनकी उन्होंने कटु आलोचना की है। इस प्रकार श्रुतियों का भाष्य-रूप होने से शङ्कर का दर्शन कम से कम उनकी विशिष्ट दृष्टि से सर्वथा श्रुति-सम्मत है। परन्तु सांख्य दर्शन बहुत कुछ श्रुतियों से ही विकसित होने पर भी उनका भाष्य नहीं अपितु स्वतंत्र विकास है। इस स्वतंत्रता के लिए स्वयं श्रुतियों में भी पर्याप्त अवकाश एवं छूट है। इनमें आत्मा, प्रकृति, सृष्टि आदि के विषय में अनेक सिद्धान्त मिलते हैं। सिद्धान्तों की यह अनेकता या पारस्परिक भिन्नता यह कह कर भले ही बाह्य अथवा अवास्तविक कह दी जाय कि चूंकि सूक्ष्म पारलौकिक विषयों में श्रुतियाँ ही परम प्रमाण हैं और प्रमाण होने के लिए उनमें प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों में परस्पर विरोध नहीं अपितु एकवाक्यता, समन्वय या सामञ्जस्य का होना आवश्यक है और इस कारण से किसी भी विषय में परस्पर विरुद्ध या भिन्न प्रतीत होने वाले सिद्धान्तं वैभिन्न्य स्वीकार करने से इन्कार नहीं किया जा सकता, उसका कारण दृष्टि-भेद, रुचि-भेद अथवा अधिकार-भेद आदि चाहे जो भी कहा जाय। ऐसी स्थिति में परवर्ती काल में अपने-अपने विशिष्ट विचारों के लिए इन्हीं श्रुतिकथित सिद्धान्तों से प्रेरणा एवं समर्थन पाकर विभिन्न आचार्यों का अपने-अपने विशिष्ट सम्प्रदायों एवं मतों को स्वतंत्र रूप से विकसित एवं स्थापित करना सर्वता स्वाभाविक और संगत है।

उदाहरण के लिए आत्मा के एकत्व और अनेकत्व दोनों का कथन करने वाली पंक्तियाँ श्रुतियों में मिलती हैं। जैसे अद्वैत-परक सम्प्रदाय अद्वैत-प्रतिपादक श्रुति-वाक्यों को सिद्धान्त रूप से ग्रहण करते हुए द्वैत-प्रतिपादक वाक्यों को दृष्टि-विशेष से कहा गया बता कर उनका समन्वय पूर्वोक्त से करते हैं, ठीक उसी प्रकार न्याय, सांख्य, योग और यहाँ तक कि वेदान्त के भी कुछ सम्प्रदाय द्वैत या अनेकत्व के प्रतिपादक वाक्यों को सिद्धान्त ग्रहण करते हुए अद्वैत या एकत्व को ही विशेष दृष्टि से कहा गया बताकर उनका समन्वय द्वैत-परक वाक्यों के साथ

स्थापित करते हैं । एवं प्रकृति के विषय में भी अनेक प्रकार के कथन आये हुए हैं, जैसे *श्वेताश्वतर* के **देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्**[१] इत्यादि शब्दों में प्रकृति ब्रह्म की शक्ति कही गई है जिससे वह परमेश्वर से पृथक् अर्थात् उससे भिन्न सत्ता वाली नहीं प्रतीत होती और फिर उसी के **क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः**[२] इत्यादि शब्दों में वही प्रकृति स्पष्ट रूप से जीव और परमेश्वर, दोनों से ही पृथक् वर्णित हैं । फिर

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।।[३]

मन्त्र में भी त्रिगुणात्मिका अजा (माया), भोक्ता अज (जीव) तथा अभोक्ता अज (परमेश्वर) से पृथक् कही गई है । सांख्य दर्शन भी प्रकृति के विषय में इसी मत का पोषक है । जैसा आगे[४] चल कर प्रतिपादित करेंगे, **स्वामी दयानन्द सरस्वती** जैसे प्रथित अर्वाचीन विचारक इसी मत के हैं । अपने *सत्यार्थ-प्रकाश* में उन्होंने त्रैतवाद को ही श्रुति-सम्मत मत सिद्ध किया है । *कठोपनिषद्* के महतः **परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः** इत्यादि मंत्र में आए हुए 'अव्यक्त' शब्द द्वारा परमेश्वर से पृथक् स्थित तथापि उसके नियन्त्रण या अनुशासन में रहने वाली प्रकृति का ही ग्रहण अत्यन्त प्राचीन काल से ही किया जाता रहा है, न कि परमेश्वर या ब्रह्म को ही किसी विशिष्ट अवस्था का, जैसा कि भाष्यकार **शङ्कराचार्य** मानते हैं । क्योंकि यदि ऐसी बात न होती तो **शङ्कराचार्य** उसके खण्डन का महान् प्रयास अपने *ब्रह्मसूत्र-भाष्य* में क्यों करते ? इन सारी बातों की उपेक्षा करते हुए यह कहना कि

---

१. द्रष्टव्य अध्याय १, श्लोक ३ ।

२. द्रष्टव्य अध्याय १, श्लोक १० ।

३. द्रष्टव्य अध्याय ४, श्लोक ५ ।

४. द्रष्टव्य प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खम्ड का प्रकृति और तीन गुण' नामक चतुर्थ अध्याय का पूर्वभाग ।

सांख्योक्त प्रकृति अवैदिक तत्त्व है, एकदेशीय मत ही माना जा सकता है[१] भले ही उसका प्रतिपादक **बादरायण**-कृत *वेदान्त-सूत्रों* में किया है, जिससे प्रकट होता है कि उपनिषदों के एक नहीं अपितु अनेक प्रकार के भेद-परक, अभेद-परक अथवा भेदाभेद-परक आदि व्याख्यान अत्यन्त प्राचीन काल से ही होते रहे हैं। इसलिए सूत्रकार का मत एकदेशीय ही माना जा सकता है। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उपनिषदों पर आधृत समस्त सम्प्रदायों में महर्षि बादरायण का वेदान्त सम्प्रदाय औपनिषद दर्शन की सर्वोत्तम व्याख्या प्रतीत होता है। पूर्वोक्त समस्त बातों का विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रुतियों में प्रकृति, जीव एवं ब्रह्म इत्यादि के विषय में आये हुए विचारों के एक नहीं अपितु अनेक प्रकार के व्याख्यान सम्भव ही नहीं अपितु सचमुच हुए भी हैं। अत्यन्त प्राचीन काल से ही अनेक विचारकों एवं मनीषियों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल अपने-अपने विशिष्ट सम्प्रदायों एवं मतों का विकास इन्हीं उपनिषदों से किया है। इनमें कुछ सम्प्रदाय कुछ बातों में श्रुतियों से स्वतंत्र रूप से भी विकसित हुए हैं। सांख्य इसी प्रकार एक विशिष्ट सम्प्रदाय है।

सांख्य को *छान्दोग्य* जैसे अत्यन्त प्राचीन तथा *श्वेताश्वतर* जैसे अपेक्षाकृत कम प्राचीन उपनिषदों के बीच की कड़ी मानने तथा उससे *श्वेताश्वतर* को प्रभावित मानने के लिए प्रकृति-विषयके सिद्धान्त के अतिरिक्त और भी एकाध साक्ष्य प्राप्त होते हैं। जैसे *श्वेताश्वतर* १.१४ में सबके अधिष्ठाता ब्रह्म का चक्र रूप से वर्णन किया गया है। वह चक्र इस प्रकार का है—

---

१. द्रष्टव्य एस्० सूर्य नारायण शास्त्री की भूमिका, पृ० ४ —In any case, it is not safe to assume that the antagonism of the Vedanta (of the Vedanta-sutras) to the Sankhya as a proof of the latter having arisen in antagonism to the former. And it may well be that Badarayana's evidence is that of a partisan.

तथैकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं, शताधार विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमूलम् ॥

इस मन्त्र का अर्थ यह है कि उन ब्रह्मवादियों ने उस ब्रह्म रूप चक्र को देखा जिसकी नेमि (अर्थात् नेमि के सदृश सबका आधार) है उसकी एकमात्र शक्ति या प्रकृति अथवा माया, जो सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों से घिरा हुआ है, ग्यारह इन्द्रियां तथा पञ्चभूत—ये सोलह विकार जिसके अन्त अर्थात् जिसके विस्तार की समाप्ति हैं, पांच प्रकार के विपर्यय या अज्ञान, अट्ठाईस प्रकार की अशक्ति, नौ प्रकार की तुष्टि तथा आठ प्रकार की सिद्धि—ये पचास जिसकी अरायें हैं, दस इन्द्रियां तथा उनके दश विषय—ये बीस जिसकी प्रत्यरायें है, आठ-आठ के छः गणों या समूहों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार के प्रकृत्यष्टक, त्वक्, चर्म, मांस, रुधिर, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्र के धात्वष्टक, अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व के ऐश्वर्याष्टक, धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य के भावाष्टक, ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और पिशाच के देवाष्टक तथा दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास (श्रम-राहित्य), मंगल, अकृपणता और अस्पृहा—इन आठ आत्म-गुणों के गुणाष्टक) से जो संयुक्त है, स्वर्ग, पुत्र, अन्न आधि अनेक रूप वाला 'काम' नामक जिसका एक ही पाश है, धर्म, अधर्म तथा ज्ञान नामक जिसके तीन भिन्न मार्ग हैं तथा जो पुण्य और पाप, दोनों के एकमात्र निमित्त मोह या अज्ञान से युक्त है। यह मन्त्रार्थ *शाङ्कर-भाष्य* के आधार पर दिया गया है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि इस मन्त्र में न केवल सांख्य दर्शन की संख्यात्मक वर्णन-शैली ही अपनाई गई है अपितु उसका वर्ण्य-विषय भी बहुत-कुछ लिया गया है। कम से कम प्रथम पंक्ति में आया हुआ वर्णन तो निस्सन्देह केवल सांख्य से ही सम्बद्ध है। एक अजा, उसके तीन गुण, सोलह विकार तथा पचास बुद्धि-कृत सर्ग तो एकमात्र सांख्य दर्शन के ही वर्ण्य विषय या पदार्थ हैं। इनके अतिरिक्त दस इन्द्रियां तथा उनके दस विषय भी अन्य शास्त्रों के विषय होने पर भी सांख्य शास्त्र की सृष्टि-प्रक्रिया के अनिवार्य अंग होने से उसके अपने विशिष्ट विषय हैं।

इसी प्रकार छः अष्टकों में भी धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य भावों का अष्टक, जो पूर्वोक्त पचास का विकल्प है, तथा देवाष्टक भी सांख्य के विशिष्ट विषय हैं। धात्वष्टक भी सांख्य में वर्णित है। फिर आगे के पांचवें मन्त्र में इसी ब्रह्म चक्र का नदी रूप में वर्णन है और यह वर्णन भी सांख्य की विशिष्ट संख्यात्मक शैली में ही किया गया है। इससे भी पूर्व निष्कर्ष ही दृढ़ होता प्रतीत होता है कि *श्वेताश्वतर* सांख्य की प्रक्रिया और पारिभाषिक पदावली से प्रभूत प्रभावित है। **प्रो० कीथ** इस विषय भेद को विशेष महत्त्व नहीं देते और उनकी दृष्टि में इसका सांख्य के पूर्वी होने में अनिश्चित है क्योंकि संख्यात्मक वर्णन बहुत कुछ ब्राह्मण-सम्प्रदायों से प्रभावित हैं।[१] **प्रो० कीथ** के द्वारा दिया गया यह हेतु समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि ब्राह्मण-सम्प्रदाय की श्रुति होने से *श्वेताश्वतर* के सारे सिद्धान्त, यहां तक कि सांख्य से प्रभूत प्रभावित अजा, सिद्धान्त भी मूलतः तथा प्रधान्यतः परम्परानुगत ही है, उस पर प्रभाव है तो सांख्य का जो श्रुति-मूलक होने पर भी श्रुति से स्वतंत्र है। संख्यात्मक वर्णन वस्तुतः सांख्य की विशेषता है। प्रथम अध्याय में स्पष्ट कर आये हैं कि जिस 'संख्या' शब्द से 'सांख्य' शब्द बना या निकला है, उसका 'विवेकबुद्धि' के अतिरिक्त 'तत्त्व-गणना' अर्थ भी अभिप्रेत है। *सांख्य-सूत्रों* का जो *तत्त्व-समास* नामक अत्यन्त लघु (केवल पचीस सूत्रों का) ग्रन्थ है, उसके पचीस सूत्रों में से बाईस में तत्त्वों का विवेचन-विश्लेषण संख्याओं में ही हुआ है। *सांख्यप्रवचनसूत्र* तथा *सांख्यकारिका* में भी पूर्वोक्त सारा विषय तो संख्याओं द्वारा प्रतिपादित है ही, अन्य अनेक बातें भी संख्याओं के ही माध्यम से प्रतिपादित हैं। अतः सांख्य दर्शन के संख्यात्मक वर्णन से *श्वेताश्वतर* का परम्परागत उपर्युक्त वर्णन ही प्रभावित कहा जाना चाहिए। जो जिस परम्परा का ग्रन्थ है, उसमें उसकी बातों का होना तो स्वाभाविक

---

१. द्रष्टव्य Sankhya system. p. 11—The worth of such identifications must be regarded as certain and no conclusive is afforded by them as plays on numbers are much affected by the Brahmanical schools.

ही है । जिस दूसरी परम्परा से किसी ग्रन्थ-विशेष की मूल परम्परा प्रभावित है, उसी को मूल परम्परा से प्रभावित हुई बताना और इस प्रकार उसके प्रामाण्य के विषय में सन्देह प्रकट करना उल्टी बात है । इस प्रकार यह निश्चित है कि *श्वेताश्वतर* के उपर्युक्त संख्यात्मक वर्णन में श्रौत परम्परा के तथ्यों के साथ जो सांख्य-परम्परा के तथ्य अत्यधिक मात्रा में मिलते हैं, वह निस्सन्देह सांख्य का ही प्रभाव है । इस कारण से **प्रो० गार्बे** का सांख्य को *श्वेताश्वतर* से पूर्ववर्ती मानना समुचित ही प्रतीत होता है । इस प्रकार का संख्या-परक वर्णन *बृहदारण्यक, छान्दोग्य* आदि पूर्ववर्ती उपनिषदों में तो मिलता नहीं जिससे कि सांख्य-गत प्रस्तुत वर्णन को वहां से लिया गया कहा जाय ।

सांख्य का त्रिगुणात्मक प्रकृति-सिद्धान्त *छान्दोग्य* में विद्यमान तोजोऽबन्न रूप त्रिविध जगत्-प्रकृति से विकसित हुआ है, यह स्थापना पूर्व में की जा चुकी है । सांख्य की पुरुष-विषयक कल्पना भी *छान्दोग्य, बृहदारण्यक* आदि से ही विकसित हुई है, यह बात निश्चित सी लगती है । यह तो सर्व-विदित बात है कि सांख्य दर्शन 'पुरुष' को परमार्थत: शरीर के समस्त धर्मों से रहित मानता है । शरीर के जन्म, जरा, व्याधि, अशनाया, पिपासा, मृत्यु इत्यादि कोई भी धर्म उसका स्पर्श तक नहीं करते । जन्म तथा मृत्यु से रहित होने के कारण ही सांख्य उसे अज और नित्य मानता है । सांख्य दर्शन सारा कारण-कार्य भाव अचित् त्रिगुणात्मिका प्रकृति में ही मानता है । प्रकृति के तीनों गुण प्रतिक्षण-परिणामी होने के कारण निरन्तर अनन्त कार्य, अनन्त परिणाम, अनन्त परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं । शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियादि सभी कुछ उसी त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परिणाम अथवा कार्य हैं । अत: परमार्थत: निर्गुण एवं परिणामी तथा शुद्ध चिद्रूप पुरुष इस सभी के जन्म, जरा, व्याधि, अशनाया, पिपासा आदि उपर्युक्त समस्त धर्मों से अस्पृष्ट एवं अछूता रहता है, ऐसी मान्यता सांख्य शास्त्र की है । यंह सब अन्यत्र सप्रमाण एवं सविस्तर प्रतिपादित करेंगे । पुरुष या आत्मा का ऐसा ही वर्णन *छान्दोग्य* में भी मिलता है । इस उपनिषद् के **एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्वि-**

शोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः.... (छान्दोग्य ८.१.५), **न व सशरीरस्य सतः प्रिया-प्रिययोपरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः** (छा० ८.१२.१) इत्यादि वचनों से यह बात सर्वथा प्रमाणित होती है। इसी प्रकार *बृहदाण्यक* के **एष ते आत्मा सर्वान्तरः। कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरः ? योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति** (३.५.१), **स यत्तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति, अशङ्गोह्ययं पुरुष इति** (४.३.१५), **तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम्** (४.३.२१) इत्यादि वचनों में भी आत्मा का वही स्वरूप वर्णित है जो सांख्य दर्शन में प्राप्त होता है। निस्सन्देह सांख्य में वर्णित स्वरूप से इन उपनिषदों में वर्णित आत्म-स्वरूप में प्रदर्शित साम्य या अभेद के साथ कुछ वैशिष्ट्य, अथवा वैषम्य भी प्राप्त होता है जो कि बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसे छान्दोग्य के सप्तम अध्याय में नारद जी के आत्मस्वरूपविषयक प्रश्न[1] करने पर अन्तिम उत्तर के रूप में भगवान् **सनत्कुमार** द्वारा कथित **अथात आत्मा देश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति। स ववा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः, स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।** (७.२५.२) इत्यादि वचनों में आत्मा के विभुत्व के अतिरिक्त उसके सुख-स्वरूप होने तथा निखिल विश्व के अद्वैत आत्मा से भिन्न कुछ भी न होने का वर्णन मिलता है, और इसी प्रकार *बृहदारण्यक* के **यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवा लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एते आत्मानः समर्पिताः, तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः** (२.५.१५१९), **न तु तद्द्वि-तीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्** (४.३.३२) इत्यादि वचनों में भी वही बात कथित है। तथापि इससे इस कथन का व्याघात नहीं होता कि सांख्य दर्शन ने जन्म,

---

१. द्रष्टव्य छान्दोग्य ७.१.३—

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि, नात्मवित्।

श्रुतं ह्येव मे भगवदृशेभ्यचस्तरति शोकमात्मविदिति।

सोऽहं भगवः शोचामि, तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति।

जरा, व्याधि, अशनाया, पिपासा, शोक, मोह, मृत्यु आदि से परमार्थत: परे अशङ्ग एवं अकर्ता आत्मा की कल्पना *छान्दोग्य* एवं *बृहदारण्यक* श्रुतियों के उपर्युक्त वचनों से ही ग्रहण की है । यद्यपि रुचि-भेद के कारण सांख्य ने एकत्व अथवा अद्वैत को अपने सिद्धान्त में अङ्गीकार नहीं किया, तथापि उसने समस्त आत्माओं के पारस्परिक एकत्व के कथन को वस्त्वेकत्व अथवा व्यक्त्येकत्व की दृष्टि से नहीं अपितु जात्येकत्व[१] अर्थात् चिन्मात्र की दृष्टि से किया गया माना और इस प्रकार श्रुतियों के साथ अपने 'पुरुष-बहुत्व' सिद्धान्त का समन्वय अथवा अविरोध अवश्यमेव प्रदर्शित किया । केवल 'पुरुष-बहुत्व' तक ही समन्वय का प्रयास सीमित रहा हो, ऐसी बात नहीं है । आत्मा के आनन्द-रूप होने के सम्बन्ध में जो श्रौत वचन प्राप्त होते हैं, उनके साथ भी अपने सिद्धान्त का समन्वय सांख्य ने यथाकथञ्चित किया ही । सांख्य पुरुष को चिन्मात्र मानता है, चिदानन्द रूप नहीं ।[२] अत आत्मा को आनन्द-रूप कहने वाले श्रौत वचनों को सांख्य ने दु:खाभाव का ही प्रतिपादक समझा । उसकी दृष्टि में एक ही आत्मा को चिद्रूप तथा आनन्द-रूप कहने से द्वित्व या भेद की आपत्ति होती है, अत: आत्मानन्द को दु:ख का अभाव-रूप ही मानना पड़ेगा । इस प्रकार सांख्य के अनुसार श्रुतियों के आनन्द-कथन का मुख्य अभिप्राय आत्मा को आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक नामक त्रिविध दु:ख-मात्र से सर्वथा शून्य अथवा रहित बताना ही है ।[३] अपने इसी स्वरूप की प्राप्ति मोक्ष है । दु:ख-विध्वंस रूप मोक्ष को श्रुति आनन्द-रूप इसलिए कहती है ताकि सांसारिक बन्धनों में पड़े हुए अज्ञ जन उसकी ओर आकृष्ट हों ।[४]

---

१. द्रष्टव्य सांख्यसूत्र १.१५४—नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्, सांख्य-सूत्र ५.६१—नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात् तद्भेदप्रतीते:, तथा ६.५१ —न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धे: ।

२. द्रष्टव्य ५.६६—नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ।

३. द्रष्टव्य ५.६७—दु:खनिवृत्तेर्गौण: ।

४. द्रष्टव्य ५.६८—विमुक्ति-प्रशंसा मन्दानाम् ।

इस समस्त विवेचन का सारांश यह है कि सांख्य दर्शन ने अपने प्रकृति और पुरुष, दोनों ही मूल-भूत तत्त्वों की कल्पना श्रुतियों से ही ली है। इतना ही नहीं, उसने यह भी प्रदर्शित करने का अनेकशः प्रयास किया है कि श्रुतियों के साथ न केवल उसका विरोध नहीं है, अपितु वास्तविक समन्वय या सामञ्जस्य भी है। उसका यह प्रयास भी सम्भवतः इसीलिए रहा है क्योंकि रुचि-भेद और दृष्टि-भेद से श्रुतियों को अत्यन्त प्राचीन काल से ही भिन्न-भिन्न प्रकार से समझा जाता रहा है और उन विभिन्न प्रकारों में यहां-वहां परस्पर मत-भेद, वैषम्य या विरोध अवश्य रहा है।

प्राचीन सांख्याचार्य—काल एवं कृतियां

कपिल

जैसा अभी पूर्व में कहा चा चुका है, सेश्वर साङ्ख्य की परम्परा ई० सन् के आरम्भ से कई शताब्दी पूर्व की ज्ञात होती है। परम्परा से इसके प्रवर्तक महर्षि **कपिल** माने जाते हैं। परन्तु *महाभारत, भागवत* उत्यादि प्राचीन ग्रन्थों में इनका विविध एवं परस्पर-विरोधी वर्णन प्राप्त होने के कारण अनेक विद्वान् इनके ऐतिहासिक व्यक्ति होने में ही सन्देह करते हैं। *महाभारत* में ही दो प्रकार के वर्णन मिलते हैं।[1] एक के अनुसार वे ब्रह्मा के पुत्र ठहरते हैं, तो दूसरे[2] के अनुसार अग्नि के अवतार। *भागवत*[3] के अनुसार नारायण के ही पञ्चम अवतार थे। *श्वेताश्वतर* के पूर्वोद्धृत **ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे** इत्यादि मन्त्र में आये हुये 'कपिल' पद से **भास्कराचार्य** इत्यादि ने हिरण्यगर्भ का ग्रहण किया है। क्योंकि **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्** इत्यादि पहले और बाद के अनेक मन्त्रों में ब्रह्मा को ही सर्वप्रथम उत्पन्न करके वेदादि का ज्ञान देने की बात कही गई है। योगसूत्र १.२५[4] की टीका में **वाचस्पति मिश्र** ने भी **कपिल** को हिरण्यगर्भ कहा है।

---

१. सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। कपिलश्चासुरिश्चैव वैदुः पञ्चशिखस्तथा॥ सप्तैते ब्रह्मणः पुत्राः......। महाभारत, शान्ति

२. कपिलं परमर्षिं च यं प्राहुर्यतयः सदा।
अग्निः स कपिलो नाम साङ्ख्ययोगप्रवर्तकः॥ —महाभारत शान्ति

३. पञ्चमे कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये साङ्ख्यं तत्त्वग्राम- विनिर्णयम्॥ —भागवत १।३।११

४. आदिविद्वान् कपिल इति।..... कपिलो नाम विष्णोरवतारविशेषः प्रसिद्धः। स्वयम्भूर्हिरण्यगर्भस्तस्यापि साङ्ख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते। स एवेश्वर आदिविद्वान्

इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध कथन पाकर **प्रो० कीथ** निष्कर्ष पर पहुंचे कि कपिल किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का नहीं अपितु हिरण्यगर्भ का ही नाम है, क्योंकि वे कहीं अग्नि, कहीं विष्णु तथा कहीं शिव के अवतार या रूप कहे गए हैं।[१] **मैक्समूलर** और **कोहब्रूक** भी इसी विचार के थे। महापहोपाध्याय **पं० गोपीनाथ जी कविराज** ने भी *जयमङ्गला* की भूमिका में **कपिल** के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सन्देह प्रकट किया है, यद्यपि उन्होंने **आसुरि** के प्रति कपिल के सांख्यविष्यक उपदेश को ऐतिहासिक माना है। महामहोपाध्याय **डा० हरदत्त शर्मा** ने भी पूर्वोक्त समस्त विवरण से यही निष्कर्ष निकाला है कि **कपिल** के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सबल प्रमाण नहीं मिलता[२]।

पर इन विद्वानों के इस निष्कर्ष पर श्रद्धा नहीं होती। इसका सबसे बड़ा कारण तो प्राचीन परम्परा है जो **महर्षि कपिल** को सिद्ध-श्रेष्ठ और सांख्यदर्शन का प्रथम उपदेष्टा मानती है। *गीता* में भगवान् कृष्ण ने अपने को सिद्धों में कपिल मुनि कहा है।[३] स्वामी **शङ्कराचार्य** ने भी कपिल को सांख्य का उपदेष्टा माना है। हां, इन्हें सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म करने वाले वासुदेव नामक वैदिक कपिल से भिन्न अवश्य बताया है।[४] *ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य* की टीका में **आनन्दगिरि** ने लिखा है कि वैदिक कपिल वे थे जिन्होंने महाराज सगर के साठ हजार पुत्रों को भस्म कर दिया था, अवैदिक को ही वैदिक सांख्य का प्रवर्तक कहा है। ध्यान देने की बात है कि पूर्व उद्धरणों में सांख्य के वैदिक या अवैदिक **कपिल** द्वारा उपदिष्ट होने के

कपिलो विष्णुः स्वयम्भूरिति भावः।
—योग १.२५ की तत्त्ववैशारदी।

१. द्रष्टव्य प्रो० कीथ का Sankhya System, पृ० ९

२. द्रष्टव्य सव्याख्यतत्त्वकौमुदी के पूना संस्करण की भूमिका, पृ० १०।

३. द्रष्टव्य गीता अ० १०, श्लोक २६।

४. द्रष्टव्य, ब्रह्मसूत्र २.१.१ पर शांकरभाष्य:—या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं दर्शयन्ती प्रदर्शिता, न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिलमिति श्रुतिसामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्ना स्मरणात्॥

विषय में ही मतभेद है, **कपिल** की सत्ता के विषय में नहीं। इससे स्पष्ट है कि कपिल काल्पनिक नहीं हो सकते। **सीॅल्टिरकार्ले** ने **मैक्समूलर** और **कोलब्रूक** के विचारों का खण्डन करते हुए अपने ग्रन्थ Sankhya Philosophy में लिखा है कि परम्परा से चला आता हुआ **कपिल** का नाम काल्पनिक नहीं माना जा सकता। **महर्षि कपिल** के विषय में प्राप्त प्राचीन वर्णन में **प्रो० कीथ** को जो विरोध प्रतीत होता है, उसके सम्बन्ध में यहां इतना ही वक्तव्य है कि सांख्य के उपदेष्टा **कपिल** किसी एक कल्प में ब्रह्मा या हिरण्यगर्भ के पुत्र, किसी दूसरे में अग्नि के अवतार तथा किसी और कल्प में कर्दम और देवहूति के पुत्र (भगवान् विष्णु के पंचम अवतार) भी हो सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। यह परिदृश्य कोई नई सूझ या कल्पना नहीं है। भारतीय परम्परा जानने वाले सज्जन भली-भांति जानते हैं कि रामावतार की आपाततः विरोधी कथायें विभिन्न कल्पों के विभिन्न रामावतारों की होने के कारण वस्तुतः परस्पर विरोधी नहीं मानी जाती। **कपिल** मुनि के प्रथम सांख्योपदेष्टा होने में **पञ्चशिख** का वह वचन सबसे प्रबल प्रमाण है जो व्यासदेव ने *योगसूत्र* १.२५ के भाष्य के अन्त में उद्धृत किया है—**आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच**। परन्तु कपिल को काल्पनिक मानने वाले कह सकते हैं कि प्रस्तुत उद्धरण के 'निर्माणचित्तमधिष्ठाय' पदों से यह बात स्पष्ट है कि **कपिल** मुनि चित्त-विहीन होने से मनुष्य-शरीर में पृथ्वी पर कभी वर्तमान नहीं थे, केवल जिज्ञासु **आसुरि** को सांख्य-तन्त्र का उपदेश देने के लिए उन्होंने योग-बल से चित्त का निर्माण कर लिया था। *योगभाष्य* की अपनी *वार्तिक टीका* में **विज्ञानभिक्षु** ने तो स्पष्ट कहा ही है कि 'सर्ग के आदि में आदि विद्वान् स्वयम्भू के रूप में उत्पन्न विष्णु ने ही योग-बल से चित्त में अंशतः प्रविष्ट होकर कपिल नाम से जिज्ञासु आसुरि को तत्त्व का उपदेश दिया था'[१]। पर इससे यह कहां ज्ञात होता है कि वे शरीरधारी नहीं थे। किसी न

---

१. द्रष्टव्य योगसूत्र १.२५ के व्यासभाष्य की 'वार्तिक' टीका:—आदि विद्वान् स्वयम्भूः सर्गादावाविर्भूतो विष्णुर्निर्माणचित्तं योगबलेन स्वनिर्मितं चित्तमधिष्ठाय स्वांशेन प्रविश्य कपिलाख्यपरमर्षिर्भूत्वा कारुण्याज्जिज्ञासवे आसुरये तत्त्वं प्रोवाचेत्यर्थः।

किसी प्रकार का शरीर बिना हुए निर्माण-चित्त का अधिष्ठान—आधार—क्या रहा होगा और तब उनका उपदेश देना कैसे सम्भव हुआ होगा। इससे तो यही कहना पड़ता है कि **कपिल मुनि** को काल्पनिक मानना उचित नहीं है। **महर्षि कपिल** की वास्तविकता का संक्षेपत: विचार कर चुकने पर स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि उनके द्वारा **आसुरि** को सांख्यशास्त्र का जो ज्ञान दिया गया, वह किस नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह ग्रन्थ आजकल का *सांख्य-प्रवचन-सूत्र* नामक छ: अध्यायों वाला ग्रन्थ ही तो नहीं था। अथवा यह बाइस सूत्रों का *तत्त्वसमास* नामक ग्रन्थ। अथवा वह ग्रन्थ सांख्य दर्शन का सर्वाधिक प्रसिद्ध किन्तु इस समय लुप्त-प्राप्य ग्रन्थ *षष्टितन्त्र* ही था। आज इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर देना असम्भ-प्राय है, क्योंकि इस विषय में प्राय: तो प्रामाण नहीं मिलते। जो एकाध मिलते भी हैं, वे परस्परविरोधी एवं बहुत बाद के होने से सर्वथा विश्वसनीय नहीं हैं। फिर भी यहां उनका विचार अप्रासङ्गिक अथवा आवांछनीय न होगा।

तत्त्वसमास की *सर्वोपकारिणी* नामक टीका के एक अवतरण से यह ज्ञात होता है कि *तत्त्व-समास* और *सांख्यप्रवचनसूत्र*—दोनों सूत्र-ग्रन्थों के कर्ता दो कपिल थे। तत्त्व-समास के रचयिता *कपिल भगवान्* विष्णु के अवतार तथा कर्दम और देवहूति के पुत्र थे, एवं *सांख्य-प्रवचन सूत्र* के रचयिता कपिल अग्निदेव के अवतार थे। वह अवतरण इस प्रकार है—**अथात्र अनादिक्लेशकर्मवासनासमुद्रपतिताननाथहीनानुद्दिधीर्षु: परमकृपालु: स्वत:सिद्धज्ञानो महर्षिर्भगवान् कपिलो द्वाविंशतिसूत्राण्युपादिक्षत्; सूचनात्सूत्रमिति हि व्युत्पत्ति:। तत एतै: समस्ततत्त्वानां सकलषष्टितन्त्रार्थानां सूचनं भवति, इतश्चेदं सकलसांख्यतीर्थमूलभूतं तीर्थान्तराणि च एतत्प्रपञ्चभूतान्येव। सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारभगवत्कपिलप्रणीता, इयं तु द्वाविंशतिसूत्री तस्या अपि बीजभूता नारायणावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धा:।** परन्तु **विज्ञानभिक्षु** के *सांख्यप्रवचन-भाष्य* से ज्ञात होता है कि दोनों ही सूत्र-ग्रन्थों के रचयिता भगवान् विष्णु के अवतार **महर्षि कपिल** ही थे। उन्होंने भाष्य में लिखा है—**ननु तत्त्वसमासाख्यसूत्रै: सहास्या: षडध्याय्या: पौनरुक्त्यमिति चेन्न, संक्षेपविस्तररूपेणोभयोरप्यपौनरुक्त्यात्, तत्त्वसमासाख्यं**

हि यत् संक्षिप्तं सांख्यदर्शनं, तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वचनमिति, एत एवास्याः षडध्याय्याः सांख्यप्रवचन संज्ञा सान्वया। इन दोनों में विरोध स्पष्ट है। इन दोनों ही से भिन्न पद्मपुराण का पूर्व उद्धृत वह मत है जिसमें कहा गया है कि वासुदेव कपिल ने भृगु इत्यादि महर्षियों को वैदिक सांख्य का उपदेश दिया और दूसरे कपिल ने वेद-विरुद्ध सांख्य का प्रचार किया[१]। ऐसी स्थिति में निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि उपलब्ध सांख्य-सूत्र कपिल की ही कृति हैं, या नहीं।

अनेक विद्वान् कई कारणों से इन्हें कपिल-कृत नहीं मानते। सर्वप्रथम कारण तो यही है कि इनमें कई सूत्र दूसरे ग्रन्थों से लिए गए हैं। ब्रह्मसूत्र ४.१.१ **(आवृत्तिरसकृदुपदेशात्)** सांख्यप्रवचनसूत्र ४.३ है, योग-सूत्र २.४६ **(वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः)** सांख्यप्रवचनसूत्र २.३३ है। इसी प्रकार पच्चीसवीं सांख्यकारिका की **सात्त्विकमेकादशकम्** इत्यादि है। इसके और कई अंश सूत्रों में उद्धृत है।[२] दूसरा मुख्य कारण यह है कि इन सूत्रों में **पञ्चशिख** के मत का उल्लेख है। जैसे सां०प्र० सूत्र ५.३२ **आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः** तथा ६.६८ **अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः** है। यदि सांख्यप्रवचन-सूत्र सचमुच कपिल-कृत ही है तो इनमें शिष्य के शिष्य पञ्चशिख के मत कैसे उद्धृत हुए। तीसरा प्रमुख कारण यह है कि इन सांख्य-सूत्रों को किसी भी प्राचीन ग्रन्थकार ने उद्धृत नहीं किया है। अपने *ब्रह्मसूत्र-भाष्य* में **शङ्कराचार्य** ने कहीं भी सांख्यसूत्रों को उद्धृत नहीं किया है। *सांख्यकारिका* की टीका *तत्त्वकौमुदी* में **वाचस्पति मिश्र** ने **पञ्चशिख, वार्षगण्य** इत्यादि को तो उद्धृत किया है, पर **कपिल** को नहीं। यदि ये सूत्र महर्षि कपिल द्वारा रचित मौलिक सूत्र होते तो प्राचीन आचार्य परम सिद्ध ऋषि के सूत्रों को उद्धृत न करके उनकी अपेक्षा *ईश्वरकृष्ण* जैसे सामान्य मानव की कृति को क्यों उद्धृत न करने जाते। चौदहवीं शताब्दी के **माधवाचार्य** तक ने भी अपने षड्दर्शन-संग्रह में

---

१. ब्रह्मसूत्र २.१.१ के नोट में डा० वेल्वाकर द्वारा उद्धृत।

२. दसवीं कारिका की प्रथम पंक्ति "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्" सां० प्र० सूत्र १.१२४, एवं २९वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति" सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च" सा० प्र० सूत्र २.३१ है।

कारिकाओं को ही उद्धृत किया है, सूत्रों को नहीं । सूत्रों के सबसे पुराने टीकाकार **अनिरुद्ध** १५०० ई० के आस-पास हुए थे । अत: कई के अनुसार इनकी रचना १३८० ई० से १४०० ई० के बीच हुई होगी । पर इसके विपरीत **पं० उदयवीर शास्त्री** ने **अनिरुद्ध** को १०५० ई० का तथा उपलब्ध सांख्य-सूत्रों को कपिलरचित सिद्ध किया है । उनका कथन है कि इनमें अनेक सूत्र प्रक्षिप्त हैं, अथ: उनके आधार पर समूचे सूत्र-ग्रन्थ की अर्वाचीनता नहीं सिद्ध की जा सकती । इसका विस्तृत विवेचन और खण्डन **डा० हरदत्त शर्मा** की भूमिका के पृ० २२-२५ पर द्रष्टव्य हैं ।[१]

आसुरि

कपिल के शिष्य आसुरि की भी ऐतिहासिकता के विषय में मद-भेद है । **पं० गोपीनाथ जी कविराज** इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं ।[२] । **कीथ**[३] इन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने के विरुद्ध हैं । **गार्वे**[४] भी प्रायेण इसी मत के हैं पर उन्होंने इतना अवश्य कहा है कि यदि सांख्य से सम्बद्ध **आसुरि** ऐतिहासिक हैं तो ये अवश्य ही *शतपथ ब्राह्मण* में उल्लिखित *आसुरि* से भिन्न हैं । **प्रो० कीथ** का मत मान्य नहीं हो सकता । **हरिभद्र सूरि** जैसे प्राचीन आचार्य जिनका समय ७२५ ई० के लगभग है, ने अपने षड्दर्शनसमुच्चय में

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदय: स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

---

१. द्रष्टव्य ओ० बु० ए० पूना से प्रकाशित सांख्यतत्त्वकौमुदी की भूमिका पृ २२ । यह मत डा० शर्मा ने गार्वे के Sankhya And Yoga नामक ग्रन्थ (पे० ८,९) से उद्धृत किया है ।

२. द्रष्टव्य सांख्यकारिका की जयमंगला टीका की कविराज जी द्वारा लिखित भूमिका, पृ ३ ।

३. द्रष्टव्य ग्रन्थ Sankhya System, पृ ४७, ४८ ।

४. वही, पृ २,३ ।

श्लोक को **आसुरि** के नाम से उद्धृत किया है । इसका अर्थ यह है कि **आसुरि** के ऐतिहासिक होने और कोई ग्रन्थ लिखने का सम्प्रदाय ७०० ई० से भी प्राचीन है । **हरिभद्र सूरि** के समय से भी कई शताब्दी पूर्व के *महाभारत*[१] में भी **आसुरि** को **पञ्चशिख** का गुरु कहा गया है । **मुनि कपिल** के सम्बन्ध में *भागवत* के पुर्व उद्धृत श्लोक (भाग० १.३.११) में भी **आसुरि** को भगवदवतार सिद्धेश कपिल मुनि से कालविप्लुत सांख्य-ज्ञान प्राप्त करने की बात कही गई है । *माठर-वृत्ति*[२] में भी **आसुरि** को न केवल कपिलाचार्य का शिष्य कहा गया है अपितु गृहस्थ-धर्म तथा पुत्र, स्त्री इत्यादि को छोड़कर शिष्य बनना बताया गया है । इस सारी परम्परा के विपरीत उन्हें अवास्तविक मानना-सर्वथा अनुचित ही लगता है । दु:ख है कि उनकी कोई कृति आज उपलब्ध नहीं है ।

पञ्चशिख

पञ्चशिख की ऐतिहासीकता का विरोध किसी ने भी नहीं किया है । अभी पीछे **आसुरि** के पञ्चशिख के गुरु होने के विषय में *महाभारत* का उल्लेख किया गया है । उसमें **पञ्चशिख** को 'पञ्चरात्रविशारद' कहा गया है । यह कथन कुछ विचित्र सा लगता है क्योंकि **पञ्चशिख** तो सांख्य के आचार्य थे । वैसे बाह्य दृष्टि से इसका परिहार यह कह कर भी किया जा सकता है कि **पञ्चशिख** *पञ्चरात्र* या *भागवत-सम्प्रदाय* के भी ज्ञाता हो सकते हैं । इसमें विचित्रता क्या है परन्तु आन्तरिक या सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जायगा कि इस कथन से पञ्चशिख के 'पञ्चरात्र-विशारद' कहे जाने के रहस्य का उद्‌घाटन नहीं होता क्योंकि यो तो सभी आचार्य और विशेषत: पञ्चशिख की कोटि के उच्चतम आचार्य अपने समय के

---

१. द्रष्टव्य शान्तपर्व अ० २१८—आसुरेः प्रथमं शिष्यं यमाहुश्चिरजीविनम् । पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चरात्रविशारदः । पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिखः स्मृतः ॥

२. द्रष्टव्य, माठरवृत्ति चौ० सं० सीरीच प्रकाशन, पृ० २—स एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्रदारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव ।

किसी एक नहीं, अपितु प्राय सभी प्रमुख सम्प्रदायों के ज्ञाता होते ही हैं । अतः रहस्य क्या हो सकता है । *योगभाष्य* में *व्यास* ने तथा *सांख्यतत्त्वकौमुदी* में **वाचस्पति मिश्र** ने **पञ्चशिख** का सर्व-प्रसिद्ध वचन **स्यात् स्वल्पः सङ्करः, सपरिहारः, सप्रत्यवमर्षः, कुशलस्य नापकर्षायालम् । कस्मात्, कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति** उद्धृत किया है । इस वचन से **पञ्चशिख** का हिंसा-विषयक यह मत ज्ञात होता है वेदों के द्वारा विहित यज्ञों में अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा भी पाप—अपुण्य उत्पन्न करती है और उसका दुःखादि फल, चाहे वह यज्ञादि कृत्यों के फल-भूत सुख के समक्ष कितना भी अकिञ्चित्कर या नगण्य क्यों न हो, स्वर्ग में भी भोगना पड़ता है, वेदबाह्य अविहित हिंसा का तो कहना ही क्या । इस प्रकार उसके मत से अहिंसा ही मानव का सर्वाधिक कल्याण करने वाला तत्त्व है और यही सिद्धान्त *पाञ्चरात्र* या *भागवत सम्प्रदाय* में विहित आचार की आधारशिला है, यही पाञ्चरात्र मत की समस्त साधना का रहस्य एवं उस साधना की सफलता का मूलमन्त्र है । अतएव वेदों के यज्ञादि कर्म को श्रेयः साधना, अतश्च करणीय मानते हुए भी उसकी अपेक्षा अहिंसा को ही ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा मोक्ष-प्राप्ति में सर्वाधिक हितकर और अनिवार्य मानने के कारण ही **आचार्य पञ्चशिख** को 'पञ्चरात्र-विशारद्'-पाञ्चरात्र के गूढ तत्त्व का ज्ञाता—कहा गया होगा । आगे सांख्य में यही सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ । **ईश्वरकृष्ण** का वैदिक यज्ञों के विषय में **दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयादिशययुक्तः** इत्यादि कथन भी **आचार्य पञ्चशिख** की इसी मान्यता का समर्थक है, और मीमांसकों के एतद्विषयक मत के विरुद्ध **तद्विपरीतः श्रेयान्** इत्यादि सांख्य-मत की स्थापना करता है । योग में भी अहिंसा को ही मुख्य सार्वभौम कर्म माना गया, जैसा कि योग के आठ अंगों में प्रमुख पञ्चविध[१] यमों में भी अहिंसा को प्रथम स्थान देने से स्पष्ट है । यहां तक कि अहिंसा और सत्य के पारस्परिक विरोध के अवसर पर अहिंसा की

---

१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः । यो० सू० २.३० ॥

ही मुख्यता मानी गयी है, जैसा *योगसूत्र* २.३० के *व्यासभाष्य* [१] से स्पष्ट है। *भागवत*-धर्म के साथ सांख्य और योग के सम्बन्ध का यही रहस्य है[२]

पञ्चशिख के अन्य मुख्य सिद्धान्त *योगभाष्य, भामती* इत्यादि ग्रन्थों में उद्धृत वाक्यों से ज्ञात होते हैं। ये *पाञ्चशिख सूत्र* कहे जाते हैं। इसमें से कुछ (मुख्य) ये हैं:—(१) **एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्** [योग० १.४]। (२) **तमणुमात्रमात्मानमविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते** [योग १.३६]। (३) **बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिमोहेन** [योग २.६]। (४) **तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः** [योग० १.१७, ब्रह्मसूत्रभाष्य-भामती २.२.१०] (५) **अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते** [योग० २.२०]

इसके अतिरिक्त दो प्रमुख उद्धरण पूर्व में दिये जा चुके हैं। ये सूत्र किसी ग्रन्थ के अंग थे या यों ही पृथक् रूप से कथित थे ? इस प्रश्न का आज उत्तर मिलना कठिन है; क्योंकि **पञ्चशिख** का लिखा कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। चीनी परम्परा के अनुसार प्रसिद्ध *षष्टितन्त्र* के रचयिता **पञ्चशिख** ही थे। इस मत के विपरीत **पं० रामावतार शर्मा** आदि के मतानुसार *षष्टितंत्र* के रचयिता **वार्षगण्य** थे। *योगसूत्र* ४/१३ के *व्यास-भाष्य* में 'तथा च शास्त्रानुशासनम्' शब्दों के साथ'

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायककुटुम्बकम्'

---

१. एषा (यथार्थाऽपि वाक्) सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय, यदि चैवमप्यभिधीयमानभूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत्, तेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टतमं प्राप्नुयात्, तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्"।

२. द्रष्टव्य पं० बलदेव उपाध्याय का भारतीय दर्शन नामक ग्रन्थ।

श्लोक उद्धृत हैं । 'तथा च शास्त्रानुशासनं' में **वाचस्पति मिश्र** ने 'अत्रैव षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टिः' किया है । उनके इसी लेख के आधार पर वे इस श्लोक को *षष्टितन्त्र* का बताते हैं । फिर *ब्रह्मसूत्र* २/१/३ पर लिखते हुए *भामती* में इसी श्लोक को **अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताऽऽहं स्म भगवान् वर्षगण्यः**—इन शब्दों के साथ उद्धृत किया है । इससे वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि **वाचस्पति मिश्र** के मत से *षष्टितन्त्र* **वार्षगण्य** का ही लिखा हुआ था । परन्तु **वार्षगण्य** के नाम से *भामती* में उद्धृत श्लोक के 'मायेव' के स्थान में 'मायैव' पाठ है । साथ ही दोनों स्थलों में उद्धृत श्लोकों के वाचस्पति-कृत-अर्थों में भी भेद है । ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव है कि **वाचस्पति मिश्र** के उपर्युक्त लेखों का यह तात्पर्य रहा हो कि 'मायेव' पाठ वाला श्लोक तो मूलतः *षष्टितन्त्र* का है परन्तु **वार्षगण्य** ने थोड़े पाठ-भेद के साथ उसे अपने ग्रन्थ में अपना लिया । ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि **वाचस्पति मिश्र** के अनुसार *षष्टितन्त्र* के रचयिता **वार्षगण्य** थे । यह तो तभी सम्भव था जब वे *योग-भाष्य-टीका* में *षष्टितन्त्र* शास्त्र के साथ में **वार्षगण्य** का नाम देते । **पं० गोपीनाथ कविराज** का मत है कि **वाचस्पति मिश्र** को *षष्टितन्त्र* का साक्षात् परिचय नहीं प्राप्त था ।[१] परन्तु **पं० रामावतार शर्मा** का मत है कि उन्हें इस ग्रन्थ का साक्षात् ज्ञान था ।[२] इससे ऐसा ज्ञात होता है कि शर्मा जी तो *षष्टितन्त्र* के सम्बन्ध में **वाचस्पति मिश्र** का प्रामाण्य स्वीकार करने के पक्ष में है परन्तु कविराज जी नहीं । *जयमङ्गला* की भूमिका में कविराज जी ने अपना यह विचार स्पष्ट भी किया है । *जयमङ्गला* में आये हुए षष्टितन्त्र-विषयक उल्लेखों के आधार पर **प्रो० हिरियन्ना** भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह ग्रन्थ **पंचशिख** का है, **वार्षगण्य** का नहीं । एक तीसरा मत इस सम्बन्ध में और है । *ब्रह्मसूत्र* २/१/१ पर भाष्य लिखते हुए **भास्कराचार्य** ने **कपिलमहर्षिप्रणीतषष्टितन्त्राख्यस्मृतेः** इत्यादि लिखा है

---

१. द्रष्टव्य जयमङ्गला की भूमिका, पृ० ४,७ ।

२. द्रष्टव्य सांख्यतत्त्व कौमुदी की बलराम-कृत विद्वत्तोषिणी, पे० २२६ । अवधेय है कि बलराम उदासीन की मृत्यु के कारण १६ कारिका के बाद की विद्वत्तो षिणी महा. पं. रामावतार शर्मा द्वारा लिखी गई है ।

जिससे स्पष्ट है कि उनके मत से *षष्टितन्त्र* के रचयिता **कपिल मुनि** थे। **उदयवीर शास्त्री**[१] और **कालीपद भट्टाचार्य**[२] भी इस मत के हैं।

षष्टितन्त्र का एक और उद्धरण *सांख्यकारिका* १७ के *गौडपाद-भाष्य* तथा *माठर-वृत्ति* में मिलता है। **परमार्थ** के चीनी अनुवाद में भी यह मिलता है। यह उद्धरण[३] गद्य में है। इन दोनों के अतिरिक्त एक ही उद्धरण और बचता है जो ५० वी कारिका के *गौडपाद-भाष्य* तथा *माठर-वृत्ति* में आया है और जिसके विद्वान में सामान्य धारणा है कि यह *षष्टितत्त्व* का होगा, यद्यपि भाष्य और वृत्ति दोनों में से किसी में भी यह बात स्पष्ट नहीं कही गयी है, केवल 'शास्त्रान्तरे' और 'ग्रन्थान्तरे' शब्दों के द्वारा ही यह उद्धरण[४] प्रस्तुत किया गया है। यह भी गद्य में है। इस प्रकार अभी तक न तो यही सर्वथा निश्चित हो पाया है कि *षष्टितन्त्र* का कर्ता कौन था और न यही कि यह ग्रन्थ गद्य में था या पद्य में ! इस द्विविध अनिश्चयात्मकता का उल्लेख **डा० वेल्वाल्कर**[५] किया है।

जैगीषव्य

महर्षि जैगीषव्य पर-योगी एवं प्रसिद्ध सांख्योपदेशक के रूप में *महाभारत* में एक से अधिक स्थल में उल्लिखित है। उसमें ऐसा उल्लेख है कि **जैगीषव्य** ने

---

१. द्रष्टव्य,Proceedings of The Oriental Coneference Lahore, II पे० ८८२।

२. द्रष्टव्य, 'Some Problems Of Sankhya Philosophy and Sankhya Literature, I. H. Q. Sept १९०२, पे० ५१९, २०।

३. द्रष्टव्य,का० गौडपाद-भाष्यः—'तथा चोक्तं षष्टितन्त्रे—पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते'।

४. द्रष्टव्य, का ५० का गौडपाद-भाष्यः—एवमाध्यात्मिकबाह्यभेदान्नव तुष्टयः तासां नामानि शास्त्रान्तरे प्रोक्तानि—'अम्भः सलिलं, मेयो वृष्टिः सुतमः पारं सुनेत्रं नारीकमनुत्तमाम्भसिकम् इति।

५. द्रष्टव्य, भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पे० १२७ पर डा० वेल्वाल्कर का Matharavritti and the date of Ishwarkrishna नामक लेख

आसित देवल के सम्मुख अपना योग-सिद्धि का प्रदर्शन किया था और रुद्र तथा उमा को भी छकाया था ।[1] **देवल** ने सांख्य-ज्ञान **जैगीषव्य** से ही प्राप्त किया था यह बात *महाभारत* के शान्ति पर्व से स्पष्ट होती है । **प्रो० क्रीथ** ने लिखा है कि *कूर्म पुराण* के दर्शन के अनुसार **जैगीषव्य पञ्चशिख** के सहाध्यायी थे ।[2] **पञ्चशिख** के अति दीर्घजीवी होने के कारण उनके अन्तिम दिनों में **जैगीषव्य** का साथ होना बहुत असम्भव नहीं है । *बुद्धचरित* १२/६७ में *जैगीषव्य, जनक* और *वृद्धपराशर* का प्राचीन सांख्य योगाचार्यों के रूप में उल्लेख हुआ है । **जैगीषव्य** का नाम महाभारत १२/११७८ में दी गई सांख्याचार्यों की नामावली में भी आया है । इतना ही नहीं, महाभारत १२/८४/३१ में **जैगीषव्य** का मत भी संक्षेप में उल्लिखित है । **डा० जानसन** का कथन[3] है कि *बुद्ध-चरित* १/४६-४७ से शील की आवश्कता पर जोर देने के साथ योग का जो वर्णन आरम्भ हुआ है, वह *महाभारत* १२/८४/२१ में दिये गये **जैगीषव्य** के मत का संक्षेप कहा जा सकता है । *योगसूत्र* २/५५ के *व्यास-भाष्य* में चार प्रकार के इन्द्रिय-जय बताये गये हैं । इनमें चौथा **जैगीषव्य** के नाम से उद्धृत है ।[4] **भाष्यकार** ने पहले तीनों की अपेक्षा इसी चौथे को 'परम' कहा है उनके मत से इन्द्रियों की सूत्रकार द्वारा कथित 'परमवश्यता' का अभिप्राय यही चौथे प्रकार का इन्द्रिय जय है । इस प्रकार स्पष्ट है कि **महाभारत** और *व्यास-भाष्य* में **जैगीषव्य** योग के विषय में परम प्रमाण माने गये हैं । प्रथम शताब्दी के *बुद्ध-चरित* में तो प्राचीन योगाचार्यों में इनका उल्लेख है ही । इससे स्पष्ट है कि ये भी **वार्षगण्य** की भाँति प्रथम शताब्दी ईसवी के बहुत पूर्व हुए होंगे । वस्तुतः ये महाभारत-काल से ही पर्याप्त प्राचीन आचार्य थे ।

---

१. महाभारत शान्ति-पर्व ।

२. द्रष्टव्य, Sankhya System, पृ० ५१ ।

३. द्रष्टव्य डॉ० जानसन का Early Shankhya पृ० ९ ।

४. द्रष्टव्य योगभाष्य २/५५:—चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः, ततश्च परमा त्वियं वक्ष्यता यच्चित्तविरोधे निरुद्धानि इन्द्रियाणि, नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ।

वार्षगण्य

षष्टितन्त्र पर विचार करते समय पहले कहा जा चुका है कि कुछ विद्वानों के अनुसार **वाचस्पति मिश्र** के मत से *षष्टितन्त्र* के रचयिता यही थे। परन्तु यह कई कारणों से अनिश्चित है, जैसा पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। पूर्वोक्त उद्धरण के अतिरिक्त इनका एक और उद्धरण भी *योग-भाष्य* (३/५३) में आया है, जो इस प्रकार है—**मूर्तिव्ययत्रिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वम्** ४७ वीं सांख्यकारिका की टीका में **वाचस्पति मिश्र** ने इनका एक और उद्धरण-दिया है। *तत्त्वकौमुदी* की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—**यदविद्यया विपर्ययेणावधार्यते वस्तु, अस्मितादयस्त-त्स्वभावाः सन्तस्तदभिनिविशन्ते। अतएव "पंचपर्वाऽविद्या" इत्याह भगवान् वार्षगण्यः।** १७ वीं *सांख्य-कारिका* के *गोडपाद-भाष्य* में *षष्टितन्त्र* के उद्धरण के रूप से दिये गए, **पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते** को **प्रो० कीथ** ने **वार्षगण्य** का कथन कहा है।[1] पर उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि उनके इस कथन का आधार क्या है? **प्रो० कीथ** के इस कथन से तो प्रथम मत ही पुष्ट होता है कि *षष्टितन्त्र* के रचयिता *वार्षगण्य* ही थे। बौद्ध दार्शनिक **अश्वघोष** के *बुद्धचरित* १२/३३ में **वार्षगण्य** ईसवी प्रथम शताब्दी के अन्त में होने वाले अश्वघोष से बहुत पूर्व होंगे,[2] क्योंकि अपने ग्रन्थ में सांख्य-योग के उन्हीं आचार्यों और उनके विशिष्ट मतों का उल्लेख अश्वघोष ने किया होगा जो उनके समय में सांख्य-योग के प्रामाणिक

---

१. द्रष्टव्य, प्रो० कीथ का Sankhya System, पे० ७३।

२. द्रष्टव्य, डा० जानसन का Early Sankhya, पे० ९१:—"It appears that Buddha, XII, gives us in outline the teaching of the chief school of Sankhya and Yoga, those of Varshaganya and Pancashikha in the form in which they were prevalent in the first century, A.D., so that the origin of these schools must be placed at a more remote date than is often done by scholars.

आचार्य गिने जाते रहे होंगे । आगे १२/६७ में **जैगीषव्य, जनक** एवं **पंचशिख**[१] का उल्लेख होने से इस अनुमान की पुष्टि होती है ।

परमार्थ के चीनी अनुवाद के **अय्यास्वामी शास्त्री** कृत संस्कृत रूपान्तर में सांख्य की पुरुषपरम्परा इस प्रकार दी गई है:—**इदं ज्ञानं कपिलादासुरेरायतम्। आसुरिणा पंचशिखस्योपदिष्टम्। पंचशिखेन गार्ग्यस्योपदिष्टम्। गार्ग्यणोलूकस्योपदिष्टम्। उलूकेन वार्षगणस्य। वार्षगणेन ईश्वरकृष्णस्य। एवं क्रमेण ईश्वरकृष्ण इदं ज्ञानमलभत**[२] इसके अनुसार **वार्षगण ईश्वरकृष्ण** के गुरु थे । **अय्यास्वामी शास्त्री** के मतानुसार वार्षगण और महाभारत के 'वार्षगण' का ग्रहण किया है, यह है 'पो-पो-ली' । ऐसा करने में **शास्त्री** जी ने **डा० तकाकुसु** का अनुसरण किया है । जिस विधि से **डा० तकाकुसु** ने 'पोपोली' से वार्ष या वार्षगण का ग्रहण किया है वह **शास्त्री** जी के शब्दों में इस प्रकार है:—

वार्षगण = वार्षगण्य of the epic the term 'वार्ष' is transliterated in to Chinese as 'po-po-li'. Takakusu says that 'po-ti,so' may be read for 'po-poli' He further explains thus: All those who are familiar with the Chinese Buddhist works, know that 'po' is often written for 'So', or vice versa, Suppose we have here this misplace, and also 'so-li' has been taken for 'li-so' by

---

१. द्रष्टव्य, महाभारत, शान्तिपर्व—पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसम्मतः। १२/३२०/३४ (चित्रशाला संस्करण, १२३९)
[धर्मध्वज जनक to योगिनी सुलभा]
Who is said to be in सत्ययुग:—
अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता।
महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥
[१२/३२०/१६] [कृतयुगे-सत्ययुगे नीलकण्ठी]

२. द्रष्टव्य, चीनी अनुवाद का संस्कृत रूपान्तर, पृ० ९८ ।

such interversion that presents itself frequently. In that case, we obtain 'po-li-so' which may be restored in to वार्ष or वर्ष"[१] [Vide his introduction, pp. ५९-६०]

डा० तकाकुसु ने 'पो-पो-ली' से **वार्षगण्य** का ग्रहण करने में जो क्लिष्ट कल्पना की है, उसका आधार उन्हें **परमार्थ**-कृत *वसुबन्धुचरित* में लिखा। इसमें लिखा है कि **विन्ध्यवास** नामक सांख्य दार्शनिक के गुरु **वार्षगण्य** थे। **परमार्थ** ने अपना ग्रन्थ **कुमारजीव** के *वसुबन्ध-चरित* के आधार पर रचा था। **कुमारजीव** ने **वार्षगण** एवं **विन्ध्यवास** के साम्प्रदायिक सम्बन्ध का उल्लेख किया होगा। उनकी वास्तविकता को न समझते हुए **परमार्थ** ने उनको साक्षात् अध्यापक और शिष्य समझ लिया। अन्यत्र-**विन्ध्यवास** को हिरण्यसप्तति नामक ग्रन्थ का रचयिता कहा है। चीनी परम्परा के अनुसार *हिरण्यसप्तति सांख्य सप्तति* या *सांख्य-कारिका* का ही दूसरा नाम है इस प्रकार **विन्ध्यवास** एवं **ईश्वरकृष्ण** एक ही व्यक्ति हुए। एवं **वार्षगण ईश्वरकृष्ण** के गुरु हुए। परन्तु वह कल्पना अन्य तथ्यों के अतिरिक्त इस निश्चित तथ्य के कारण भी ध्वस्त हो जाती है कि **विन्ध्यवास** एवं सांख्यदर्शन के अन्तर्गत उनकी विशिष्ट विचार-धारा अथवा विशिष्ट सम्प्रदाय के गुरु या प्रवर्तक **आचार्य वार्षगण्य,** दोनों का ही **ईश्वरकृष्ण** से अनेक सिद्धान्तों के विषय में महान् मत-भेद है, जैसा कि अगले प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। वास्तव में पो-पो-ली-**कपिल** का वाचक प्रतीत होता है, जैसा कि **पं० उदयवीर शास्त्री** का सुझाव है। **महर्षि कपिल ईश्वरकृष्ण** के गुरु उसी अर्थ में हैं। जिसमें अभी **वार्षगण्य विन्ध्यवास** के कहे गये हैं। **ईश्वरकृष्ण कपिल** द्वारा प्रवर्तित एवं **पञ्चशिख** आदि द्वारा संवर्द्धित मुख्य सांख्यीय विचार-धारा के अनुयायी थे, वह तथ्य आगे स्पष्ट किया जायगा।

वार्षगण्य के नाम से सम्बद्ध कुछ विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—

(१) मूर्तिव्ययत्रिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः।

---

१. द्रष्टव्य वही, पृ० ३८, पादें-टिप्पणी सं० २। फार्म—२

[योगभाष्य ३/५३]

(२) गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥ [योगभाष्य ४/१३]

थोड़े पाठ-भेद (मायैव) के साथ यही श्लोक *ब्रह्मसूत्रभाष्य* २/१/३ की *भामती* में भी उद्धृत है ।

(३) **सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्यक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम्।** [न्यायवार्तिक—१/१/५]

(४) **'पंचपर्वा अविद्या' इत्याह** भगवान् **वार्षगण्यः ।** [सांख्यतत्त्वकौमुदी, का० ४७]

(५) **श्रौत्रादिवृत्तिरिति वार्षगणाः** [युक्तिदीपिका, पृ० ३९]

(६) **तथा च वार्षगणाः**[१] **पठन्ति "तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, सत्त्वात्। अपेतमत्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं तीक्ष्णाच्चानुपलब्धिः। तस्माद् व्यक्तापगमो विनाशः। न तु द्विविधः—आसर्गप्रलयात् तत्त्वानां किञ्चित्कालान्तरावस्थानादितरेषाम्" इति।** [युक्तिदीपिका पृ० ६७]

(७) **तथा च** भगवान् **वार्षगण्यः पठति—"ख्यातिशयः इत्यतिशमाश्च विरुध्यन्ते, सामान्यानि स्वतिशयैः सह वर्तन्तः"** [युक्ति०, पृ० ७२] यही उद्धारण थोड़े पाठ-भेद के साथ *योगभाष्य* २/१५ एवं ३/१३ में भी पठित है जिसे **वाचस्पति मिश्र** एवं **विज्ञानभिक्षु**, दोनों ने ही **पंचशिख** का वचन कहा है । सम्भवतः

---

१. ध्यान देने की बात है कि 'वार्षगण' सर्वत्र बहुवचन में पंठित है । और वार्षगण्य एक वचन में । इससे ऐसा लगता है कि 'वृषगण' शब्द से यञ् प्रत्यय जुड़ने पर बना हुआ 'वार्षगण्य' शब्द वृषगण के पुत्र या वंशज किसी प्रसिद्ध आचार्य का वाचक है, एवं दोनों में ही 'तदधीते तद्वेद' अर्थ में ञप्रत्यय जुड़ने पर बना हुआ 'वार्षगण्य' शब्द उनके अनुयायियों का वाचक है । इस प्रकार 'वार्षगणाः' के नाम पर उद्धृत मत भी 'वार्षगण्य' के ही समझे जाने चाहिये ।

वार्षगण्य ने **पंचशिख** के वचन को थोड़े पाठ-भेद के साथ अपना लिया इसी प्रकार संख्या ४ का 'पञ्चपर्वा अविद्या' उद्धरण भी मूलतः **तत्त्वसमाससूत्र** १२ है। अतः यह भी **वार्षगण्य** द्वारा अपनाया गया प्रतीत होता है।

(८) **तथा च वार्षगणा पठन्ति—"बुद्धिवृत्त्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनानुवर्तमाना-मनुयाति पुरुषः" इति।** [युक्ति, पृ० ९५]

(९) **तथा च वार्षगणाः पठन्ति—"प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृह्य-माणाऽऽदिसर्गे वर्तते" इति।** [युक्ति० पृ० १०२]

(१०) **वार्षगणानां प्रधानात् महानुत्पद्यते।** [युक्ति० पृ० २०८]

(११) **एकरूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये, एकोत्तराणीति वार्षगण्यः।** [युक्ति०, पृ० १०८]

(१२) **करणानां महती स्वभावातिवृत्तिः प्रधानात् स्वल्पा च स्वतः इति वार्षगण्यः।** [युक्ति० पृ० १०८]

(१३) **करणम्...एकादशविधम् इति वार्षगणाः।** [युक्ति०, पृ० १३३]

(१४) **यदि यथा वार्षगणा आहुः लिङ्गमात्रो महानसंवेद्यः कार्यकारणरूपेण-विशिष्टो विशिष्टसम्बन्धेन यथा स्यान् तत्त्वान्तरम्।** [युक्ति०, पृ० १३३]

(१५) **साधरणो हि महान् प्रकृतित्वात् इति वार्षगणानां पक्षः।** [युक्ति०, पृ० १४०]

(१६) **वार्षगणानां तु यथा स्त्रीपुंशरीराणामचेतानानामुद्दिश्येतरेतरप्रकृतिस्-तथा प्रधानस्येत्यर्थं दृष्टान्तः।** [वृष्टि, पृ० १७०]

इसमें से अनेक उद्धरण **वार्षगण** की विचार-धारा को **कपिल** की प्रसिद्ध विचार-धारा से अनेक बातों में पृथक् या भिन्न-सिद्ध करते हैं। अपने प्रकरण में **विन्ध्यवास** के विशिष्ट मत के साथ इसका विचार किया जायगा।

विन्ध्यवास

मेधातिथि ने अपने *मनुस्मृतिभाष्य* (१/५५) में *विन्ध्यवास* के मत का इस प्रकार उल्लेख किया है—**सांख्या हि केच्चिन्नान्तरायवमिच्छन्ति विन्ध्यवासभृतयः।** *श्लोकवार्तिक* में जो **अन्तरायवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना**—ऐसा उल्लेख मिलता है। *त्रिकाण्डशेष* और *हैम कोश* में आये हुए उद्धरणों के आधार पर **तनुसुखराम** ने *माठर-वृत्ति*[1] की अपनी भूमिका में **विन्ध्यवास** को **व्याडि** से अभिन्न एवं नन्द का तत्कालीन कहा है। यदि वह ठीक हो तो इनका समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी होना। परन्तु **अश्वघोष** ने अन्य सांख्याचार्यों के साथ इनका उल्लेख नहीं किया है, अतः इनका ईसवी सन् के पूर्व का होना बहुत संदिग्ध जान पड़ता है।

चीनी परम्परा के अनुसार **विन्ध्यवास** ने *हिरण्यसप्तति* सांख्य-कारिका की टीका है। परन्तु **कविराज जी** ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि *जैन-ग्रन्थ अनुबोध-द्वारसूत्र* में ब्राह्मण-धर्म के ग्रन्थों की एक सूची मिलती है। जिसमें एक अन्य *कनवसत्तरि* (कनक-सन्तति) भी है जो मेरे विचार से *सुवर्ण सप्तति* या *हिरण्य-सप्तति* ही है और चीन में यह *सांख्य-सप्तति* का ही प्रचलित नाम है।"[2] अब यदि चीनी परम्परा और *कविराज जी* का निष्कर्ष, दोनों ही ठीक हों तो अनिवार्य रूप से यही निष्कर्ष निकले कि *विन्ध्यवास* और *ईश्वर कृष्ण* एक ही व्यक्ति हैं, ऐसा *डा० तकाकुसु* भी मानते हैं। परन्तु **कविराज** जी **डा० तकाकुसु** के इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि सम्भवतः **विन्ध्यवास** ने सांख्य सिद्धान्त का संशोधन किया और **वसुबन्धु** ने **विन्ध्यवास** के इस संशोधित ग्रन्थ के खण्डन में अपना परमार्थ सप्तति ग्रन्थ लिखा था। परन्तु **ईश्वर कृष्ण** की **विन्ध्यवास** के साथ अभिन्नता प्रतिपादित करने के लिए कोई समुचित आधार नहीं प्रतीत होता। यदि यह सत्य है कि *माठरवृत्ति* ही चीनी अनुवाद का मूल संस्कृत रूप है और यदि माठर

---

१. द्रष्टव्य, चौखम्बा सं० सिरीज में प्रकाशित माठरवृत्ति की भूमिका, पृ० ३।

२. द्रष्टव्य, जयमङ्गला की भूमिका, पृ० ७।

महाराजा कनिष्क के शासन-काल में अथवा उसके आस पास विद्यमान थे, तो **ईश्वर कृष्ण** का समय अवश्य ही कुषान-काल से पर्याप्त पूर्व होना चहिये । इस प्रकार **डा० तकाकुसु** द्वारा प्रस्तावित अभिन्नता में काल-विपर्यय बाधक होगा क्योंकि **तकाकुसु** ने **विन्ध्यवास** को ईसवी पञ्चम् शताब्दी के मध्य में रखता है । इसके अतिरिक्त दोनों की अभिन्नता इसलिए भी मान्य नहीं हो सकती क्योंकि **श्लोक-वार्तिक** (पृ०-२९३ तथा २७४), **योगसूत्र** ४/२२ की **भोजवृत्ति**, मनु० ११४ के **मेधातिथि-भाष्य, स्याद्वादमंजरी** (चौ० संस्करण, पृ० ११७), तथा **सर्वदर्शनसंग्रह** की **गुणरत्नटीका** (पृ० १०२ तथा १०४) में उपलब्ध **विन्ध्यवास** के विशिष्ट विचार **ईश्वरकृष्ण** के विचारों के साथ कुछ महत्त्वपूर्ण बातों में संयत नहीं होते ।[१] **कविराज** जी का मत सर्वथा समीचीन है । **ईश्वरकृष्ण** एवं **विन्ध्यवास** कदापि एक नहीं हो सकते ।

विन्ध्यवास के समय के विषय में इतना वक्तव्य है कि चूंकि **परमार्थ** के अनुसार **विन्ध्यवास वसुबन्धु** के समकालिक, यद्यपि अवस्था में उनसे बड़े थे और **वसुबन्धु** को **डा० वेल्वलकर** के अनुसार २८० ई० से ३६० ई० के बीच रखा जा सकता है,[२] अत: **विन्ध्यवास** का समय भी ३०० ई० के आस-पास हो सकता है । किन्तु जैसा पूर्व उद्धरण से स्पष्ट है, **डा० तकाकुसु** के अनुसार **विन्ध्यवास** का समय ईसवी पाँचवी शताब्दी का मध्य है । बौद्ध परम्परा के अनुसार वही समय ठीक जान पड़ता है । **वसुबन्धु,** जिन्होंने अपने गुरु **बुद्धमित्र** को शास्त्रार्थ में पराजित करने वाले सांख्याचार्य **विन्ध्यवास** के सांख्य शास्त्र का खण्डन करने के लिए अपना *परमार्थसप्तति* नामक ग्रन्थ लिखा, एवं जो प्रसिद्ध योगाचार-संस्थापक **असंग** के छोटे भाई थे, **स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य** (४५५-४८० ई०) के समसामयिक थे । अत:

---

१. द्रष्टव्य वही ।

२. द्रष्टव्य डा० वेल्वल्कर का लेख, पृ० १८१ :—"The general trend of the evidence is for assigning Vasubandhu somewhere between A. D. 280 and 360, and Vindhyavasa by all accounts was Vasubandhu's older contemporary'.

उनका समय लगभग ४२० से ५०० ई० तक माना जाता है ।[१] इस प्रकार **विन्ध्यवास** का समय पंचम शताब्दी के मध्य तक सिद्ध होता है अर्थात् इनका समय चतुर्थ शतक का अन्तिम पाद तथा पञ्चम का पूर्वार्ध रहा होगा । जैसा ऊपर कह चुके हैं, **ईश्वरकृष्ण** निस्सन्देह इनसे भिन्न थे एवं कई शताब्दी पूर्व हुए थे ।

विन्ध्यवास सांख्यदर्शन के अन्तर्गत **वार्षगण्य** की विशिष्ट विचार-धारा अथवा परम्परा के अनुयायी थे, जब कि **ईश्वरकृष्ण महर्षि कपिल**-द्वारा प्रवर्तित एवं **आसुरि, पञ्चशिख** आदि के द्वारा पोषित एवं संवर्धित मुख्य धारा या परम्परा के अनुयायी थे । ७१ वीं *सांख्यकारिका* में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि तत्त्वज्ञान की जो पवित्र धारा **कपिल मुनि** ने **आसुरि** के प्रति बहाई और जिसे उनके शिष्य **पञ्चशिख** ने अपनी प्रतिभा से बहुरूप एवं विविध बनाया, उसे ही कालांतर में शिष्य परम्परा द्वारा प्राप्त करके **ईश्वरकृष्ण** ने सत्तर आर्यायों द्वारा अत्यन्त संक्षिप्त कर दिया । **विन्ध्यवास** के जो उद्धरण अथवा उनके मत के सम्बन्ध में अन्य आचार्यों या लेखकों की जो उक्तियाँ संस्कृत के दार्शनिक साहित्य में प्राप्त होती हैं, उनके आधार पर सांख्यदर्शन की मुख्य धारा, जिनके अनुयायी या पोषक **ईश्वरकृष्ण** थे, से उनका वैषम्य अथवा भेद जाना जा सकता है । वे उद्धरण इस प्रकार हैं:—

(१) **सन्दिह्यमानसद्भाव वस्तुबोधात् प्रमाणता ।**
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना ॥ (श्लोक वा० पृ०. ३९३)

(२) **अन्तराभयदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना ।**
तदस्तित्वे प्रमाणं हि न किञ्चिदवगम्यते ॥(वही, सूत्र ५ पर श्लोक ६२)

(३) **यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद् दधीति च**
वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिना ॥ (वही, पृ० २२)

---

१. द्रष्टव्य, Encyclopaedia of Religion and Ethics में Dr. Wogihare, प्रोफेसर, टोकियो विश्वविद्यालय, का लेख, पृ० ५९५-९६ ।

(४) **प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमनुमानं विशेषतोदृष्टमनुमानमित्येवं विन्ध्यवासिना गदितम्।** (वही, पृ० ४२३)

(५) **सारूप्यं सादृश्यं विन्ध्यवासीष्टम्।** (वही, पृ० ६३६)

(६) **विन्ध्यवासिनस्तु "पूर्वव्यक्त्यवच्छिन्नपूर्णव्यक्तौ प्रतीयमानसामान्यमेव सादृश्यम्, तदेकशब्दवाच्यम्" इति मतम्।** (साहित्य-मीमांसा, पृ० ४३)

(७) **सांख्या अपि केचिन्नान्तराभवुमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभृतयः।** (मनु० १/५ का मेघातिथि-भाष्य)

(८) **अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम्—"सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम्" इति।** (योगसूत्र ४/२२ की भोजवृत्ति)

(९) **श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका इति विन्ध्यवासिप्रत्यक्षलक्षणम्।** (सिद्धसेनदिवाकर-कृत 'सन्मतितर्क' की अभयदेवसूरि-कृत व्याख्या, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर ग्रन्थावली संस्करण, पृ० ५३३)

(१०) विन्ध्यवासी त्वेवं भोगमाचष्टे—

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥ इति। (हरिभद्रसूरि-कृत षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्नसूरि-कृत व्याख्या, रायल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता संस्करण, पृ० १०४)

(११) **महतः षडविलेपाः सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्रण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमतम्।** (सांख्यकारिका की व्याख्या युक्तिदीपिका, पृ० १०८)

(१२) **इन्द्रियाणि...विभूनीति विन्ध्यवासिमतम्।** (वही, पृ २०८)

(१३) **अधिकरणमपि...एकादशकमिति विन्ध्यवासी।** (वही, पृ २०८)

(१४) **तथान्येषां महति सर्वार्थोपलब्धिः, मनसि विन्ध्यवासिनः ।** (वही, पृ २०८)

(१५) **सङ्कल्पाभिमानाध्यवसायनानात्वमन्येषाम्, एकत्वं विन्ध्यवासिनः ॥** (वही, पृ २०८)

(१६) **विन्ध्यवासिनस्तु विभुत्वादिन्द्रियाणां बीजदेशे वृत्त्या जन्म, तत्त्यागो मरणम्, तस्मान्नास्ति सूक्ष्मशरीरं, तस्मान्निर्विशेषः संसार इति पक्षः** (वही पृ० १४४)

(१७) **विन्ध्यवासिनस्तु नास्ति तत्त्वसमं सांसिद्धिकं च । किं तर्हि ! सिद्धि-रूपमेव । तत्र परमर्षेरपि सर्गसंघातव्यूहोत्तरकालमेव ज्ञानं निष्पद्यते, यस्माद् गुरुमुखाभिप्रतिपत्तेः प्रतिपत्स्यते इति । अपीत्याह—सिद्धं निमित्तं नैमित्तिकस्यानुग्रहं कुरुते पापपूर्णमुत्पादयतीति । निमित्तनैमि-त्तकभावस्यैवमुपपद्यते ।** (वही, पृ० १४८)

पीछे दी गई वार्षगण्य के उद्धरणों के सूची के साथ इस सूची की तुलना करने पर यह तथ्य प्रकट होता है कि दोनों की सं० १३ के उद्धरणों मे एक ही सिद्धान्त कथित है और वह यह है कि करण ग्यारह प्रकार के होते हैं, जब कि *सांख्य सूत्र* [करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ॥ २/३८] एवं *सांख्यकारिका* [करणं त्रयोद-शविधं उदाहरणधारणाप्रकाशकरम्.... ॥ ३२], दोनों ही में तेरह करणों का सिद्धान्त कथित हैं । इसी प्रकार इस सूची की संख्या ९ तथा पिछली की संख्या ५ के उद्धरणों में प्रत्यक्ष प्रमाण का ही लक्षण, दिया गया है, जो सांख्य-सूत्रों तथा सांख्य कारिकाओं के लक्षणों से भिन्न हैं । इसी प्रकार अनुमानादि के लक्षणों एवं अन्य बातों में भी **वार्षगण्य** एवं **विन्ध्यवास** में परस्पर एकमत्य तथा दोनों का *सांख्य-सूत्रों* तथा *सांख्य-कारिकाओं* से वैमत्य दिखाई पड़ता है । इससे स्पष्ट है कि **वार्षगण्य** और **विन्ध्यवास** का **ईश्वरकृष्ण** से अनेक बातों में वैमत्य या भेद है । इससे पूर्व प्रतिपादित इस तथ्य का भी समर्थन होता है कि न तो **वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण** के गुरु थे और न ही **विन्ध्यवास** उनसे अभिन्न । **वार्षगण्य** और **ईश्वरकृष्ण** के अभिन्न

होने पर मतभेद होना असम्भव था। गुरु और शिष्य में तो थोड़ा मतभेद हो भी सकता है, पर यही व्यक्ति एक ही विषय में परस्पर अभिन्न अथवा एक ही होने का खण्डन करने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि जहाँ **ईश्वरकृष्ण** सूक्ष्म शरीर की सत्ता स्पष्ट एवं सबल शब्दों में प्रतिपादित करते हैं (द्रष्टव्य का० ३९, ४०) वहाँ **विन्ध्यवास** उसका निषेध अथवा खण्डन करते हैं (द्रष्टव्य सं० २ एवं ७ के उद्धरण)। इस सबसे यह बात सर्वथा निश्चित होती है कि ईश्वरकृष्ण और **विन्ध्यवास** सर्वथा भिन्न व्यक्ति थे। इससे **डा० तकाकुसु** एवं **लोकमान्य तिलक** आदि विद्वानों का एतद्विषयक विरुद्ध या भिन्न मत सर्वथा असंगत ही लगता है।

ईश्वरकृष्ण

पूर्व विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि **ईश्वरकृष्ण** सांख्य के मूल प्रवर्तक **कपिल** द्वारा प्रचारित एवं **आसुरि-पञ्चशिख** आदि द्वारा संवर्धित मुख्य सांख्यीय विचारधारा के अनुयायी थे एवं उसकी एक विशिष्ट धारा के पोषक **आचार्य वार्षगण्य ईश्वरकृष्ण** से कई शताब्दी पूर्व तथा उस धारा के अनुयायी **विन्ध्यवास** उनके पर्याप्त पश्चात् हुए थे। यह बात स्पष्ट कर आए हैं कि **विन्ध्यवास** का समय बौद्ध परम्परा तथा **डा० तकाकुसु** के अनुसार ईशवी पञ्चम शतक के मध्य तक तथा **वेल्वल्कर** के अनुसार तृतीय शतक के मध्य के समीप सिद्ध होता है, एवं **ईश्वरकृष्ण** का समय कुशन-काल अर्थात् ईसवी प्रथम शतक के अन्त में पर्याप्त पूर्व सिद्ध होता है। इस प्रकार **ईश्वरकृष्ण विन्ध्यवास** से पर्याप्त पूर्व के प्रतीत होते हैं। **ईश्वरकृष्ण** की कुशन-काल से पर्याप्त पूर्ववर्तिता केवल उनके टीकाकार **माठर** के कनिष्क के शासन-काल में रक्खे जाने पर ही आधारित नहीं हैं, अपितु इस सुदृढ़ तथ्य पर भी आधारित है कि आधुनिक विद्वानों द्वारा ईसवी प्रथम शतक का अनुमान किए जाने वाले प्राचीन जैन-ग्रन्थ *अनुबोधद्वारसूत्र* में कनवसत्तरी (संस्कृत 'कनक-सप्तति') नामक ग्रन्थ का उल्लेख हैं,[१] जो पं० गोपीनाथ कविराज, **पं० उदयवीर**

१. द्रष्टव्य, अनुयोगद्वारसूत्र का ४१ वाँ सूत्र।

शास्त्री तथा अन्य अनेक विद्वानों के अनुसार **ईश्वरकृष्ण** का **सांख्यसप्तति** वा **सांख्यकारिका** नामक ग्रन्थ ही है । जब **विन्ध्यकास** का समय किसी भी प्रकार से २५० ई० से पूर्व का नहीं हो सकता किन्तु इसके विपरीत **ईश्वरकृष्ण** का समय कई आधारों पर १०० ई० से पर्याप्त पूर्व का सिद्ध होता है, तब **ईश्वरकृष्ण** का **विन्ध्यवास** से कई शताब्दी पूर्व का सिद्ध होता है, तब **ईश्वरकृष्ण** का **विन्ध्यवास** से कई शताब्दी पूर्व का होना ध्रुव सत्य है । किन्तु इसके विपरीत कुछ विद्वान् **ईश्वरकृष्ण** को **विन्ध्यवास** से परवर्ती आचार्य मानते हैं । *जर्नल आफ़ इण्डियन हिस्ट्री*, भाग ६ के पृ० ३६ पर मुद्रित अपने एक लेख में **श्रीयुत विनयतोष भट्टाचार्य** ने *ईश्वरकृष्ण* को *विन्ध्यवास* से परवर्ती सिद्ध करने में यह हेतु दिया है कि **ईश्वरकृष्ण** ने सम्पूर्ण सांख्य-अर्थों को प्रस्तुत करने के लिए रचित केवल ७२ आर्याओं के संक्षिप्त ग्रन्थ में तीन आर्या में सूक्ष्म शरीर के ही प्रतिपादन में लिखी हैं, जिससे प्रकट होता है कि इनके द्वारा वे **विन्ध्यवास** द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म शरीर के निषेध या अभाव का खण्डन करना चाहते हैं । किन्तु **भट्टाचार्य** महोदय का यह कथन नितान्त असत्य है । न तो सूक्ष्म शरीर का वर्णन ही तीन कारिकाओं में है और न सूक्ष्म शरीर का वर्णन प्रस्तुत करने वाली ४० वीं कारिका में विरोधी मत के खण्डन की भावना ही ध्वनित होती है । इसमें तो विषय का केवल साधारण रूप में वर्णन है, जैसा कि अन्य कारिकाओं में अन्यान्य विषयों का । ऐसी स्थिति में **भट्टाचार्य** महोदय का कथन अप्रामाणिक एवं असत्य ही कहा जाएगा ।

ऊपर **कविराज जी** इत्यादि विद्वानों के अनुसार *कनकसप्तति* के *सांख्यकारिका* से अभिन्नग्रन्थ होने का प्रसिद्ध किया जा चुका है । इसके विपरीत **डा० वेल्वल्कर** का मत है कि ईश्वरकृष्ण-रचित *सांख्यकारिका* या *सांख्यसप्तति* का *हिरण्यसप्तति, सुवर्णसप्तति* या *कनकसप्तति* नाम नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है । **भोज**-कृत *राजमार्तण्ड* नामक योगसूत्र-वृत्ति में ४/२२ सूत्र पर **विन्ध्यवास** के दो वाक्य[१] उद्धृत हैं, जिनकी रचना से प्रतीत होता

---

१. 'सत्त्वतप्यत्वमेव पुरुषतप्यत्वम् । 'बिम्बे' प्रतिबिम्बिमानच्छायासदृशच्छायान्तरोद्भवः प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते' ।

है कि वह व्याख्या-ग्रन्थ रहा होगा । इसी लिए यह अधिक सम्भव है कि **ईश्वरकृष्ण** की कारिकाओं पर **विन्ध्यवास** ने *हिरण्यसप्तति* नामक व्याख्या लिखी हो ।[१] *हिरण्यसप्तति* नाम के सम्बन्ध में **डा० वेल्कल्कर** का सुझाव है कि सांख्य के मौलिक सिद्धान्तों में से एक 'हिरण्य' या 'हिरण्यगर्भ' के आधार पर *सांख्यकारिका* का नाम *हिरण्यसप्तति* हो सकता है । **वेल्वल्कर** महोदय का मत समीचीन नहीं जान पड़ता, क्योंकि सांख्य में इस प्रकार का कोई भी सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं हुआ है । ऐसी स्थिति में **कुई-ची** (Kuei-chi) का यह कथन ही अधिक सम्भव एवं समीचीन प्रतीत होता है कि *सांख्य-सप्तति* के रचयिता को स्वर्ण भेंट किए जाने का साधन होने के कारण इसी ग्रन्थ के *हिरण्यसप्तति, कनकसप्तति, सुवर्ण-सप्तति* नाम भी पड़ गए होंगे । **विन्ध्यवास** के उद्धरण पीछे संगृहीत हैं, वे किसी व्याख्या-ग्रन्थ के नहीं त्रात होंगे । **विन्ध्यवास** के उद्धरण पीछे संगृहीत हैं, वे किसी व्याख्या-ग्रन्थ के नहीं ज्ञात होते, और सांख्य-सप्तति की व्याख्या के तो और भी नहीं, क्योंकि सांख्य-सप्तति एवं **विन्ध्यवास** के कई उद्धरणों के विषयों में महान् वैषम्य या भेद दिखाई पड़ता है । यदि यह मान भी लिया जाए कि **विन्ध्यवास** का ग्रन्थ **ईश्वरकृष्ण** की *सांख्य-सप्तति* की व्याख्या थी तब तो **डा० वेल्वल्कर** को भी वह बात माननी पड़ेगी कि वह व्याख्या गद्य में लिखी गई रही होगी क्योंकि योगवृत्ति में उद्धृत विन्ध्यवास-वचन गद्यात्मक ही हैं । जब व्याख्या गद्य में रही होगी, तब उसका *हिरण्य-सप्तति* नाम कैसे समञ्जस का वचन होगा, क्योंकि 'सप्तति' वह वचनात्मक शब्द गद्य के सम्बन्ध से कदापि-कदापि समीचीनतया प्रयुक्त नहीं कहा सकता । भला गद्य की भी कही पद्यवत् गणना हो सकती है ? इससे वही निष्कर्ष निकलता है कि *हिरण्यसप्तति* विन्ध्यवास-कृत व्याख्या का नाम नहीं अपितु *सांख्य-सप्तति* या *सांख्यकारिका* का ही नामान्तर रहा होगा ।

डा० तकाकुसु ने *सांख्य-कारिका* और उसकी संस्कृत टीका, जो **परमार्थ** कृत चीनी अनुवाद का मूल रूप कही जाती है, दोनो का कर्ता **ईश्वरकृष्ण** ही माना है ।

---

१. द्रष्टव्य, भण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ, पृ० १७६-७७ ।

चीन और जापान की परम्परा में सामान्यतः **ईश्वरकृष्ण** को कारिकाकार तथा **बोधिसत्त्व वसुबन्धु** को टीकाकार मानते हैं ।[१] परन्तु जैसा आगे स्पष्ट किया जायगा, **अय्यास्वामी शास्त्री** ने इन दोनों ही मतों को निराधार माना है और ऐसा ठीक ही किया है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सांख्य-कारिकाओं की संख्या के सम्बन्ध में भी उठाया जाता है । यों तो स्वयं ग्रन्थकार ने ही जन्म के अन्त[२] में कारिकाओं की संख्या सत्तर बताई है और उनका स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध होने पर इस विषय में किसी प्रकार की शंका के लिए स्थान नहीं रह जाता । किन्तु चूंकि वर्तमान रूप में इस ग्रन्थ में सांख्य-सिद्धान्त विषयक ६८ ही कारिकायें उपलब्ध हैं, ६९ वीं कारिका में इस सिद्धान्त के कपिलोपदिष्ट होने की बात कही गई है, ७० वीं कारिका में सांख्यशास्त्र की गुरु-परम्परा दी गई है, शेष दो कारिकायें प्रस्तुत ग्रन्थ के ही विषय में कही गई है जो यह बताती हैं कि **ईश्वरकृष्ण** ने शिष्य-परम्परा से प्राप्त हुए सांख्य-शास्त्र को सत्तर ही कारिकाओं में संक्षिप्त करके रख दिया है और इसमें *षष्टितन्त्र* का सारा विषय आ गया है, केवल इसके आख्यान और परमत-खण्डन छोड़ दिए गये हैं, अतएव संख्या-विषय शंका होती है । अब यदि इन ग्रन्थ की सारी कारिकायें ली जाय तो इसकी संख्या ७२ होती हैं और यदि केवल सांख्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली कारिकायें ली जाय तो संख्या ६८ ही होती हैं । तब फिर प्रश्न वह है कि ७० वीं कारिका कौन सी है ? ७२ वीं कारिका पर विचार करने से स्पष्ट होता

---

१. द्रष्टव्य अय्यास्वामी की भूमिका, पे० ३४—Chinese and Japanese writers attribute generally Sankhyakarika to Ishwarakrisna and the commentary to Bodhisattva Vasubandhu, and believe that the Bodhisattva wrote the commentary when he took up the refutation of the erroneous doctrines of Sankhya philosophy.

२. द्रष्टव्य, कारिका ७२:—

सप्तत्यां किन येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥

है कि कारिकाकार ने जो ७० संख्या दी है, वह उन्हीं कारिकाओं की ही है जो *षष्टितन्त्र* में आए हुए सांख्य-ज्ञान का प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार अन्तिम दो कारिकायें तो स्पष्ट ही उन ७० के बाहर हैं। अब रही ७० वीं कारिका जिसमें सांख्य का गुरु-सम्प्रदाय उल्लिखित हैं, सिद्धान्त-प्रतिपादन विषयक न होने के कारण अनेक विद्वान् इसे भी ७० के अन्तर्गत नहीं मानते। अतः उनका मत है कि एक कारिका कहीं बीच से लुप्त हो गई है।

इस प्रश्न को सर्वप्रथम **लोकमान्य पं० बाल गंगाधर जी तिलक** ने उठाया था, और ६१ वीं कारिका के गौडपाद साधन में विषयान्तर देखकर वे इस निर्णय पर पहुंचे थे कि उक्त भाष्य एक नहीं दो कारिकाओं का है और वह दूसरी कारिका इसी ६२ वीं कारिका के साथ होनी चाहिये। वह विषयान्तर गौडपाद-भाष्य के ही शब्दों में इस प्रकार हैं:—

केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा॥'
अपरे स्वभावकारणका ब्रुवते—
'केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः।
स्वभावेनैव. . . . . ॥ इति।

अत्र सांख्याचार्या प्राहुः—'निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन्? कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव? तस्मात् प्रकृतेर्मुच्यते। तथा शुक्लेऽभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति, कृष्णेभ्यः कृष्ण एव इति। एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते। निर्गुणः ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति। तथा केषांचित् कालः कारणमिति, उक्तञ्च—

'कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत्।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः"॥ इति।

व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणं, स्वभावोऽपि अत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणं, नापि स्वभाव इति। तस्मात् प्रकृतिरेव कारणं, न प्रकृतेः कारणान्तरमस्तीति ॥ इस भाष्य के आधार पर **तिलक** जी ने लुप्त कारिका का जो स्वरूप निर्धारित किया, वह इस प्रकार है—

कारणमीश्वरमेके ब्रुवते कालं परे स्वभावं वा।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

उनके मत में इस कारिका का सन्दर्भ जो ठीक बैठ जाता है । **डा० हरदत्त शर्मा** ने **तिलक** जी के पूर्वोक्त तर्क का समर्थन बड़े प्रबल शब्दों में किया है और पं० सूर्यनारायण शास्त्री के एतद्विरोधी तर्क का खण्डन किया है ।[१] पर उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया कि किसी भी मौलिक ग्रन्थ के किसी भाष्य में विषयान्तर प्राप्त होने पर से ही उसके तद्विषयक किसी खंड के लुप्त होने का निश्चय नहीं हो जाता, जब तक उसके पक्ष में अन्य सबल प्रमाण न हों, फिर **तिलक** जी ने इस तर्क का कि 'लुप्त कारिका का पूर्वापर सन्दर्भ ठीक बैठ जाता है' **डा० शर्मा** ने भी समर्थन नहीं किया। शायद इसलिए कि इसका समर्थन किया ही नहीं जा सकता था। कारिकाकार के ५३ वी कारिका से लेकर ६१ वीं कारिका तक के कथन का एकमात्र विषय नहीं है कि "प्रकृति-कृत सर्व केवल पुरुष के भोग एवं तदन्तर विवेकज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त कराने के लिए हैं और ज्यों ही प्रकृति में पुरुष का यह अर्थ या कार्य सम्पन्न किया, त्यों ही वह उसकी ओर से निवृत्त हो जाती है और फिर कभी भी उसकी दृष्टि में नहीं आती क्योंकि वह उस परम लज्जालु सुकुमारी कुलांगना से अधिक लज्जालु है जो किसी पुरुष के द्वारा एक बार देख ली जाने पर सर्वथा उसकी दृष्टि बचाती है।" इस सन्दर्भ में उपर्युक्त कारिका की संगति कैसे बैठेगी जिसमें ईश्वर, काल, स्वभाव आदि की सृष्टिकारणता के निराकरण के साथ प्रकृति

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यतत्त्वकौमुदी का जो० बु० ए० पूना का संस्करण, संस्कृत मंच, पे०-७३-७४।

के कारण-बाद का समर्थन किया गया है ? इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि ६१ वीं कारिका का *गौडपादभाष्य* विषयान्तर है तो उसके आधार पर बड़ी गई तथाकथित ६२ वीं कारिका भी विषयान्तर, और वह भी मूलग्रन्थ से, प्रस्तुत करती है और इन दोनों में से मूल ग्रन्थ से होने वाला विषयान्तर ही अधिक अक्षम्य होगा। अत: **तिलक जी** एवं **डा० शर्मा** का कथन निराधार प्रतीत होता है। इसके निराधार होने का एक अन्य कारण यह भी है कि यदि वर्तमान ७० वीं कारिका सिद्धान्त प्रतिपादन-विषयक न होने से ७० के अन्तर्गत नहीं गिनी जा सकती, तो फिर वर्तमान ६९ वीं कारिका भी उसी कारण से ७० के अन्तर्गत नहीं गिनी जा सकती और उसी स्थिति में एक और कारिका तिलक सदृश किसी मनीषी को ढूंढनी होगी।

अब प्रश्न यह है कि ७० वीं कारिका कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में विनम्र निवेदन है कि जो कारिका-ग्रन्थ आज-कल उपलब्ध हैं, उसमें प्राप्त होने वाली ७० वीं कारिका को ही *सांख्यकारिका* की ७० वीं कारिका मानना युक्तियुक्त है। सन् १६२३ ई० के *इण्डियन ऐण्डीक्वैरी* के जुलाई वाले अंक में **श्रीधर शास्त्री पाठक** ने इस विषय पर जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे बड़े संगत हैं। उनके लेख का अन्तिम भाग इस प्रकार हैं:—

"Having thus stated our grounds for the rejection of the proposed Karika, we shall now briefly show that it is not necessary to have any Karika at all to make up the number seventy. The seventieth Karika, as it stands, gives the Guruparampara, as is often the practice in old works. Thus the वृह्दारण्यक concludes with a chapter that gives a fairly long list of succession from preceptor to pupil. The षष्टितन्त्र which is the source of the Sankhyakarikas, must have given this Guru parmpara, and therefore, there cannot be the least objection to counting the present seventieth karika

among the seventy, which are referred to in seventy-second verse (सप्तत्यां किल सेऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य)। This is the most natural explanation. When Iswarkrishna writes that his seventy karikas contain all matters that are treated in "the Whole Shashtitantra", he does not include only the purely doctrinal part in the word "the whole of Shashtitantra", but also the Guruparampara which, we have every reason to believe formed the concluding part of it. It does not seem, therefore, neccessary when such a simple and natural explanation of existence of the seventy Karika is available, to search for a new Karika.

सांख्यकारिका के टीकाकार

ईश्वरकृष्ण की ये कारिकायें संक्षिप्त एवं सार-गर्भित होने के कारण इतनी प्रसिद्ध हुई कि इन पर एक नहीं, कई विद्वानों ने टीकायें लिखी जिनमें *युक्ति दीपिका, गौडपाद-भाष्य, जयमंगला, तत्त्वकौमुदी* इत्यादी प्राचीन तथा *नारायण तीर्थ*-कृत *सांख्य-चन्द्रिका* जैसी अपेक्षाकृत अर्वाचीन टीकाएँ भी हैं। किन्तु इन कारिकाओं की सर्वाधिक प्राचीन टीका शायद वह थी जिसका अनुवाद उज्जयिनी के बौद्ध भिक्षु **परमार्थ** ने सन् ५५० से ५६९ ई० के बीच चीनी भाषा में किया था। स्पष्ट है कि यह छठी शताब्दी के मध्य के पर्याप्त पूर्व लिखी गई रही होगी। इसका लेखक कौन था ?—इस प्रश्न के उत्तर के विषय में बड़ा मत-भेद है। भूतपूर्व **डा० तकाकुसु** ने बहुत पूर्व लिखा था कि **मील** के मतानुसार यह टीका-ग्रन्थ गौडपाद-कृत भाष्य ही था। परन्तु बाद में जब उन्होंने इसके चीनी अनुवाद का फ्रांस की भाषा में अनुवाद किया तो इसकी भूमिका में इस प्रश्न पर विशेष विचार करने के बाद वे इस निर्णय पर पहुंचे कि 'चीनी अनुवाद गौडपाद-भाष्य का नहीं है, फिर भी

दोनों से कुछ सम्बन्ध अवरुद्ध है क्योंकि दोनो के अनेक शब्द, उद्धरण तथा व्याख्यानात्मक दृष्टान्त अनुरूप वा समान हैं'।[१] **प्रो० वेल्वल्कर** चीनी अनुवाद तथा *माठरवृत्ति* की तुलना करके इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि *माठर वृत्ति* ही चीनी अनुवाद का मूल रूप हैं।[२] परन्तु **लोकमान्य तिलक** बहुत पूर्व सन् १९१५ में *माठर-वृत्ति* की किसी हस्त-लिखित प्रति के कुछ महत्त्वपूर्ण अंसों का निरीक्षण एवं विचार करने के अनन्तर इस निर्णय पर पहुंचे थे कि *माठर-वृत्ति* एवं चीनी अनुवाद का मूल (संस्कृत-रूप) दोनों एक नहीं हो सकते।[३] **प्रो० कीथ** तथा **पं० एस्० सूर्यनारायण शास्त्री** भी इसी मत के हैं। **पं० अय्यास्वामी शास्त्री** भी चीनी अनुवाद के स्व-कृत संस्कृत रूपान्तर की भूमिका में उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों की सविस्तर एवं सूक्ष्म तुलना के बाद इसी निर्णय पर पहुंचे हैं। उनके मन में न तो *माठर-वृत्ति* और न *गौडपाद-भाष्य* ही चीनी अनुवाद के मूल रूप हैं। ४५० ई० से पूर्व के *अनुयोगद्वार-सूत्र* में उल्लिखित सांख्य-ग्रन्थ *माठर* तथा जैन ग्रन्थकार **हरिभद्र** सूरि द्वारा रचित *षड्दर्शनसमुच्चय* पर स्वरचित टीका में **गुणरत्न** द्वारा उल्लिखित *माठरभाष्य* के आधार पर **अय्यास्वामी शास्त्री** इसी *माठर* या *माठर-भाष्य* की चीनी अनुवाद का मूल रूप मानने के पक्ष में हैं। अपनी इस मान्यता के लिए उन्होंने प्रबल तर्क प्रस्तुत किये हैं।[४]

अय्यास्वामी शास्त्री के तर्कों से *माठर-भाष्य* के चीनी अनुवाद का मूल सिद्ध होने के अतिरिक्त **डा० तकाकुसु** के इस मत का भी खण्डन हो जाता है कि *सांख्यकारिका* और उसकी टीका, जिसका अनुवाद **परमार्थ** ने चीनी भाषा में किया, दोनों ही **ईश्वरकृष्ण** ने ही लिखी थी; क्योंकि किसी भी विषय में एक ही ग्रन्थकार का वैसा मत-वैषम्य कैसे हो सकता है, जैसा *सांख्यकारिका* और *चीनी अनुवाद* में

---

१. द्रष्टव्य अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा लिखित सुवर्णसप्ततिशास्त्र की भूमिका, पृ० ३।

२. द्रष्टव्य Bhandarkar Commemoration volume, पृ० १७१-७४।

३. द्रष्टव्य Sanskrit Research भाग १, पृ० १०८।

४. द्रष्टव्य सुवर्ण-सप्तति-शास्त्र की भूमिका, पृ० ३७-३९।

पाया जाता है। जैसे पञ्च तन्मात्रों और इन्द्रियों, दोनों की ही उत्पत्ति *सांख्यकारिका* २२ और २५ में अहङ्कार से बताई गई हैं, पर *चीनी अनुवाद* में ३[१], ८[२], १०, १५, १७[३] और ६८ कारिकाओं के व्याख्यान में सारी इन्द्रियाँ पञ्च तन्मात्रों से, और ये पञ्च तन्मात्र स्वयं अहङ्कार से निकले हुए कहे गये हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध में भी दोनों में मत वैषम्य है। यद्यपि *सांख्यकारिका* में इसके विषय में स्पष्ट कुछ भी नहीं कहा गया है।[४] तथापि ३९वीं कारिका को २४वीं, २५वीं और ३८वीं कारिकाओं के साथ मिलाकर पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि **ईश्वरकृष्ण** के मत से यह शरीर महत्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्र तथा एकादश इन्द्रियां—-इन अठारह तत्त्वों का बना होता है, और *गौडपाद-भाष्य* को छोड़कर अन्य सभी टीकाओं की भी यही मान्यता है। परन्तु *गौडपाद-भाष्य* एवं *चीनी अनुवाद* में इसे महत्, अहङ्कार तथा पञ्च तन्मात्र—इन सात ही तत्त्वों का बना बताया गया है। इस प्रकार **शास्त्री जी** के मत से यह टीका, जिसका अनुवाद **परमार्थ** ने ५४६ ई० में चीन जाने के बाद किया, स्वयं **ईश्वरकृष्ण** की लिखी हुई नहीं हो सकती। चीन और जापान के लेखकों का यह मत है कि *सांख्य-कारिका* की उपर्युक्त संस्कृत-टीका **वसुबन्धु** की लिखी हुई है, पर **अय्यास्वामी** के पूर्वोक्त तर्कों से यह मत भी सही नहीं लगता।

माठर-वृत्ति, जैसा पहले कहा जा चुका है, **अय्यास्वामी** के अनुसार चीनी व्याख्या के मूल रूप *माठर-भाष्य* का ही संक्षिप्त रुप है। परन्तु **प्रो० वेल्वल्कर** ने *भण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ* (पृ० १७२-१८४) में इसे ही **परमार्थ** के चीनी अनुवाद का पूर्व-रूप सिद्ध किया है। **अय्यास्वामी शास्त्री** ने अपने सुवर्ण-सप्तति की भूमिका

---

१. अहङ्कारो महत उत्पन्न इति विकृतिः, पञ्चतन्मात्राणि जनयतीति प्रकृतिः। पंचतन्मात्राणि अहङ्कारादुत्पन्नानि इति विकृतयः, महाभूतानि इन्द्रियाणि च उत्पादयन्तीति प्रकृतयः।

२. अहङ्कारात् पंचतन्मात्राणि, पंचतन्मात्रेभ्यः षोडश विकारा उत्पद्यन्ते।

३. (प्रधानं) आदौ बुद्धिमुत्पादयति, बुद्धिरहंकारम्, अहङ्कारात्पञ्चतन्मत्राणि, पंचतन्मात्रेभ्य एकादशेन्द्रियाणि पंचमहाभूतानि चोत्पादयति।

४. अय्यास्वामी शास्त्री का यह कथन प्रौढोक्ति-मात्र अतश्च निस्सार है, क्योंकि ४० वीं कारिका में स्पष्ट ही सूक्ष्म शरीर का वर्णन है।

(पृ० ०६) एवं महामहोपाध्याय **डा० उमेश मिश्र** ने **आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फरेन्स** के छठें अधिवेशन में पठित *गौड-पाद-भाष्य एवं माठर-वृत्ति* नामक अपने लेख में इसका समय १००० ई० के आस-पास माना है। **डा० जानसन** ने भी अपने 'Early Sankhya' नामक ग्रन्थ (पृ० ११) में लगभग यही बात कही है।

परन्तु इन समस्त विद्वानों के मत के विरुद्ध **पं० उदयवीर शास्त्री** *माठर-वृत्ति* को *सांख्य-कारिका* की सबसे प्राचीन टीका मानते हैं। इतना ही नहीं, अपितु वे इसे **परमार्थ** द्वारा चीनी में अनूदित सांख्य-कारिका की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या से अभिन्न मानते हैं और **अय्यास्वामी** के उपर्युक्त इस मत का खण्डन करते हैं कि **परमार्थ** द्वारा अनूदित संस्कृत-व्याख्या *माठर-वृत्ति* से भिन्न *माठर-भाष्य* थी। उन्होनें लिखा है कि 'हमारी ऐसी धारणा है कि सांख्य-सप्तति के उपलभ्यमान सब ही व्याख्या-ग्रन्थों में माठर की वृत्ति सबसे प्राचीन है।.........सांख्यतत्त्वकौमुदी एक निश्चायक केन्द्र है। इसका काल सर्वसम्मति से निर्णीत है, उसने (अर्थात् वाचस्पति ने) स्वयं भी अपने काल का निर्देश कर दिया है। *जयमंगला सांख्यतत्त्वकौमुदी* से प्राचीन है। *युक्तिदीपिका जयमंगला* से प्राचीन है।'[1] इसका प्रमुख कारण **शास्त्री** जी ने यह दिया है कि *युक्ति-दीपिका* में अनेक स्थानों पर ऐसे मतों का स्मरण किया गया है अथवा उनका खण्डन किया गया है जो *माठर-वृत्ति* में उपलब्ध है। *युक्ति-दीपिका* के उन पाठों से सहज ही निर्णय किया जा सकेगा कि ये मत माठर से लिए गए हैं। इसके अनन्तर उन्होंने ऐसे पांच स्थलों का विस्तार निर्देश किया है। दूसरा कारण **शास्त्री** जी ने यह दिया है कि माठर में ऐसे अर्थसम्बन्धी मत-भेदों का अभाव होने से यह बात सिद्ध है कि माठर का व्याख्या-ग्रन्थ उपलब्ध सभी टीकाओं से प्राचीन है। यदि ऐसी बात न होती तो अन्य टीकाओं की भांति ही उसमें भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतान्तरों के उल्लेख अवश्य ही प्राप्त होते। केवल १८वीं कारिका के **जन्ममरणकरणानाम्** के व्याख्यान में **माठर** ने स्वाभिमत अर्थ

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य-दर्शन का इतिहास, पृष्ठ ४०८।

देकर उसके विकल्प रूप से एक दूसरा अर्थ **अपरे पुनरित्थङ्कारं वर्णयन्ति** इत्यादि शब्दों के द्वारा दिया है जिसे **माठर** के अतिरिक्त अन्य सभी प्राचीन टीकाकारों ने अपनाया है। यदि माठर सबसे प्राचीन टीकाकार हैं, तो प्रश्न होता है कि उन्होंने 'अपरे' के द्वारा किसके अर्थ का कथन किया है। इससे दो सम्भाव्य समाधान **शास्त्री** जी ने दिये हैं। प्रथम समाधान तो यह दिया है कि **माठर** के द्वारा दिया गया यह अर्थ किसी आचार्य-विशेष का न होकर परम्परापद है जो कारिका की रचना के अनन्तर ही प्रचलित हुई पठनपाठन, की प्रभावी में आकर में आ गया होगा। दूसरा समाधान **शास्त्री** जी ने यह दिया है कि **जयमंगला** इत्यादि की रचना के अनन्तर **माठर-वृत्ति** के किसी प्रतिलिपि-लेखक ने हाशिये पर उन शब्दों में इस अर्थ का निर्देश कर दिया होगा, जो कालान्तर में अज्ञानवश ग्रन्थ के ही भाग समझ लिये गये। जहां तक भागवत आदि के एकाध उद्धरण के **माठर-वृत्ति** में प्राप्त होने की बात है, उसे **शास्त्री** जी प्रक्षिप्त मानते हैं। **माठर-वृत्ति**, में वर्णित मोक्ष की सुखात्मकता, जो सांख्य-विरुद्ध है, का भी वे इसी आधार पर समाधान करते हैं।

सांख्यकारिका की दूसरी प्राचीन टीका *गौडपाद-भाष्य* के कर्ता **गौडपाद** को **शास्त्री** जी **आचार्य शङ्कर** के परम गुरु एवं *माण्डूक्य-कारिकाओं* के प्रसिद्ध रचयिता **गौडपादाचार्य** से भिन्न समझते हैं। इसका कारण वे यही देते हैं कि *गौडपाद-भाष्य* की शैली, उसका प्रतिपाद्य विषय आदि प्रसिद्ध **गौडपाद** की गुरु-गम्भीर अत्यन्त संक्षिप्त शैली एवं गुरुतर-गम्भीरतर दार्शनिक विवेचन से पर्याप्त भिन्न है। *गौडपाद-भाष्य* में ऐसी कोई वस्तु नहीं है। जिससे उसे *माण्डूक्य-कारिकाओं* के रचयिता **गौडपाद** की कृति कहा जा सके। वैसे **शास्त्री** जी का मत सत्य हो सकता है पर उनका तर्क अकाट्य या निश्चयात्मक नहीं कहा जा सकता। यों *गौडपाद-भाष्य* की भी व्याख्यान-शैली इतनी संक्षेपात्मक है कि यह ग्रन्थ गौडपाद-कृत हो सकता है। जहां तक इसके तथा प्रसिद्ध शंकर-गुरु गौडपाद के विचारों के वैषम्य या विरोध का प्रश्न है, उसका समाधान यह हो सकता है कि प्राचीन अनेक आचार्यों ने स्वमत से भिन्न मत का प्रतिपादन करने वाले प्रथित ग्रन्थों की भी टीकायें की है। उसमें कोई विरोध नहीं दिखता।

सांख्यकारिका की प्राचीन टीकाओं में *जयमंगला* भी एक है। यह शंकराचार्य के नाम से प्रचलित है। परन्तु इसका जो संस्करण बहुत पूर्व काशी से निकला था, उसकी भूमिका में महामहोपाध्याय **पं० गोपीनाथ कविराज** ने स्पष्ट किया है कि यह भाष्यकार **शंकराचार्य** की लिखी टीका नहीं हो सकती। इसका कर्ता **शंकराचार्य** नामक कोई बौद्ध भिक्षु था। ५१वीं कारिका में आई हुई आठ सिद्धियों का स्वाभिमत व्याख्यान देकर तत्त्वकौमुदीकार ने 'अन्ये व्याचक्षते' इत्यादि शब्दों द्वारा अपने पूर्ववर्ती किसी व्याख्याता के मत का उल्लेख किया है। महामहोपाध्याय **डा० हरदत्त शर्मा** का कथन[१] है कि यह मत जयमङ्गलाकार का है। यदि यह सत्य है तो जयमङ्गलाकार का समय **वाचस्पति मिश्र** के समय अर्थात् नवम शताब्दी से पहले का होगा। वैसे *गौडपाद-भाष्य* में भी अष्ट सिद्धियों का इसी प्रकार का व्याख्यान मिलता है और हो न हो, **वाचस्पति मिश्र** ने उपयुक्त स्थल में गौडपाद का ही मत दिया हो। यदि वह सम्भावना सत्य भी हो तो भी अन्य अनेक स्थलों में **वाचस्पति** द्वारा *जयमङ्गला* का अनुसरण किये जाने से **जयमङ्गलाकार** का समय निस्सन्देह **वाचस्पति** से पूर्व का सिद्ध होता है।

सांख्याकारिका की दो और टीकायें भी हैं जो अपेक्षाकृत बहुत अर्वाचीन हैं। एक तो है **मुडुम्ब नरसिंह स्वामिन्** की *सांख्यतरुवसन्त* नामक टीका और दूसरी है **नारायण तीर्थ** की *सांख्यचन्द्रिका*। दोनों का ही समय बहुत बाद का है। **नारायण तीर्थ मधुसूदन सरस्वती** के बाद के होने के कारण सत्रहवीं के उत्तरार्ध तथा अठारवीं के प्रथम बाद की रचना है, तथापि *माठर-वृत्ति* की भांति इसमें सांख्य के साथ वेदान्त का सम्मिश्रण प्राय: नहीं मिलता। हां, मुख्यत: वेदान्ती विचार-धारा के पोषक होने के कारण **नारायण तीर्थ** ने यत्र-तत्र सांख्य-सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वेदान्त का प्रमाण अवश्य दिया है। जैसे ६३ वीं कारिका की द्वितीय पंक्ति—**सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण**—के व्याख्यान में पुरुषार्थ को '**स्वरूपावस्थानलक्षणं**

---

१. द्रष्टव्य 'Jayamangla and other commentaries on the Sankhya-Karikas' in Indian Historical Quarterly, Vol. V, P. ४२९

मोक्षम्' भर ही कहा है, स्वरूप में *माठर-वृत्ति* की भांति चित् के साथ आनन्द का समन्वय करके उसे वेदान्ती मोक्ष का स्वरूप नहीं दिया है । परन्तु आगे 'एक रूपेण' का व्याख्यान करते हुए **एकेन रूपेण ज्ञानेन मोचयति संसारान्निवर्तयति; एतेन वैराग्योपरत्याद्यभावेऽपि ज्ञानं मोक्षस्य कारणं भवत्येवेति ज्ञापितम्, उक्तं च तथा वेदान्तेषु—**

पूर्णबोध तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धो यदा तदा।
मोक्षो विनिश्चितः किन्तु दृष्टदुःखं न नश्यति ॥'

इत्यादि लिखा है । वेदान्त के विद्यार्थी को स्पष्ट ही ज्ञात होगा कि यह विषय *पंचदशी* इत्यादी में सविस्तार प्रतिपादित है । पर वेदान्त से भी बढ़कर इसमें योगशास्त्र के प्रमाण मिलते हैं । सारी टीका इस शास्त्र के उदाहरणों से भरी है । इसका मुख्य कारण तो यह है कि सांख्य का व्यावहारिक पक्ष योग ही उठाकर वे किसी शास्त्र-विशेष में श्रद्धा रखने वाले पाठक की बुद्धि को उद्भ्रान्त नहीं करते । न्याय में सांख्य एवं सांख्य में वेदान्त के उच्चतर सिद्धान्तों को उठाकर प्रस्तुत शास्त्र के सिद्धान्तों की ही हीनता नहीं प्रकट करते ।

सांख्य-कारिका में अनेक ऐसे स्थल आये हैं, जहां **आचार्य वाचस्पति** का स्पष्ट मत-भेद रहा होगा; पर उन्होंने बिना किसी भी प्रकार की टीका-टिप्पणी किये उसके प्रतिपाद्य-विषय का बड़ी सत्यता के साथ विवेचन किया है । उनकी यह विशेषता पाठकों के हृदय को उनके प्रति श्रद्धा से आवर्जित कर देती है । उदाहरणार्थ, सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने वाली नवम कारिका के व्याख्यान में जहां वेदान्त के मायावाद का प्रसङ्ग आया है, वहीं अपने सिद्धान्त का मोह छोड़कर **प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो सिध्येति वदितुम्** ऐसा लिखकर उसका खण्डन ही किया है, ताकि सांख्य के विद्यार्थी की उसके सत्कार्यवाद अर्थात् 'प्रकृति का जगत् रूप कार्य सत् ही है, असत् नहीं क्योंकि असत् की उत्पत्ति शश-शृङ्ग की भांति असम्भव है'—इस सिद्धान्त में श्रद्धा हो सके । इसी प्रकार अठारहवीं कारिका में पुरुष का बहुत्व सिद्ध करने के लिए दिए गए तर्क सदोष प्रतीत होते हैं । यदि **आचार्य वाचस्पति मिश्र** चाहते तो वे इनकी कटु आलोचना कर सकते थे । पर

उन्होंने ऐसा नहीं किया है, अपितु गम्भीरता पूर्वक उसका विवेचन प्रस्तुत किया है। ये तर्क सदोष या यथार्थ इसलिये हैं कि जिस 'पुरुष' का वास्तविक अनेकता सिद्ध करने के लिए तर्क दिये गये वे सामान्य या व्यावहारिक जीवन के हैं। वस्तुत: कभी भी जन्म और मरण न प्राप्त करने वाला 'पुरुष' **जननमरणकरणानां प्रतिनियमात्** (अर्थात् सभी पुरुष एक साथ जन्म एवं मरण न प्राप्त करने के कारण एक हो नहीं सकते, एक ही होते तो एक साथ ही जन्म लेते और मरते) इत्यादि तर्कों के आधार पर अनेक कैसे कहा जा सकता है। इसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए स्वत: प्रवृत्त होने वाली अचेतन प्रकृति के लिए ५७वीं कारिका में दिया गया **वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य** इत्यादि दृष्टान्त कुछ संगत नहीं प्रतीत होता। पर इसके विरुद्ध कुछ कहने के स्थान में आचार्य ने ईश्वरवाद की ही बड़ी मीठी चुटकी[१] ली गई है।

पर जहां **आचार्य वाचस्पति मिश्र** की *तत्त्वकौमुदी* में उपर्युक्त गुण हैं वहां कुछ विद्वानों का यह मत है कि उनकी सांख्य और योग की टीकाये उन शास्त्रों के रहस्यों को पूर्णत: उद्‌घाटित करने की दृष्टि से बहुत सफल नहीं कही जा सकतीं। उनका कथन है कि **वाचस्पति मिश्र** प्रकाण्ड आचार्य अवश्य थे परन्तु योगी नहीं थे और बिना स्वयं योगी हुए योग के द्वारा प्रत्यक्षीकृत सत्यों तथा रहस्यों का उद्‌घाटन दुष्कर है। इसीलिए छठी कारिका जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि किस प्रमेय का ज्ञान किस प्रमाण से होता है का उनका व्याख्यान ठीक नहीं है। उन्होंने समान्यतोदृष्ट अनुमान से प्रधान और पुरुष का ज्ञान तथा उससे भी प्रतीत न होने वाले स्वयं, देवता इत्यादि का ज्ञान आगम प्रमाण से बताया है। वस्तुत: इस कारिका का अर्थ यह है कि सर्वसामान्य वस्तुओं का ज्ञान 'दृष्ट' अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से, प्रकृति तथा पुरुष जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान से तथा अतीन्द्रिय 'कैवल्य' का ज्ञान आगम प्रमाण से होता है।[२] **नारायण तीर्थ** ने **सामान्यतस्तु दृष्टात्**

---

१. द्रष्टव्य का० ५७वीं तत्त्वकौमुदी का द्वितीय पैरा।

२. इस अर्थ के लिए में पूज्य पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी का ऋणी हूं। उनसे ज्ञान हुआ कि पं० गोपीनाथ जी कविराज इसी को ठीक मानते थे।

इत्यादि प्रथम पंक्ति का यही अर्थ किया है, परन्तु **तस्मादपि चासिद्धम् परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्** इस द्वितीय पंक्ति का वैसा ही अर्थ[१] किया है, जैसा **वाचस्पति मिश्र** ने। गौडपाद-कृत अर्थ[२] तो सर्वथा **आचार्य वाचस्पति मिश्र** का ही अर्थ है। ऐसी स्थिति में कौन-सा अर्थ कारिकाकार का अभिप्रेत अर्थ है—यह कहना यद्यपि कठिन है, तथापि द्वितीय अर्थ के पक्ष में इतना अवश्य वक्तव्य है कि सांख्य-शास्त्र प्रमाण प्रधान नहीं, प्रमेय-प्रधान है और इसके प्रमुख प्रमेय 'प्रकृति' एवं 'पुरुष', तथा इनका अन्तिम लक्ष्य इन दोनों के विवेक-ज्ञान से प्राप्तव्य 'कैवल्य' ही है। अतः इसमें जो महत्त्व इनका है, वह याग, स्वर्ग, देवता इत्यादि का नहीं है।[३] ऐसी स्थिति में अधिक स्वाभाविक यही है कि प्रमाणों का प्रमेयों में यथा-योग्य उपयोग बताने वाली **सांख्यकारिका** में कैवल्य-विषयक प्रमाण का कथन अवश्य ही है, बिना यौगिक क्रियाओं के सांख्य के सत्यों का अनुभव नहीं किया जा सकता। अत: दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण सांख्य के ग्रन्थ में योग के उद्धरणों का प्राप्त होना स्वाभाविक है। पर इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त होने का कारण यह भी है कि नारायण तीर्थ स्वयं योगी थे। अत: उनका दृष्टिकोण सर्वत्र एक योगी का ही रहा है।

सांख्य-कारिका की उपर्युक्त सभी टीकायें अपना कुच न कुछ वैशिष्ट्य रखती हैं। परन्तु **वाचस्पति मिश्र** की **तत्त्वकौमुदी** टीका इन सबसे पढ़कर है। इतनी पांडित्य-पूर्ण तथा गम्भीर टीका और कोई नहीं है। अन्तिम कारिका की टीका में **वाचस्पति मिश्र** ने **सांख्यकारिका** को *षष्टितन्त्र* के सारे विषयों का प्रतिपादक

---

१. तस्मादपि (अनुमानादपि) परोक्षमतीन्द्रियं मार्गस्वर्गसाधनत्वादि, आप्तागमात् शब्दप्रमाणादित्यर्थः।—का० ६ की सांख्यचन्द्रिका।

२. सामान्यतोदृष्टादनुमानादतीन्द्रियाणां. . . . . सिद्धिः। प्रधानपुरुषावतीन्द्रियौ सामान्यतोदृष्टानुमानेन साध्येते। तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्, अथेन्द्रो देवराज उत्तराः कुरवः स्वोऽप्सरस इति परोक्षमाप्तवचनात् सिद्धम्॥—का० ६ का गौडपाद-भाष्य॥

३. द्रष्टव्य, प्रस्तुत भूमिका में पूर्व आया हुआ पञ्चशिख का विवरण।

होने के कारण 'शास्त्र' कहा और किसी 'शास्त्र' ग्रन्थ का जैसा गुरु-गम्भीर विवेचन होना चाहिए, इनकी *तत्त्वकौमुदी* में वैसा ही शास्त्रीय विवेचन मिलता है। इस टीका में प्रवेश पाने का न तो सहसा साहस ही होता है और न सहसा प्रवेश मिलता ही है। इसकी इस दुरूहता का करण जहां एक और **वाचस्पति मिश्र** का अबाध आचार्यत्व है, वहां दूसरी और इनकी नैयायिक-शैली भी है जो लिङ्ग एवं व्याप्ति-ज्ञान का ही विशेष आश्रय लेती है। साथ ही **ईश्वरकृष्ण** की कारिकाओं की सूत्रात्मक सूक्ष्मता भी इसमें कम हेतु नहीं है।

आचार्य वाचस्पति मिश्र समस्त दर्शन-शास्त्रों में निष्णात थे, इसलिए भारतीय पण्डित-समाज उन्हें 'द्वादश-दर्शन-कानन-पंचानन' कहकर उनके प्रति अपना असीम श्रद्धाभाव एवं समादर प्रकट करता है। उनकी जैसी अप्रतिहत गति शाङ्कर वेदान्त में थी जिसके वे मानने वाले थे और जिसके दो प्रस्थानों में से *भामती-प्रस्थान* के वे प्रवर्तक थे, वैसी ही गति न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग में भी थी। *ब्रह्मसूत्र-शाङ्करभाष्य* पर लिखी हुई *भामती* यदि आज भी उनकी मौलिक प्रतिभा का प्रतीक बनी हुई है, तो न्याय के तात्पर्य का उद्घाटन करने वाली न्याय-वार्तिक-तात्पर्य-टीका भी अद्यावधि उनकी अक्षय कीर्ति की सुदृढ़ स्तम्भ बनी है, और उनकी *सांख्य-कारिकाओं* की टीका *तत्त्वकौमुदी* तथा *योगभाष्य* की टीका *तत्त्ववैशारदी* भी किसी प्रकार से कम महत्त्व की नहीं है। इतने विविध शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित होते हुये भी उन्होंने जिस समय जिस शास्त्र का व्याख्यान करना आरंभ किया है, उस समय उसी के रहस्यों को खोलने और ग्रंथियों को सुलझाने की पूर्ण निष्ठा और तत्परता के साथ चेष्टा की है। इतर शास्त्रों की विरोधी और बेमेल बातें चाहे योग, स्वर्ग और देवता इत्यादि गौण विषयों में प्रवृत्त होने वाले प्रमाण का हो या न हो। इस दृष्टि से तो द्वितीय अर्थ ही अधिक संगत लगता है।

इसी प्रकार पुरुष-बहुत्व को सिद्ध करने वाले तर्कों की प्रतिपादक अठारहवीं कारिका के अर्थ में **वाचस्पति मिश्र** ने कोई विशेष मौलिकता नहीं दिखाई है, यद्यपि इसके लिए अवकाश था; क्योकि जैसा थोड़ा पहले कहा जा चुका है, कारिकाकार के तर्क पुरुष-बहुत्व को सिद्ध नहीं कर पाते और उनकी इस त्रुटि को **वाचस्पति**

मिश्र ने अवश्य अनुभव किया होगा । पर इसके लिए उन्होंने कोई दृढ़तर तर्क नहीं दिया, यद्यपि दृढ़तर तर्क दिये जा सकते थे । इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने वाले सांख्य और योग के परम विद्वान् एवं योगी **हरिहरानन्द आरण्यक** ने अपने *सांख्य-तत्त्वालोक* में इस विषय पर सुदृढ़ एवं मौलिक तर्क प्रस्तुत किया है ।

इससे *तत्त्वकौमुदी* का मूल्य कम नहीं किया जा सकता, यह निर्विवाद है । आधुनिक काल में इस पर अनेक टीकायें लिखी जा चुकी है, जिसमें **स्वामी बालराम उदासीन** की *विद्वत्तोषिणी* पंडितसम्राट् **वंशीधर मिश्र** की बृहत् टीका *सांख्य-तत्त्व-दिवाकर*, **श्री कृष्णवल्लभाचार्य** की *किरणावली*, **शिवनारायण शास्त्री** की *सार-बोधिनी* तथा **पं० हरीराम शुक्ल** की *सुषमा* अधिक प्रसिद्ध है ।

मध्यकालीन आचार्य—काल एवं कृतियां

गत अध्याय में षडध्यायी *सांख्यप्रवचनसूत्र* तथा *तत्त्वसमाससूत्र* की संक्षिप्त चर्चा की जा चुकी है । प्रस्तुत अध्याय में इनके व्याख्याकारों की चर्चा प्रसंङ्ग-प्राप्त है । इनमें *सांख्यप्रवचनसूत्र* की उपलब्ध व्याख्यायें *तत्त्वसमाससूत्र* की उपलब्ध व्याख्याओं से पूर्ववर्ती है, यद्यपि उनकी अपेक्षा संख्या में कम हैं । सांख्यप्रवचनसूत्र की प्राचीनतम उपलब्ध टीका **अनिरुद्ध**-कृत वृत्ति है । इसी *वृत्ति* का अनुसरण करते हुए **महादेव वेदान्ती** ने अपनी *वृत्तिसार* नाम व्याख्या लिखी है । इस व्याख्या का नाम ही इस बात का द्योतक है कि यह किसी 'वृत्ति' का सार है । महादेव ने अपनी व्याख्या के आरम्भ एवं प्रथम अध्याय के अन्त में लिखे गए श्लोकों में भी इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि यह 'वृत्ति' **अनिरुद्ध** कृत *सांख्यसूत्र वृत्ति* ही है । वे श्लोक क्रमशः इस प्रकार हैं:-

दृष्ट्वानिरुद्धवृत्तिं बुद्ध्वा सांख्यीयसिद्धान्तम् ।
विरचयति वृत्तिसारं वेदान्त्यादिर्महादेवः ।
अत्र मामकसन्दर्भे नास्ति कापि स्वतन्त्रता ।
इति ज्ञापयितुं वृत्तिसार इत्यभिधा कृता ।
परवाक्यानि लिखता तेषामर्थो विभावितः ।
कृता सन्दर्भशुद्धिश्चेत्येवं मे नाफलः श्रमः ।।

इन दोनों व्याख्याओं के अतिरिक्त इन सूत्रों का **विज्ञानभिक्षु**-कृत *भाष्य* अत्यन्त प्रसिद्ध व्याख्या-ग्रंथ है । इनके अतिरिक्त प्रसिद्ध वैयाकरण **नागेशभट्ट** की एक व्याख्या है जो पूर्व व्याख्याताओं का ही प्रायेण अनुसरण करने के कारण वैशिष्ट्य-शून्य है । इसके अतिरिक्त किसी **रामभद्रयति** के शिष्य की लिखी हुई

एक अप्रकाशित टीका की चर्चा **प. उदयवीर शास्त्री** ने की है ।[१] *तत्त्वसमाससूत्र* की पांच व्याख्याएं उपलब्ध है । इनमें *क्रमदीपिका* नामक तत्वसमाससूत्र-वृत्ति सबसे प्राचीन प्रतीत होती है । इसके कर्ता ने अपना नाम आदि गुप्त ही रखा है । यह व्याख्या पर्याप्त संक्षिप्त है किन्तु इससे भी संक्षिप्त दो व्याख्यायें है । एक का नाम *सर्वोपकारिणी* और दूसरी का *सांख्यसूत्र-विवरण* है । इन व्याख्याओं के रचयिताओं के नाम भी अज्ञात ही हैं । *क्रमदीपिका* से अपेक्षाकृत विस्तृत दो व्याख्याएं और भी हैं । एक तो प्रसिद्ध **विज्ञान-भिक्षु** के शिष्य **भावागणेश** की *तत्त्वयाथार्थ्यदीपन* व्याख्या है, तथा दूसरी इष्टिकापुर (इटावा) निवासी, कान्यकुब्जब्राह्मण-कुलोत्पन्न **षिमानन्द** नाम किसी व्यक्ति की *सांख्यतत्त्वविवेचन* व्याख्या है । इसका यह नाम रचयिता द्वारा ग्रन्थ के आदि या अन्त में नहीं दिया गया है, अपितु चौखम्बा संस्कृत सिरीज में सं. २४६ पर उपर्युक्त समस्त ग्रन्थों के साथ प्रकाशित इस ग्रन्थ की पुष्पिका में दिया गया है । इनका विवेचन इसी अध्याय में आगे किया जाएगा । अभी सांख्य प्रवचन सूत्रे के वृत्तिकार **अनिरुद्ध** एवं भाष्यकार **विज्ञानभिक्षु** के काल, सिद्धान्त, आदि के विषय में विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

अनिरुद्ध

अभी पीछे कहा जा चुका है कि **वेदान्ती महादेव** ने सांख्य षडध्यायी की अपनी टीका *वृत्तिसार* के आरम्भ तथा मध्य में भी इस बात का उल्लेख किया है कि उन्होंने अनिरुद्ध-वृत्ति का अध्ययन करके एवं उसके सांख्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को समझ करके ही अपनी *वृत्तिसार* व्याख्या की रचना की है । इससे यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है कि **अनिरुद्ध वेदान्ती महादेव** से प्राचीन है । यद्यपि *सांख्य-षडध्यायी* के भाष्यकार **विज्ञानभिक्षु** ने **वेदान्ती महादेव** की भांति अपने भाष्य में कहीं भी **अनिरुद्ध** का नाम्ना उल्लेख नहीं किया है, तथापि उनके भाष्य का

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ. २८२, पंक्ति १-३ तथा इसकी पाद-टिप्पणी संख्या १ ।

सम्यग् आलोडन करने से इस बात का निश्चय हो जाता है कि **अनिरुद्ध विज्ञानभिक्षु** से भी पर्याप्त प्राचीन हैं । **डा. रिचर्ज गार्बे** ने विज्ञानभिक्षु-कृत सांख्यप्रवचन-भाष्य से ऐसे स्थलों की सूची दी है जिनके आधार पर विज्ञानभिक्शु-कृत अपेक्षा **अनिरुद्ध** की प्राचीनता सिद्ध होती है । इस सूची में आठ स्थलों का उल्लेख है जिनमें से चार सूत्रों के पाठ-भेदों का उल्लेख है, तीन में 'कश्चित्' या 'यत्तु' इत्यादि पदों के द्वारा **अनिरुद्ध** के विचारों या मतों का उल्लेखपूर्वक खण्डन है, तथा शेष एक स्थल में सूत्र-भेद का कथन है । पाठ भेदों का उल्लेख १-१८, १-१६१, ५-८२ तथा ६-५० सूत्रों से सम्बन्ध रखता है भाष्य के ये स्थल इस प्रकार हैं— **प्रकृतिनिबन्धना चेदिति पाठे, अक्षसम्बन्धात् साक्षित्वमिति पाठे, इतरवियोगवदिति पाठे, जडव्यावृत्ताविति पाठे** । उपर्युक्त सूत्रों के ये पाठ **अनिरुद्ध** द्वारा स्वीकृत पाठ ही हैं । 'कश्चित्' या 'यत्तु' के द्वारा **अनिरुद्ध** के विचारों का खण्डन[1] **विज्ञानभिक्षु** ने १-१९, २-४६ तथा ५-१०० सूत्रों के भाष्य में किया है, और ये विचार अथवा सिद्धान्त इन्हीं सूत्रों

---

१. (i) कश्चित्तु प्रकृतिपुरुषयोः संयोगाङ्गीकारे पुरुषस्य परिणामसंगौ प्रसज्येयाताम् । अतोऽत्राविवेक एव योगशब्दार्थों न तु संयोग इति । तन्न, तद्योगोऽप्यविवेकादिति सूत्रेणाविवेकस्य योगहेतुताया एव सूत्रकारेण वक्ष्यमाणत्वात् । स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगरतस्य हेतुरविद्येति सूत्राभ्यां पातञ्जलेऽपि संयोगहेतुत्वस्यैवाविद्याया उक्तत्वाच्च ।– सां. सू. १-१९ का भिक्षु-भाष्य ।

(ii) यत्तु कश्चिदविवेकी वदति बुद्धिप्रतिबिम्बितपुरुषस्य कर्मेति । तन्न, योगभाष्येऽस्मदुक्तप्रकार स्यैवोक्तत्वेनान्यप्रकारस्याप्रामाणिकत्वात्, प्रतिबिम्बस्यावस्तुत्वेन कर्माद्यसम्भवाच्च । अन्यथा प्रतिबिम्वस्य कर्मतद्भोगाद्यङ्गीकारे विम्बत्वाभिमतपुरुषकल्पनावैयर्थ्यस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वादिति । –सां. सू. २-४६ का भिक्षु-भाष्य ।

(iii) कश्चित्तु तादात्म्यसम्बन्धेनात्र समवायस्यन्यथासिद्धिमाह । तन्न, शब्दमात्रभेदात् । तादात्म्यं ह्यत्र नात्यन्तं वक्तव्यं, गुणवियोगेऽपि गुणिसत्त्वात् वैशिष्ट्याप्रत्ययाच्च । किन्तु भेदाभेदबुद्धिनियामकः सम्बन्धविशेष एवागत्या वक्तव्यः । तथा च तस्य समवाय इति वा तादात्म्यमिति वा नाममात्रं भिन्नम् । सम्बन्धिद्वयातिरिक्तः सम्बन्धस्तु सिद्ध एवेति । यदि च तादात्म्यं स्वरूपमेवोच्येते तदास्माभिरपि तदेवोक्तमिति शब्दमात्रभेद इति – सां. सू. ५-१०० का भिक्षु-भाष्य ।

की अनिरुद्ध-वृत्ति[1] में उपलब्ध हैं। सूत्र-भेद का उल्लेख **विज्ञानभिक्षु** ने ५-१२१ सूत्र के भाष्य में किया है, जो उनके अनुसार इस प्रकार हैं :- **न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तभोगायतनत्वं पूर्ववत्।** इसके भाष्य की अन्तिम पंक्तियां इस प्रकार हैं:- **न बाह्यबुद्धिनियम इत्यंशस्य पृथक्सूत्रत्वेऽपि सूत्रद्वयमेकीकृत्येत्थमेव व्याख्येयं, सूत्रभेदस्तु दैर्घ्यभयादिति बोध्यम्।** इसका अर्थ यह है कि यदि 'न बाह्यबुद्धिनियमः' अंश को पृथक सूत्र भी माना जाय तो भी इसे तथा 'वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृ-भोगायतनत्वं पूर्ववत्' सूत्र को इकट्ठा करके इनका इसी प्रकार व्याख्यान करना चाहिये, सूत्र भेद अर्थात् पृथक्सूत्रता तो केवल दीर्घता के भय से है, ऐसा समझना चाहिए। अब **विज्ञानभिक्षु** का ५-१२१ सूत्र उनके द्वारा प्रदर्शित उपयुक्त प्रकार से **अनिरुद्ध** का ५-१२१ तथा ५-१२२ सूत्र है। इसी कारण से **विज्ञानभिक्षु** के अनुसार पांचवें अध्याय में कुल १२९ तथा **अनिरुद्ध** के अनुसार १३० सूत्र है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि **अनिरुद्ध विज्ञानभिक्षु** से पूर्ववर्ती आचार्य है। उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे स्थल सांख्यप्रवचनभाष्य में है जिनसे **अनिरुद्ध विज्ञानभिक्षु** की अपेक्षा प्राचीन आचार्य ठहरते हैं। **पं. उदयवीर शास्त्री** ने अपने *सांख्यदर्शन का इतिहास* नाम ग्रन्थ के २८३-८६ पृ. पर इन स्थलों का निर्देश किया है। वे स्थल ये हैं—

(१) सां. सू. १-६१ पर भाष्य करते हुए **विज्ञान-भिक्षु** ने इस प्रकार लिखा है — **एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः**। सांख्यों की

---

१. (i) तद्योगः बन्धयोगः। तद्योगादृते प्रकृतियोगादृते। अविवेकं विना नात्मनः कदापि बन्धः, किन्त्वविवेकाद्बन्ध इत्यभिप्रायः।— सा. सू. १-१९ की अनिरुद्ध वृत्ति।

(ii) बुद्धिप्रतिबिम्बितपुरुषकर्मार्जितत्वात् पुरुषार्थमभिचेष्टा प्रवर्तनं बुद्ध्यादीनाम्। यथा लोके येनार्जितो भृत्यस्तत्कर्म करोति।— सा. सू. २-४६ की अनिरुद्ध-वृत्ति।

(iii) उभयत्रापि तादात्म्येनैवोपपत्तेः, अन्यथा सामानधिकरण्यं न स्यादिति— सा. सू. ५-१०० की अनिरुद्ध-वृत्ति।

अनियतपदार्थवादिता का कथन अनिरुद्ध ने अपनी वृत्ति में छः-सात स्थलों पर किया है —**किञ्चानियतपदार्थवादित्वादस्माकम्** (सां. सू. १-४५ पर), **नास्माकं सिद्धान्त-क्षतिः, अनियतपदार्थवादित्वात्** (५-१०७ पर), **अनियतपदार्थवादित्वात्सांख्या-नाम्** (५-८५ पर), **अनियतः पदार्थो यतः** (५-१०७), **अनियत्वात् पदार्थानाम्** (५-१०८ पर), **अनियतत्वात् पदार्थस्य** (६-३८ पर), । **अनिरुद्ध** का इतनी बार एक अर्थ का कथन करना इस सम्बन्ध में उसके विचारों की दृढता प्रदर्शित करता है । यद्यपि ५-१०७ की अपनी व्याख्या में **महादेव वेदान्ती** ने भी **अनियतपदार्थवादिनो हि सांख्याः** लिखा है, तथापि उनका यह लेख **अनिरुद्ध** के व्याख्या, जिसका उन्होंने प्रायः अनुसरण किया है, के आधार पर ही लिखा गया प्रतीत होता है । अतः विज्ञानभिक्षु ने अपना ऊपर उद्धृत लेख अनिरुद्ध के द्वारा अनेकश उल्लिखित अनियतपदार्थवाद को ही दृष्टि में रखकर लिखा होगा । कई बार कथन करने से प्रकट हुई **अनिरुद्ध** की एतद्विषयक विचार-दृढता के कारण ही उसके विरोधी **विज्ञानभिक्षु** ने 'इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः' जैसे कटु शब्दों का प्रयोग किया होगा, ऐसा मानना स्वाभाविक एवं उचित प्रतीत होता है । **महादेव वेदान्ती** के एकाध बार के कथन को काटने के लिये **विज्ञान-भिक्षु** ऐसे कटु शब्दों का प्रयोग कदापि न करते, और वह भी तब जब कि वह कथन दूसरे के अनुसरण मात्र से किया गया है ।

(२) सां. सू. १-९९ पर भाष्य करते हुए **विज्ञानुभिक्षु** ने इस प्रकार लिखा है;- **कश्चितु बुद्धिगतया चिच्छायया बुद्धेरेव सर्वार्थज्ञातृत्वमिच्छादिभिर्ज्ञानस्य सामा-नाधिकरण्यानुभवादन्यस्य ज्ञानेनान्यस्य प्रवृत्त्यनौचित्याच्चेत्याह । तदात्माज्ञानमू-लकत्वादुपेक्षणीयम् । एवं हि बुद्धेरेव ज्ञातृत्वे 'चिदवसानो भोगः' इत्यागामिसूत्रद्वयविरोधः पुरुषे प्रमाणभावश्च, पुरुषलिङ्गस्य भोगस्य बुद्धावेव स्वीकारात्** । इस सन्दर्भ में जिस विचार-धारा की पूर्व पक्ष के रूप में उपन्यस्त करके **विज्ञानभिक्षु** ने उसका खण्डन किया है, वह अर्थतः ज्यों का त्यों १-९९ की अनिरुद्ध-वृत्ति में प्राप्त होता है । वह इस प्रकार है - **अन्तःकरणस्य बुद्धौ पुरुषच्छायापत्या तच्चैतन्येनोज्जवलितस्य चेतनत्वाभिमानादधिष्ठातृत्वम्** । **लोह-**

वदिति यथाकर्षको लोहो निष्क्रियोऽ सन्नधिमात्रेणाकर्षति । इस सन्दर्भ का अर्थ यह है कि अन्तःकरणों में मुख्य 'बुद्धि' में पुरुष की छाया पड़ने से उस के चैतन्य से प्रकाशित वह अन्तःकरण चैतन्य का अभिमान करने से उसी प्रकार अधिष्ठाता (भोक्ता) बन जाता है, जैसे चुम्बक स्वतः निष्क्रिय होकर भी सन्निधि मात्र से वस्तुओं का आकर्षण करता है । इसी भाव को **विज्ञानभिक्षु** ने पूरवपक्षी की ओर से इस रूप में प्रकट किया है कि बुद्धि में चेतन की छाया पड़ने से वही सब अर्थों की ज्ञाता-भोक्ता हो जाती है । इच्छा आदि धर्मों का ज्ञान के साथ सामानाधिकरण्य सर्वानुभूत तथ्य होने से एक के ज्ञान से दूसरे की प्रवृत्ति मानना सर्वथा अनुचित है । अतः बुद्धि में प्रवृत्ति होने से समस्त वस्तुओं का ज्ञान भी उसी में मानना उचित है । स्पष्ट है कि **विज्ञान भिक्षु** द्वारा 'कश्चित्' पद से जिसके मत का उपन्यास किया गया है, वह अनिरुद्ध के अतिरिक्त और कोई नहीं है । **अनिरूद्ध** ने अपना यह विचार सां. सू. १-९९ ही नहीं अपितु उसके पूर्व के तीन सूत्रों (९६-६८) की वृत्ति में भी इस प्रकार प्रकट किया है:-. . . **.तत्सन्निधानात्प्रकृतिप्रतिबिम्बितत्वादात्मनः प्रकृतेः कर्तृत्वे भोक्तृत्वमधिष्ठातृत्वमात्मनोऽभिमन्यते । तस्माच्चेतनोऽधिष्ठातेति भ्रान्तिरिति** ॥९६ ॥ **वायुयुक्तो बुद्ध्यादिर्जीवः, न त्वात्मा जीवः आहारादिविशेषकार्येऽपि जीवानामेव कर्तृत्वमात्मनोऽपरिणामित्वात्** । ।९७ ॥ **तात्विकरूपबोद्धत्वान्महतोऽन्तः करणस्य वाक्यार्थोपदेशः, तत्प्रतिबिम्बितत्वाच्च पुरुषस्य बोद्धत्वाभिमानः** ॥९८ ॥

(३) इसी प्रकार सां. सू. २-३२ के भाष्य में **विज्ञानभिक्षु** ने फिर एक मत का 'कश्चित्' पद के द्वारा निर्देश करके खण्डन किया है, जो इस प्रकार है:- **कश्चित्तु निर्विकल्पकं ज्ञानमेवालोचनमिन्द्रियजन्यं च भवति सविकल्पकं तु मनोमात्रजन्यमिति श्लोकार्थमाह; तन्न। योगभाष्ये व्यासदेवैर्विशिष्टज्ञानस्याप्यैन्द्रियकत्वस्य व्यवस्थापितत्वात् । इन्द्रियैर्विशिष्टज्ञाने बाधकाभावाच्च** । जिस श्लोक का ऊपर उद्धृत अर्थ **विज्ञानभिक्षु** ने पूर्वपक्षी को अभिप्रेत बताया है, उसे उन्होंने उपर्युक्त पंक्तियों के ठीक पूर्व उद्धृत करके पहले उसका स्वाभिमत अर्थ किया है । वह **कुमारिलभट्ट** के *श्लोकवार्तिक* का यह श्लोकार्ध है: - **परं पुनस्तथा**

वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिस्तथा इसका विज्ञानभिक्षु-कृत अर्थ उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है— **परमुत्तरकालीनं च पुनर्वस्तुधर्मैर्द्रव्यरूपधर्मैस्तथा जात्यादिभिर्ज्ञानं सविकल्पकं तथालोचनाख्यं भवतीत्यर्थः** । अर्थात् केवल निर्विकल्पक ही नहीं अपितु उसके अनन्तर उत्पन्न होने वाला, द्रव्य जाति आदि विकल्पों या धर्मों का सविकल्पक ज्ञान भी 'आलोचन' [= इन्द्रिय जन्य या प्रत्यक्ष ज्ञान] कहा जाता है । इसके विपरीत इसका पूर्वपक्षी-कृत अर्थ यह है कि निर्विकल्पक ज्ञान ही इन्द्रिय जन्य होने से 'आलोचन' होता है, सविकल्पक तो केवल मन से उत्पन्न होने के कारण 'आलोचन' नहीं होता है । **विज्ञानभिक्षु** के 'कश्चित्' पद से परामृष्ट व्यक्ति निस्सन्देह **अनिरुद्ध** ही हैं क्यों उन्होंने ही सां. सू. १-८९ की स्व-लिखित वृत्ति में *श्लोकवार्तिक* के उपर्युक्त श्लोकार्ध को उद्धृत किया है और उद्धृत करने से पूर्व उसका यही अर्थ भी किया है । **अनिरुद्ध** की पक्तियां इस प्रकार है: — **सविकल्पकमपि प्रत्यक्षं संगृहीतम् ।... अदुष्टसाक्षात्कारिप्रमाजनकसामग्रीजनितं प्रत्यक्षम् । तदुभयं निर्विकल्पकं सविकल्पकं च । किन्तु सादृश्यात् संस्कारोद्बोधद्वारेण स्मृत्या नामजात्यादिसंविदुत्पद्यते । अत एवाधिकप्राप्त्या सविकल्पकमिति विशेषसंज्ञा ।... तथा च —**

> **संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते ।**
> **संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा ।।**
> **ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया ।**
> **बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन संमता ।।**

अनिरुद्ध की इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि वे निर्विकल्पक और सविकल्पक, दोनों को ही प्रत्यक्ष मानते हैं । उनका कथन है कि सादृश्य से संस्कारों के उद्बुद्ध हो जाने पर स्मृति के द्वारा वस्तु विशेष के नाम, जाति इत्यादि का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । इसी से उसका विशेषा नाम 'सविकल्पक' है । स्पष्ट है कि **अनिरुद्ध** सविकल्पक ज्ञान को स्मृति-जन्य की मनोमात्रजन्यता सुस्पष्ट है । इससे सिद्ध है कि **विज्ञानभिक्षु** के 'कश्चित्' पद से **अनिरुद्ध** ही अभिप्रेत हैं ।

परन्तु इसके विपरीत **श्रीबालराम उदासीन** तथा **डा. रिचर्ड गार्बे** इस मत के हैं कि सा. सू. २-३२ के स्वकीय भाष्य में **विज्ञानभिक्षु** ने २७वीं *सांख्यकारिका* की स्वकृत **तत्त्वकौमुदी** व्याख्या में **वाचस्पति मिश्र** द्वारा उद्धृत *श्लोकवार्तिक* के उपर्युक्त श्लोक के अर्थ का खण्डन किया है। पर यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि **वाचस्पति मिश्र** ने उक्त श्लोक को उद्धृत कर के भी उसका अर्थ नहीं किया है। ऐसी स्थिति में **विज्ञानभिक्षु** द्वारा प्रदर्शित पूर्वपक्ष के अन्त में उनके द्वारा प्रयुक्त 'इति श्लोकार्थमाह' पद निरर्थक एवं असंगत हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त एक बात और है। **विज्ञानभिक्षु** ने अपने भाष्य में उक्त मत के प्रत्याख्यान के अनन्तर 'स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे' इत्यादि लिखा है, जो **वाचस्पति** के विषय में कदापि संगत नहीं कहा जा सकता क्योंकि **वाचस्पति** ने सांख्यसूत्रों का तो कोई व्याख्यान किया ही नहीं। ये शब्द तो **वाचस्पति** के विषय में तभी संगत होते जब कि उन्होंने सा. सू. २-३२ का व्याख्यान किया होता। **डा. रिचर्ड गार्बे** ने स्व-सम्पादित *अनिरुद्धवृत्ति* के उपान्त्य पृष्ठ[१] पर इस असंगति का समाधान 'स एव' के स्थान में 'सम एव' पाठ मान कर किया है। उन्होंने लिखा है कि स्वर्गीय **डा. भगवान लाल इन्द्र** द्वारा *भिक्षु-भाष्य* की जो हस्तलिखित प्रति मुझे प्राप्त हुई है, उसमें यही (सम एव) पाठ उपलब्ध है जिसका अर्थ यह है कि समान व्याख्याता ने प्रस्तुत सूत्र (२-३२) का ऐसा ही अर्थ किया है। वह समान व्याख्याता अनिरुद्ध हो सकता है। इसलिये 'कश्चित्' पद से **वाचस्पति मिश्र** का ग्रहण करने पर भी अगले वाक्य के साथ इसकी कोई असंगति नहीं होती।

गार्बे महोदय का उपर्युक्त समाधान ठीक नहीं है। क्योंकि हस्तलिखित प्रति के जिस पाठ के आधार पर उन्होंने यह समाधान दिया है, वह सर्वथा असंगत है। यदि 'कश्चित्' इत्यादि से आरम्भ होने वाले पूर्व वाक्य के साथ प्रस्तुत वाक्य का सम्बन्ध न होता तो इसके 'एव एवं अपि' शब्द सर्वथा निरर्थक या व्यर्थ हो जायेंगे।

---

१. डा. गार्बे द्वारा सम्पादित ग्रन्थ के विभिन्न भागों का क्रम इस प्रकार है – सर्व प्रथम भूमिका उसके बाद सूत्र तथा उसकी वृत्ति एवं अन्त में अनुवाद। उपर्युक्त पृष्ठ-संख्या के संस्कृत भाग की है जो अनुवाद के पूर्व दिया गया है।

'एव' पद का तात्पर्य यह है कि पूर्व वाक्य के कश्चित् पद से जिसका परामर्श होता है, उसी का प्रस्तुत वाक्य के 'स' पद से भी। ऐसी स्थित में 'स' के स्थान पर 'सम' पाठ नितान्त असंगत है। यदि इसके विपरीत 'सम' पाठ टीका माना जाये तो 'एव' पद व्यर्थ हो जाता है। इसी प्रकार 'अपि' का अभिप्राय यह है कि जिसने *श्लोकवार्तिक* के उल्लिखित श्लोक का एक विशिष्ट अर्थ किया, उसी ने प्रस्तुत सूत्र २-३२ का भी तदनुकूल अर्थ किया। इस प्रकार 'एव' तथा 'अपि', दोनों ही पदों के प्रयोग से यह बात सुसिद्ध है कि *श्लोकवार्तिक* से उद्धृत श्लोक तथा सा. सू. २-३२ का अर्थ करने वाला एक ही व्यक्ति है। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति **वाचस्पति** न होकर **अनिरुद्ध** ही हो सकता है, यह बात सुनिश्चित है। अत: इस आधार पर भी **अनिरुद्ध विज्ञानभिक्षु** से प्राचीन आचार्य सिद्ध होते हैं।

'स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे' के बाद **विज्ञानभिक्षु** ने उस सूत्रार्थ का निर्देश इस प्रकार किया है:—**बाह्येन्द्रियमारभ्य बुद्धिपर्यन्तस्य वृत्तिरुत्सर्गतः क्रमेण भवति। कदाचित् व्याघ्रादिदर्शनकाले भयविशेषाद् विद्युल्लतेव सर्वकरणेष्वैकदैव वृत्तिर्भवतीत्यर्थ इति, तदप्यसत्**। **अनिरुद्ध** ने सा. सू. २-३२ की स्वकीय वृत्ति में इसका यही अर्थ किया है, पदानुक्रम अवश्य भिन्न है। इसी कारण से **विज्ञानभिक्षु** ने अपने सन्दर्भ के अन्त में 'इत्यर्थ इति' ऐसा लिखा है। दोनों सन्दर्भों की अर्थ विषयक एकता के लिये सा. सू. २-३२ की **अनिरुद्ध -वृत्ति** का यह सन्दर्भ द्रष्टव्य है: -**क्रमशश्च मन्दालोके चौरं दृष्ट्वेन्द्रियेण वस्तु विचारयति, ततः चौरोऽयमिति मनसा सङ्कल्पयति, ततो धनं गृहणातीत्यहङ्कारेणाभिमन्यते, ततः चौरं गृह्णामीति बुद्ध्याध्यवस्यति। अक्रमशश्च, रात्रौ विद्युदालोके व्याघ्रं दृष्ट्वा झटित्यपसरति। तत्र चतुर्णामेकदा वृत्तिः**। दोनों सन्दर्भों की तुलना से स्पष्ट है कि **विज्ञानभिक्षु** ने **अनिरुद्ध** कृत अर्थ को ही संक्षेप में अपने शब्दों में रख दिया है,अन्तिम पंक्ति के तो कुछ शब्द भी **अनिरुद्ध** के सन्दर्भ से गृहीत हैं। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि विज्ञान भिक्षु ने इस प्रसङ्ग में अनिरुद्ध-कृत सूत्रार्थ का ही प्रत्याख्यान अथवा खण्डन किया है। तब फिर **विज्ञानभिक्षु** से **अनिरुद्ध** के प्राचीन होने का यह चौथा आधार हुआ।

इस प्रकार यद्यपि **विज्ञानभिक्षु** की अपेक्षा **अनिरुद्ध** की प्राचीनता सिद्ध होती है, तथापि इससे उसके निश्चित काल पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अत: इसके लिये अन्य आधार ढूंढने पड़ेंगे। **डा. गार्बे** ने सांख्यसूत्रों की *अनिरुद्ध वृत्ति* की अपनी भूमिका[१] में लिखा है कि सां. सू. १-३४ की अनिरुद्ध वृत्ति की आरम्भिक पंक्तियां[२] **सायण** रचित[३] *सर्वदर्शनसंग्रह* के बौद्ध दर्शन वाले अध्याय के एक भाग विशेष का सार मात्र है। वे पंक्तियां इस प्रकार हैं — **न चायमसिद्धो हेतुः अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्य सत्त्वस्य .. तच्चार्थक्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्**। इससे स्पष्ट है कि **अनिरुद्ध सायण** के बाद के हैं, और चूंकि सायण की स्थिति ईसवी १४ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में निश्चित है, अत: **अनिरुद्ध** का समय ईसवीय चौदहवीं शताब्दी के बाद ही होना चाहिए। दूसरी ओर **अनिरुद्ध** ई. सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के **विज्ञानभिक्षु**[४] से पूर्ववर्ती सिद्ध किये जा चुके हैं। इसलिये **अनिरुद्ध** को ईसवीय पन्द्रहवीं शताब्दी में रखा जा सकता है।

डा. गार्बे ने इसकी पुष्टि में आगे लिखा है कि सां सू. २-३२ की वृत्ति में **अनिरुद्ध** द्वारा प्रयुक्त **उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्** पदावली के आधार पर **अनिरुद्ध** के इस समय के विषय में और अधिक निश्चयात्मकता प्राप्त होती है। *साहित्यदर्पण* १-४५ में भी यह पदावली प्राप्त होती है। 'व्यतिभेद' शब्द संस्कृत शब्दकोष के अत्यन्त विरल प्रयुक्त होने वाले शब्दों में से है क्योंकि इसके अतिरिक्त केवल *न्यायसूत्र* ४-२-१८ में इसका एक और प्रयोग है, पर वहां यह शब्द भिन्न अर्थ में है। इसलिये मेरे मत से दोनों में से एक स्थल में 'उत्पलपत्रव्यतिभेदवत्' प्रयोग दूसरे का अनुवाद है। मैं यह कल्पना नहीं कर सकता कि साहित्यदर्पणकार ने अनिरुद्ध जैसे अप्रसिद्ध दार्शनिक लेखक का अनुकरण किया होगा। इसके विपरती

---

१. द्रष्टव्य पृ.८

२. सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वं, तच्च क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्।

३. वस्तुतः 'सर्वदर्शनसंग्रह' सायण के बड़े भाई माधव (संन्यासावस्था का नाम स्वामी विद्यारण्य) की रचना है।

४. एफ.ई. हाल द्वारा सम्पादित सांख्यसार की भूमिका, के. पृ. ३७ के अनुसार।

मुझे यही मानना युक्त लगता है कि **अनिरुद्ध** ने ही साहित्यदर्पणकार का अनुकरण किया है, और यदि यह मानना ठीक हो कि **अनिरुद्ध** पन्द्रहवीं शताब्दी के प्राय: मध्य में लिखे गये साहित्य-दर्पण के बाद हुए तो उनका समय १५०० ई. निर्धारित किया जा सकता है ।[१]

डा. गार्बे के इस समस्त मत का खण्डन करते हुए **पं. उदयवीर शास्त्री** ने अपने ग्रन्थ में २९० से २९२ पृष्ठों पर अपना यह विचार प्रकट किया है कि अनिरुद्ध का **सत्त्वमर्थक्रियाकारित्वं तच्च क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्** लेख **सायण** ने **न चायमसिद्धो हेतु: अर्थ क्रियाकारित्वलक्षणस्य सत्त्वस्य .. तच्चार्थक्रियाकारित्वं क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्** । इत्यादि लेख के आधार पर लिखा गया नहीं माना जा सकता, क्योंकि कोई भी विद्वान इस बात को सिद्ध नहीं कर सकता कि सर्वप्रथम **सायण** ने ही इन पंक्तियों को इस रूप में लिखा है । दार्शनिक साहित्य के विद्वान इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि उक्त वाक्य समूह बौद्ध दर्शन में अर्थ के प्रतिपादन का साधार प्रकार है । जो भी विद्वान बौद्ध दर्शन का विवेचन करेगा, वह इस पदावली को भूल नहीं सकता । ऐसी स्थिति में यह क्यों न माना जाय कि दोनों के लेखों का आधार उनसे प्राचीन कोई अन्य स्रोत है ? **वाचस्पति मिश्र** ने *न्यायसूत्र* ३-२-१७ के वार्तिक की अपनी *तात्पर्यटीका* में **सत्त्वं नामार्थक्रियाकारित्वं... अर्थक्रियाकारित्वमेव सत्त्वमिति तच्च क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तम्** इत्यादि लिखा है । इसके अतिरिक्त **सिद्धसेनदिवाकरकृत** *सन्मतितर्क* की **अभयदेवसूरि**-कृत व्याख्या में भी उक्त पदावली इस रूप में प्राप्त होती हैं — **घटादि: पदार्थोऽक्रियाकारी क्रमाक्रमाभ्यां प्रत्यक्षसिद्ध... अतो यत्र सत्त्वं तत्र क्रमाक्रमप्रतीतावपि क्षणिकत्वप्रतीतिरेव** । स्पष्ट ही **अनिरुद्ध** एवं **वाचस्पति** के लेखों में अत्यधिक साम्य है । यों, यह साम्य आकस्मिक भी हो सकता है । फिर भी इन निर्देशों से यह परिणाम अवश्य निकलता है कि **अनिरुद्ध** के लेख को **सायण** के लेख का सार अथवा अनुकरण मानने में कोई प्रमाण नहीं है । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि जहां सायण के संग्रहकार होने के कारण उसके लेख में दूसरे के भावों और पदों का आ जाना

१. द्रष्टव्य, अनिरुद्धवृत्ति की डा. गार्बे द्वारा लिखित भूमिका (Preface) के पृ.८ तथा ९

स्वाभाविक है, वहां **अनिरुद्ध** के विषय में ऐसी बात नहीं है । हां, खण्डन-मण्डन के लिये वे अवश्य ही अन्य ग्रन्थों को उद्धृत कर सकते हैं पर **अनिरुद्ध** की २/३४ सूत्र की व्याख्या-पंक्तियों में ऐसी कोई भी बात नही है । ऐसी स्थिति में **अनिरुद्ध** के इस लेख को **सायण** के उक्त लेख का सार नहीं कहा जा सकता । अत: **सायण** को **अनिरुद्ध** के काल निर्णय के लिये पूर्व प्रतीक नहीं माना जा सकता ।

इसी प्रकार **अनिरुद्ध** के 'उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्' पदावली के *साहित्यदर्पण* से उधार ली जाने की **डा. गार्बे** की कल्पना भी निराधार है । यह हो सकता है कि 'व्यतिभेद' शब्द का प्रयोग कम होता हो, परन्तु इस बात का पद के अर्थ पर कोई प्रभाव नहीं है । **आकाशव्यतिभेदात् तदनुपत्तति:** इस *न्यायसूत्र* ४-२-१८ में आये हुए 'व्यतिभेद' पद को **डा. गार्बे** ने भिन्नार्थक माना है, परन्तु उस भिन्न अर्थ को उन्होंने बाताय नहीं । वस्तुत: इसका अर्थ वही है जो **अनिरुद्ध** वृत्ति एवं *साहित्यदर्पण* के पूर्वोक्त स्थलों में है । इसका अर्थ 'भेदना' या 'छेदना' हैं । उक्त *न्यायसूत्र* का अर्थ यह है कि आकाश परमाणु के भीतर बाहर समाविष्ट या व्याप्त होने के कारण उसे भेद डालता है । जिससे वह सावयव होगा एवं इस कारण से अनित्य होगा । 'उत्पलपत्रशत' के साथ प्रयुक्त होने पर समस्त पद का अर्थ कमल के सैकड़ों पत्तों का (एक साथ) भेदन होता है । जिसका तात्पर्य 'शीघ्रवृत्तिता' होगा । *अनिरुद्ध वृत्ति* एवं *साहित्य दर्पण* दोनों में ही यह पद 'उत्पलपत्रशत' के साथ प्रयुक्त होने के कारण इसी अर्थ का द्योतन करता है । प्रथम में इन्द्रियों की शीघ्रवृत्तिता तथा द्वितीय में रसादि ध्वनि की असंलक्षयता प्रकट करने के लिये इसका प्रयोग हुआ है । इसके अतिरिक्त **डा. गार्बे** का यह कथन भी निराधार है कि उपर्युक्त दोनों स्थलों के अतिरिक्त केवल *न्यासूत्र* ४-२-१८ में ही इसका और प्रयोग मिलता है, क्योंकि **सिद्धसेनदिवाकर-कृत** *सन्मतितर्क* की **अभयदेवसूरि**-कृत व्याख्या में यह शब्द दो स्थलों में प्रयुक्त हुआ है । ये स्थल इस प्रकार है:— **(i) अतएव अवग्रहादिज्ञानानां कालभेदानुपलक्षणेऽपि क्रमोऽभ्युपगन्तव्य: उत्पलपत्रशतव्यतिभेद इव । (ii) न चोत्पलपत्रशतव्यतिभेदवदाशुवृत्ते: क्रमेऽपि यौगपद्यानुभवाभिमान: ।** **अभयदेवसूरि** निस्सन्देह **साहित्यदर्पणकार** से पहले होने

वाले आचार्य हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि *साहित्यदर्पण* का यह प्रयोग ही **अनिरुद्ध** के उक्त लेख का मौलिक आधार है। वस्तुतः यह पदावली लोकोक्ति के रूप में दार्शनिक साहित्य में प्रयुक्त होती रही है। सम्भवतः **अनिरुद्ध** एवं **विश्वनाथ**, दोनों ने ही इसे किसी अन्य पूर्ववर्ती स्रोत से ग्रहण किया। ऐसी स्थिति में **साहित्यदर्पणकार** भी **अनिरुद्ध** के काल निर्णय के लिये पूर्व प्रतीक नहीं हो सकते। इस प्रकार **अनिरुद्ध** को १४वी शताब्दी के **सायण** एवं **विश्वनाथ** के बाद १५वीं शताब्दी का मानना अयुक्त है।

पं. उदयवीर शास्त्री का उपयुक्त विचार सर्वथा युक्त एवं सगंत प्रतीत होता है। तब फिर प्रश्न यह है कि **अनिरुद्ध** के समय का निर्णय करने के लिये क्या आधार लिया जाये? अभी पीछे सिद्ध किया जा चुका है कि **विज्ञानभिक्षु अनिरुद्ध** से परवर्ती हैं। ऐसी स्थिति में **विज्ञान भिक्षु** के काल का ही सर्व प्रथम निर्णय होना चाहिए। *सांख्यसार* की भूमिका के पृ. ३७ की पादटिप्पणी में **श्री एफ. ई. हाल** ने *सांख्यसूत्रवृत्ति* की भूमिका के पृ. ८ पर **डा. गार्बे** ने, *इण्डियन लिट्टरेचर* (जर्मन संस्करण) के पृ. ४५७ पर **प्रो. विण्टरनिट्ज** ने, तथा *हिस्ट्री आव् इण्डियन फिलसफी,* भाग १ के २१२ तथा २२१ पृ. पर **डा. एस. एन. दासगुप्त** ने **विज्ञानभिक्षु** का समय ईसवी सोलहवीं शताब्दी का मध्य माना है। **डा. कीथ** ने भी अपने *सांख्य सिस्टम* नामक ग्रन्थ में इनका समय ईसवीय सोलहवीं शताब्दी का मध्य ही माना है।[१] **श्री पी. के गोडे** ने भी **विज्ञानभिक्षु** का यही समय सिद्ध किया है। यह बात सर्वविदित है कि **विज्ञानभिक्षु** के शिष्य **भावागणेश** थे जिन्होंने तत्त्वसमास-सूत्रों की *तत्त्वयाथार्थ्यदीपन* नामक टीका रची है। **भावागणेश** ने ग्रन्थ के आरम्भ में **विज्ञानभिक्षु** को गुरु बताकर नमस्कार किया है। आगे भी कई स्थलों में बड़े आदर और गर्व के साथ उनका उल्लेख किया है। **पी. के. गोडे** के मतानुसार इन्हीं **भावा गणेश** का उल्लेख बनारस के एक निर्णय-पत्र में पाया गया है, जो शक संवत्

---

१. द्रष्टव्य पृ.१४: ".....in the commentary of Vijnana Bhiksu on the Sankhya-Sutra, and in his sankhya-Sara, written about the middle of the sixteenth century A.D."

१५०५ अर्थात् १५८३ ई.सन् में लिखा गया। उसमें कई विद्वानों के हस्ताक्षर हैं, जो उस समय अपने अपने ब्राह्मणवर्ग के मुखिया थे। उनमें सर्व प्रथम **भावागणेश** का नाम है। वहां के लेख इस प्रकार हैं:-

तत्र सम्मतिः, भावये गणेशदीक्षित चिपोलणे।

गोडे महोदय के विचार से निर्णय पत्र के **भावये गणेश दीक्षित** तथा **विज्ञानभिक्षु** के प्रसिद्ध शिष्य **भावागणेश**, दोनों एक ही व्यक्ति हैं। इस प्रकार भावागणेश का समय ईसवी सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति में उनके गुरु **विज्ञानभिक्षु** का समय ई. सोलहवीं शताब्दी का मध्य होना चाहिए।

किन्तु इन सब आधुनिक विद्वानों के मत के विपरीत **पं. उदयवीर शास्त्री** का मत है कि **विज्ञानभिक्षु** का समय ई. १६वी शताब्दी के मध्य से पर्याप्त पूर्व रहा होगा। उनका कथन है कि *तर्क भाषा* की *तत्वप्रबोधिनी* टीका के हस्तलिखित ग्रन्थ का विवरण देते हुए **बर्नेल** ने लिखा है कि इस ग्रन्थ के रचयिता **गणेश दीक्षित** है, जिन्होंने ग्रन्थारम्भ में एक श्लोका द्वारा अपनी माता 'उमा' एवं पिता 'गोविन्द दीक्षित' को नमस्कार किया है। इससे स्पष्ट होता है कि ये **गणेश दीक्षित** **भावागणेश** से भिन्न व्यक्ति हैं, क्योंकि एक तो भावागणेश ने अपना नाम अपने *तत्त्वयाथार्थ्यदीपन* एवं *योगानुशासनवृत्ति* ग्रन्थों में **भावागणेश** ही दिया है, **गणेश दीक्षित** नहीं, और दूसरे **भावागणेश** ने *प्रबोधचन्द्रोदय* की अपनी टीका *चिच्चन्द्रिका* के प्रथम श्लोक में अपने पिता का नाम 'विश्वनाथ' तथा माता का नाम 'भवानी' दिया है। यह बात किसी तरह भी सम्भवन नहीं मानी जा सकती कि एक ही व्यक्ति एक स्थान में अपने माता-पिता का नाम कुछ लिखे और दूसरे स्थान पर कुछ और। इससे स्पष्ट है कि **श्री गोडे** की यह सम्भावना सर्वथा निराधार है कि भावा विश्वनाथ को गोविन्द दीक्षित तथा उमा को भवानी समझ लिया जाये।

डा. पी. के गोडे ने *तर्कभाषा* की टीका *तत्त्वप्रबोधिनी* के रचयिता **गणेश दीक्षित** जिनके पिता का नाम गोविन्द और माता का नाम उमा था, और **विज्ञानभिक्षु**

के शिष्य **भावागणेश दीक्षित**, जिनके पिता का नाम विश्वनाथ दीक्षित तथा माता का नाम भवानी था, को एक ही व्यक्ति मानने की सम्भावना प्रकट की है ।[1] इस मान्यता से निर्णय पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले 'भावये गणेश दीक्षित'को **गोडे** महोदय **विज्ञानभिक्षु** का शिष्य **भावगणेश** ही मानते हैं, और चूंकि निर्णय-पत्र लिखे जाने का समय शक-संवत् १५०५ है जो कि ईसवी सन् १५८३ हुआ, अतः **भावागणेश दीक्षित** का समय उनके अनुसार ईसवी १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध हुआ जिससे उनके गुरु **विज्ञानभिक्षु** का भी समय प्रायेण वही हुआ । **डा. गोडे** के इस मत का सविस्तर खण्डन **पं. उदयवीर शास्त्री** ने अपने ग्रन्थ *सांख्य दर्शन का इतिहास* में किया है ।[2] उसका सारांश इस प्रकार है: - **भावागणेश** ने अपने माता-पिता का नाम *प्रबोधचन्द्रोदय* की अपनी टीका *चिच्चन्द्रिका* के प्रथम श्लोक में भवानी और विश्वनाथ दिया है जो निर्णय पत्र के भावये गणेश दीक्षित के माता-पिता उमा और गोविन्द से भिन्न हैं । विभिन्न नामों के व्यक्ति यदि एक ही होने लगेंगे तो बड़ी अव्यवस्था या गड़बड़ी हो जायेगी ।

फिर बाराणसी के निर्णय पत्र में नीचे जो सर्वप्रथम हस्ताक्षर है, वह है 'भावये गणेश दीक्षित प्रमुख चिपोलणे' । परन्तु *प्रबोधचन्द्रोदय* की टीका *चिच्चन्द्रिका* के प्रथम श्लोक में उसके कर्ता ने अपने जिस उपनाम का उल्लेख किया है, वह है 'भावा' । यह बात अस्वाभाविक एवं असम्भव प्रतीत होती है कि जो व्यक्ति अपने किसी ग्रन्थ के आरम्भ में अपना उपनाम 'भावा' लिखे वहीं किसी अन्य स्थल में हस्ताक्षकर करते समय 'भावये'लिखे । इतना ही नहीं अपितु अपने नाम के आगे 'दीक्षित' पद और जोड़ ले । इससे यही निश्चय दृढ होता है कि वाराणसी के निर्णय-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाला पुरुष **विज्ञानभिक्षु** के शिष्य **भावागणेश** से भिन्न कोई व्यक्ति है । इसलिये इस निर्णय पत्र की तिथि के आधार पर **भावागणेश** एवं उनके गुरु **विज्ञानभिक्षु** का समय निर्धारित करना अयुक्त है ।

---

१. द्रष्टव्य अडयार लायब्रेरी बुलेटिन वाल्यूम ७ भाग,१ पृ. २० (फरवरी १९४४ अंक)।

२. द्रष्टव्य पृ. २९३ से लेकरि २९८ तक ।

आगे *अद्वैतब्रह्मसिद्धि* के रचयिता **सदानन्द यति**, जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती अन्य प्रसिद्ध आचार्यों के साथ **विज्ञानभिक्षु** के मत को भी खण्डनार्थ उद्धृत किया है, विक्रम संवत् १५३५ अर्थात् ई. सन् १४७८ में प्रादुर्भूत **वल्लभाचार्य** का पूर्ववर्ती मानते हुए **पं० उदयवीर जी** ने लिखा है कि शाङ्करवेदान्त विरोधी **रामानुजाचार्य** एवं **मध्वाचार्य** का अपने ग्रन्थ में खण्डन करने, किन्तु **वल्लभाचार्य** का खण्डन न करने के कारण अद्वैतब्रह्म सिद्धिकार **सदानन्दयति** अवश्य ही प्रथम दोनों के परवर्ती तथा **वल्लभाचार्य** के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं । **वल्लभाचार्य** ने अपने मत की स्थापना १५०० ई. के आस पास की होगी, अत: **सदानन्द** का समय **वल्लभाचार्य** के अधिक से अधिक समीप लाने पर भी ख्रीष्ट पञ्चदश शतक का मध्य (१४२० से १४९० तक के लगभग) मानना पड़ता है । **सदानन्दयति** के अन्यतम ग्रन्थ *वेदान्तसार* के सम्बन्ध में लिखते हुए **डा. कीथ** ने भी **सदानन्द** का यही काल स्वीकार किया है ।[१] इस प्रकार जब **विज्ञान भिक्षु** का अपने ग्रन्थ, *अद्वैतब्रह्मसिद्धि* में खन्डन[२] करने वाले **सदानन्द** ई. १५ वीं शताब्दी के मध्य के हैं, तब **विज्ञानभिक्षु** का समय निस्सन्देह

---

१. द्रष्टव्य सांख्य सिस्टम पृ. ११६: - The classical example is to be found in the Vedantasara of सदानन्द work written before A.D. १५००-

२. द्रष्टव्य अद्वैतब्रह्मसिद्धि (कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रकाशन, द्वि. संस्करण), प. २७ 'यच्चात्र सांख्यभाष्यकृता विज्ञानभिक्षुणा समाधानत्वेन प्रलपितम्' इत्यादि । इसके अतिरिक्त पृ. २६० पर भी सदानन्द ने सां.सू.१-८७ के भाष्य से विज्ञानभिक्षु कृत कुछ श्लोकों को भी उद्धृत किया है जो इस प्रकार हैं –

'प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणः वृत्तिरेव नः ।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम् ॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते ।
साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं वक्ष्यते स्वयम् ॥
अतः स्यात् कारणाभावाद् वृत्तेः साक्ष्येव चेतनः ।'

उपक्रमणिकाभाष्य के "अक्षपादप्रणीते च- यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायात्" इत्यादि सन्दर्भ को भी सदानन्द ने सांख्यभाष्यकृत का कह कर स्वकीय ग्रन्थ में उद्धृत किया है ।

ई. १५ वीं शताब्दी का मध्य आता है ऐसी स्थिति में **विज्ञानभिक्षु** को **सायण** का समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती आचार्य ही कहा जा सकता है, पश्चाद्वर्ती कदापि नहीं ।

शास्त्री जी के मत का खण्डन **डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव्य** ने अपने एक *अध्ययन—आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान* शीर्षक डी. फिल. शोध प्रबन्ध के प्रथम पटल के प्रथम अध्याय प. २७ से ३३ तक किया है, तथा आगे अध्यायान्त तक उनके समय के निर्णायक तथ्यों का विवरण देते हुए उन्हें १६ वीं शताब्दी में रखा है । यह खण्डन इस प्रकार है:—

"सदानन्द यति का समय निश्चित करने में **शास्त्री जी** ने दो प्रमाण दिये हैं । पहला प्रमाण यह है कि वे **वल्लभ** से पूर्ववर्ती हैं क्योंकि उन्होंने *अद्वैतब्रह्मसिद्धि* में **वल्लभ** और **निम्बार्क** का खण्डन नहीं किया, और दूसरा प्रमाण यह हैकि **प्रो. ए. बी. कीथ** ने **सदानन्द यति** के अन्यतम ग्रन्थ *वेदान्तसार* का समय १५०० ई. के कुछ पूर्व निश्चित किया है । इनमें से पहला तर्क *अद्वैतब्रह्मसिद्धि* की भूमिका लिखते समय **वामनशास्त्री इस्लामपुरकर** के द्वारा पहले ही दिया गया था । इस तर्क में कोई जान नहीं है । **सदानन्द यति** ने अनेक प्रकार के वेदान्तशाखावलम्बियों में से केवल उन्हीं पर मुद्गर-प्रहार किया है । जिन्होंने शङ्कर को 'प्रच्छन्न् बौद्ध' 'शङ्कर' 'वेदान्तिब्रुव' 'आधुनिकवेदान्ती' आदि अपशब्दों से अभिहित किया है, जैसे **रामानुज, मध्व** और **विज्ञानभिक्षु** । *अद्वैतब्रह्मसिद्धि* में निर्देश **विद्यारण्य, वेदान्त-मुक्तावलीकार** तथा **वेदान्तकौमुदीकार** का भी है, किन्तु वे सब शङ्करानुयायी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे । **सदानन्द यति** के लिये **वल्लभ** और **निम्बार्क** न शङ्करानुयायी थे, और नही उन्होंने कहीं भी अपने भाष्यों में शङ्कर के लिये एक भी अपशब्द का प्रयोग किया । उन लोगों ने शङ्कर के मत को पूर्व पक्ष के रूप में उठाकर सबल शब्दों में उसका खण्डन भी अपने भाष्यों में कहीं नहीं किया । ऐसी स्थति में बहुत सम्भव है कि इस निर्दोषता के कारण **सदानन्द यति** के मुद्गर-प्रहार के शिकार न बने हों । अत: इस बल पर **सदानन्द यति** को **वल्लभ** का पूर्ववर्ती मानना ठीक नहीं

है। रहा **शास्त्री जी** का दूसरा तर्क, वह तो भ्रान्ति की चोटी का नमूना है। सभी संस्कृत इतिहास वेत्ता इस बात को जानते हैं कि **सदानन्दयति** कश्मीर-निवासी थे। उन्होंने *वेदान्तसार* की रचना नहीं की।[१] *वेदान्तसार* के रचयिता **सदानन्द व्यास** थे जो रावलपिण्डी के निकट कुन्त्रील नामक ग्राम में पैदा हुए थे और बाद में काशी में रहने लगे थे।[२] जिनके गुरु का नाम **अद्वयानन्द**[३] था। *अद्वैत ब्रह्मसिद्धि* के रचयिता **सदानन्द यति** के गुरु **ब्रह्मानन्द सरस्वती** थे। दोनों व्यक्तियों को एक समझ कर उन्होंने भ्रान्ति की हद कर दी है। अत: यह निर्विवाद है कि *वेदान्तसार* के आधार पर **सदानन्द यति** का समय निश्चित करना बिलकुल व्यर्थ है।[४]

सदानन्द यति ब्रह्मानन्द सरस्वती के शिष्य थे, जैसा कि उनके ग्रन्थ *अद्वैतब्रह्मसिद्धि* के अन्त में दी गई पुष्पिका[५] से स्पष्ट है। इन्हीं **ब्रह्मानन्द** की **मधुसूदन सरस्वती** के प्रसिद्ध ग्रन्थ *अद्वैतसिद्धि* की *गुरुचन्द्रिका* और *लघुचन्द्रिका* नामक दो टीकायें— विस्तृत एवं संक्षिप्त उपलब्ध हैं। **मधुसूदन सरस्वती** का समय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध प्राय: सर्वमान्य है। अत: उनके टीकाकार **स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती** एवं उनके शिष्य काश्मीरक **सदानन्द यति** का समय ई. १७ वीं शताब्दी ही होगा, उससे पूर्व कथमपि नहीं। इसके विपरीत *वेदान्तसार* के रचयिता **सदानन्द** १५०० ई. के पूर्व के हैं, जैसा कि *वेदान्तसार* की *सुबोधिनी* टीका के रचयिता **नृसिंह सरस्वती** के द्वारा दिये गये (अपनी टीका के) रचना काल से

---

१. द्रष्टव्य, प्रो. हिरियन्ना द्वारा सम्पादित वेदान्तसार, पृ. १७

२. द्रष्टव्य, लक्ष्मण शास्त्री द्राविड द्वारा प्रकाशित अद्वैतसिद्धिसार की भूमिका पृ. १३-१५

३. द्रष्टव्य, वेदान्तसार, मंगलाचरण-श्लोक।

४. द्रष्टव्य डा. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव का 'आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान' शीर्षक शोध-प्रबन्ध, पृ. ३१-३२।

५. इति। श्रीपरमहंसपरिब्राजकाचार्यश्रीब्रह्मानन्दसरस्वतीश्रीपादशिष्यकाश्मीरक-श्रीसदानन्द- यति विरचितायामद्वैतब्रह्मासिद्धौ_।
—एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल संस्करण।

स्पष्ट है । यह समय शक संवत १५१० अर्थात् १५८८ ई. है ।[१] इससे *वेदान्तसार* के रचयिता **सदानन्द** १५०० ई. के पूर्व के ही होने चाहिए । **डा. कीथ** भी **सदानन्द** का यही समय मानते हैं । ऐसी स्थिति में दोनों को एक मानना, तथा **विज्ञानभिक्षु** को **यच्चात्र सांख्यभाष्यकृता विज्ञानभिक्षुणा समाधानत्वेन प्रलपितम्** इत्यादि स्वकीय ग्रन्थ सन्दर्भ में अपनी आलोचना का विषय बनाने के कारण **सदानन्द** से पूर्ववर्ती मान कर ई. १५वी शताब्दी में रखना बड़ी भारी भूल है । यह सत्य है कि **विज्ञानभिक्षु** को **सदानन्द** ने अपनी कटु आलोचना का विषय बनाया है, और यह भी सत्य है कि **सदानन्द** ई. १५ वी शताब्दी के हैं । तथापि यह बात सर्वथा असत्य है कि **विज्ञानभिक्षु** १५ वीं से पूर्व १४वीं शताब्दी के हैं । क्योंकि १५ वीं शताब्दी के **सदानन्द**, एवं **विज्ञानभिक्षु** की कटु आलोचना करने वाले **सदानन्द**, दोनों भिन्न व्यक्ति है । *वेदान्तसार* के रचयिता **सदानन्द** से **विज्ञानभिक्षु** के पूर्ववर्ती होने का कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं । इसके विपरीत परवर्ती होने के प्रमाण है, और वह यह है कि भिक्षु ने योगसूत्र २-१९ के व्याख्यान में सूक्ष्मशरीर-विषयक सांख्यसूत्र 'सप्तदशैकं लिङ्गम्, का उल्लेख करते हुए उसके 'एकम्' पद का 'समष्टि' का अर्थ करके व्यष्टि-समष्टि के पारस्परिक सम्बन्ध को 'पितापुत्रवद्' कार्यकारणात्मक कहा है और *वेदान्तसार* में **सदानन्द** द्वारा प्रतिपादित 'वनवृक्षवत्' व्यष्टिसमष्टि भाव का खण्डन भी किया है । इस प्रकार **विज्ञानभिक्षु** का वेदान्तसार-कार **सदानन्द** से परवर्ती होना निश्चित है । इसके साथ ही भिक्षु कृत 'सांख्यसार' की एक पाण्डुलिपि[२] का समय वि. संवत् १६८० अर्थात् ई. स्न १६२३ दिये होने के कारण,

---

१. द्रष्टव्य, सुबोधिनी टीका का उपसंहार-श्लोकः-
जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः
सञ्जाते दशवत्सरे प्रभुवरश्रीशालिवाहे शके ।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशुचौ मासेऽनुमत्यां तिथौ,
प्राप्ते भार्गववासरे नरहरिष्टीकां चकारोज्ज्वलाम् ॥

२. द्रष्टव्य, कैटलाग आव् संस्कृत मैनुस्क्रिप्टस्, भाग ४, सीरियल न. १८२३ ।

विज्ञानभिक्षु १६०० ई. से पूर्व ही रहे होंगे । इस प्रकार **विज्ञानभिक्षु** का समय ई. १५०० और १६०० के बीच अर्थात् ईसवीय १६वीं. शताब्दी में स्थिर होता है । ऐसी स्थिति में **विज्ञानभिक्षु** के काल के आधार पर **अनिरुद्ध** को ११वीं या १२वीं शताब्दी ई. का नहीं माना जा सकता ।

महादेव वेदान्ती

सांख्यसूत्रों के तीसरे टीकाकार **महादेव वेदान्ती** है । जैसा पहले भी निवेदित किया जा चुका है, **महादेव** ने **अनिरुद्ध**-वृत्ति को अपनी टीका का आधार बनाया है एवं तदनुसार उसका नाम *वृत्तिसार* रखा है । यह टीका प्रायेण **अनिरुद्ध** की वृत्ति का ही संक्षेप करके उसे सार रूप में देती है । **महादेव** ने अपनी टीका के आरम्भिक[1] एवं प्रथम अध्याय के उपसंहारात्मक[2] श्लोकों में इस बात को स्पष्ट स्वीकार भी किया है । उन्होंने अपनी टीका की सार्थकता परवाक्य –दूसरे से ग्रहण किये गये वाक्यों – का अर्थ स्पष्ट करने एवं पाठों को संशोधन करने में मानी है । 'पर' से **महादेव** का तात्पर्य स्पष्टतः **अनिरुद्ध** से है, यह तो उन्हीं के 'दृष्ट्वाऽनिरुद्धवृत्तिम्' कथन से स्पष्ट है । उनके कथन का तात्पर्य यह है कि अपनी *वृत्तिसार* टीका के लेखन में वे सबसे अधिक अथवा प्रधान रूप से **अनिरुद्ध** के ही ऋणी हैं । औरों का भी थोड़ा-बहुत ऋण हो सकता है पर वह इतना नहीं जो शब्द द्वारा स्वीकार करने योग्य हो । **डा. गार्बे** के अनुसार सांख्यसूत्रों के प्रथम दो अध्यायों की महादेव-कृत टीका **विज्ञानभिक्षु** के भाष्य की प्रतिलिपि-मात्र है । इसके विपरती **पं. उदयवीर शास्त्री** इसे **डा. गार्बे** का **महादेव** के ऊपर एक महान आक्षेप बताते हैं ।

---

१. दृष्ट्वानिरुद्धवृत्तिं बुद्ध्वा सांख्यीयसिद्धान्तम् ।
विरचयति वृत्तिसारं वेदान्त्यादिर्महादेवः ॥

२. अत्र मामकसन्दर्भे नास्ति कापि स्वतन्त्रता ।
इति ज्ञापयितुं वृत्तिसार इत्यभिधा कृता ॥
परवाक्यानि लिखता तेषामर्थो विभावितः ।
कृता सन्दर्भशुद्धिश्चेत्येवं मे नाफलः श्रमः ॥

उनके मत से **विज्ञानभिक्षु** ने केवल **अनिरुद्ध** अपितु उनका अनुसरण करने वाले महादेव वेदान्त से भी परवर्ती हैं । अपनी इस मान्यता के निम्नलिखित कारण **शास्त्री जी** ने दिये हैं ।[१]

(अ) **महादेव** ने स्पष्ट ही **अनिरुद्ध** का उल्लेख किया है और उसकी वृत्ति को देखकर व्याख्या लिखने का निर्देश किया है । यदि सचमुच ही उसने **विज्ञानभिक्षु** के भाष्य की प्रतिलिपि की होती, तो वह **विज्ञानभिक्षु** का ही नाम लिखने में क्यों संकोच करता ? छिपाने की भावना उस संगत हो सकती थी, जब कि वह किसी के भी नाम का उल्लेख न करता । **विज्ञानभिक्षु** के अतिरिक्त **अनिरुद्ध** का नाम लिख देने से तो कोई भी लाभ नहीं होता । किसी का भी नाम लिखे, वह अनुकरणकर्ता तो कहलायेगा ही ।

(आ) प्रथम अध्याय के दो उपसंहार श्लोकों में से द्वितीय में उसने अपनी रचना के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि दूसरे के वाक्यों को लिखते हुए मैंने उनके अर्थों का ही विभावन अर्थात् प्रकाशन या खुलासा किया है, और पाठ का संशोधन किया है, इसलिये मेरा परिश्रम व्यर्थ न संमझना चाहिये । **महादेव** के इस लेख से यह स्पष्ट है कि वह दूसरे की सर्वथा प्रतिलिपि नहीं कर रहा है, प्रत्युत पूर्व प्रतिपादित अर्थों को स्पष्ट करने के लिये ही उसका प्रयत्न है । उसका स्वयं निर्दिष्ट यह वर्णन तभी संगत हो सकता है, जब हम यह मानते हैं कि उसने **अनिरुद्ध** निर्दिष्ट अर्थों का ही स्पष्टीकरण किया है । अन्यथा **महादेव** की रचना को यदि विज्ञान-भाष्य की प्रतिलिपि माना जाये, तब उसकी कोई भी प्रतिज्ञा सत्य नहीं कहीं जा सकती क्योंकि प्रतिलिपि में न अर्थ का विभावन है और न सन्दर्भ का संशोधन । इसलिये यह मान लेना अत्यन्त कठिन है कि **महादेव** विज्ञान-भाष्य की प्रतिलिपि की है ।

(इ) ग्रन्थ की आन्तरिक साक्षी भी इस बात को प्रमाणित करती है कि **महादेव** ने विज्ञान का अनुकरण नहीं किया । *षडध्यायी* १-६१ सूत्र पर **विज्ञानभिक्षु** लिखता है—**एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः** । **अनिरुद्ध**

---

१. द्रष्टव्य, सांख्य दर्शन का इतिहास,पृ. ३१४-१६ ।

ने अपनी वृत्ति में अनेक स्थलों पर सांख्यों को अनियतपदार्थवादी कहा है। **अनिरुद्ध** के समान महादेव ने भी इस वाद को स्वीकार किया है। *षडध्यायी* ५-१०७ सूत्र पर **महादेव** लिखता है– **अनियतपदार्थवादिनो हि सांख्याः** । इससे स्पष्ट होता है कि **महादेव** के द्वारा विज्ञान-भाष्य की प्रतिलिपि करना तो दूर की बात है, यदि उसने विज्ञान-भाष्य को देखा भी होता तो, या तो वह इस वाद को अस्वीकार कर देता जिसको **विज्ञानभिक्षु** ने मूर्खों का प्रलाप कहा है, अथवा यदि स्वीकार करता तो विज्ञान के लेख पर कुछ न कुछ आलोचना अवश्य लिखता। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि **महादेव** ने **विज्ञानभिक्षु** के भाष्य को नहीं देखा। इसलिये **महादेव** का *वृत्तिसार* निश्चित ही **विज्ञानभिक्षु** से पूर्व की रचना है, और इसलिये यह कहा जा सकता है कि **विज्ञानभिक्षु** ने ही इन वृत्तियों का आधार लेकर अपने भाष्य को विशद रूप में लिखा है।

(ई) ग्रन्थ की एक और आन्तरिक साक्षी भी इस बात का प्रमाण है कि **महादेव** **विज्ञानभिक्षु** की अपेक्षा पूर्ववर्ती व्याख्याकार है। *षडध्यायी* के ३-९ सूत्र पर **विज्ञानभिक्षु** लिखता है:—**एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदश, अहङ्कारस्य बुद्धावेवान्तर्भाव। ...एतान्येव सप्तदश लिङ्गं मन्तव्यं, न तु सप्तदश एकं चेत्यष्टादशतया व्याख्येयम्।** **विज्ञानभिक्षु** ने अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके लिङ्ग शरीर के घटक अवयवों की संख्या सत्रह ही मानी है। सूत्र के 'सप्तदशैकं' पद को 'सप्तदश च एकं च' इस समाहार द्वन्द के आधार पर एक पद मान कर लिङ्ग शरीर अवयवों की, जिन व्याख्याकारों ने अठारह संख्या मानी है, उनका **विज्ञानभिक्षु** ने खण्डन किया है। हम देखते है कि **अनिरुद्ध** के समान **महादेव** ने भी सूत्र के 'सप्तदशैक' पद में समाहार द्वन्द्व मान कर लिङ्ग शरीर के अठारह अवयवों का ही उल्लेख किया है। **महादेव** का लेख इस प्रकार है :—**सप्तदश च एकं चेति समाहारद्वन्द्वः। बुद्ध्यहङ्कारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दशेन्द्रियाणीति सूक्ष्मं लिङ्गमिति चोच्यते**। इससे भी स्पष्ट परिणाम निकलता है कि **महादेव** ने **विज्ञानभिक्षु** के ग्रन्थ को नहीं देखा। यदि वह विज्ञान का अनुकरण करता तो उसके समान ही लिङ्ग शरीर के अवयवों की सत्रह संख्या मानता, जैसा कि **विज्ञानभिक्षु**

के पश्चाद्वर्ती अन्य व्याख्याकारों ने उसका अनुकरण किया है। ... यदि **महादेव** **विज्ञानभिक्षु** के मत को स्वीकार न करता, तो अपने से विरुद्ध उसके व्याख्यान के सम्बन्ध में कुछ अलोचना करता, जैसै **विज्ञानभिक्षु** ने अपने विरुद्ध व्याख्यान की है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट परिणाम निकल आता हैं कि **विज्ञानभिक्षु** की अपेक्षा **महादेव** पूर्ववर्ती व्याख्याकार है।

शास्त्री जी के द्वारा दिये गये ये उपर्युक्त कारण स्वतंत्र रूप से **विज्ञानभिक्षु** से **महादेव वेदान्ती** की पूर्ववर्तिता नहीं सिद्ध कर सकते। हां, पूर्ववर्तिता सिद्ध करने वाले किसी निश्चायक प्रमाण अथवा हेतु के सहायक अथवा समर्थक हेतु अवश्य हो सकते हैं। परन्तु **शास्त्री** के चार हेतुओं में से एक भी ऐसा नहीं है जो स्वतन्त्र रूप से **महादेव** का **विज्ञानभिक्षु** से पूर्ववर्तित्व सिद्ध करने में समर्थ हो। इसके विपरीत कम से कम एक ऐसा निश्चायक प्रमाण, है जो स्वतन्त्र रूप से **महादेव** का **विज्ञानभिक्षु** से परवर्तित्व सिद्ध करता है। वह प्रमाण है **महादेववेदान्ति**-कृत *विष्णुसहस्रनाम टीका* के पुष्पिका श्लोक जिनमें ग्रन्थकार ने अपने तथा अपने गुरु के नाम के साथ इस ग्रन्थ के रचना काल की भी उल्लेख किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं : -

श्रीमत्स्वयम्प्रकाशाङ्घ्रिलब्धवेदान्तसम्पदः।
महादेवोऽकरोद् व्याख्यां विष्णुसहस्रनामगाम्॥

खबाणमुनिभूमाने वत्सरे श्रीमुखाभिधे।
मार्गासिततृतीयायां नगरे ताप्यलङ्कृते॥

इनमें यह बात स्पष्ट कथित है कि सं. १६५० अर्थात् स् १६९३ ई. में **महादेव वेदान्ती** ने *विष्णुसहस्रनाम-व्याख्या* समाप्त की। इस प्रकार **महादेव** का समय १७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध सिद्ध होता है, जब कि **विज्ञानभिक्षु** का समय ईसवी १६वीं शताब्दी इसके पूर्व सिद्ध किया जा चुका है। अतएव इस आधार पर **महादेव** का **विज्ञानभिक्षु** से परवर्ती होना सुनिश्चित है।

अब रहे इस मान्यता के विरुद्ध **शास्त्री जी** के पूर्वोल्लिखित चारों तर्क, उनका खण्डन इस प्रकार किया जा सकता है:-प्रथम तर्क में केवल इतनी बात कही गई है कि चूंकि **महादेव वेदान्ती** ने **विज्ञानभिक्षु**-कृत भाष्य को देख कर स्वकीय *वृत्तिसार* लिखने की कहीं भी चर्चा नहीं की है, जब कि **अनिरुद्ध** कृत *वृत्ति* को देख कर लिखने का स्पष्ट उल्लेख ग्रन्थारम्भ में ही किया है, अतः स्पष्ट है कि उन्होंने विज्ञान-कृत 'भाष्य' नहीं देखा था और अगर देखा होता तो जैसे *अनिरुद्धवृत्ति* को देख कर स्वग्रन्थ-रचना करने का स्पष्ट उल्लेख निस्संकोच किया है, उसी प्रकार विज्ञान-भाष्य को देखकर स्वग्रन्थ-रचना करने का भी स्पष्ट उल्लेख करते। अनुकर्ता तो अनुकर्ता ही, जैसे एक का वैसे ही दो का। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि भाष्य को देख कर स्वग्रन्थ लिखने की बात का उल्लेख न करना इस बात का द्योतक हो सकता है कि अपने द्वारा अनुसरण की गई *अनिरुद्ध वृत्ति* में प्रतिपादित अनेक मतों का विरोध करने के कारण विज्ञान-कृत भाष्य की **महादेव** ने उपेक्षा की हो और इसी कारण उसका उल्लेख न किया हो। परस्पर विरोध होने पर भी दोनों के ही *अनिरुद्ध वृत्ति* से प्रभावित होने के कारण अविरुद्ध स्थलों में परस्पर समानता का होना कोई अस्वाभाविक अथवा असम्भव बात नहीं है। क्या कोई आवश्यक बात है कि यदि कोई लेखक किसी अन्य लेखक का उल्लेख न करे तो वह उसकी अपेक्षा पूर्ववर्ती ही हो।

शास्त्री जी का द्वितीय तर्क पिष्ट-पेषण मात्र है। उन्होंने **डा. गार्बे** की इस उक्ति को खूब रगड़ा है कि *सांख्य-प्रवचन-सूत्र* के प्रथम दो अध्यायों की महादेव-कृत टीका विज्ञान-कृत भाष्य की प्रतिलिपि मात्र है। उनका कथन है कि महादेव के ग्रन्थ के विषय में **गार्बे** की यह उक्ति उनके ही

परवाक्यानि लिखता तेषामर्थो विभावितः
कृता सन्दर्भशुद्धिश्चेत्येवं मे नाफलः श्रम ॥

इत्यादि उक्ति के साथ संगत नहीं होती, क्योंकि 'प्रतिलिपि' में न अर्थ का विभावन है और न सन्दर्भ का संशोधन। 'प्रतिलिपि' शब्द को इतना रगड़ने की क्या आवश्यकता है ? **गार्बे** का तात्पर्य शायद इतना ही रहा होगा कि **महादेव** ने

अपनी टीका के प्रारम्भिक दो अध्यायों में **अनिरुद्ध** के अतिरिक्त **विज्ञान** का भी अनुसरण किया है और प्रचुर मात्रा में किया है । इसे न तो अनिरुद्ध-वृत्ति के **महादेव** कृत अर्थ विभावन (खुलासा) में से कोई कमी आती है और न संशोधन में ही । 'प्रतिलिपि' का विशुद्ध वाच्यार्थ लेने पर ही गड़बड़ी पैदा होती है । फिर **प्रो. गार्बे** के एक शब्द-विशेष को इतना महत्व देना कि उसको **महादेव** और **विज्ञान** के पौर्वापर्य का आधार ही बना देना, कहां तक ठीक है ?

तीसरे तर्क में **शास्त्री जी** ने कहा कि **अनिरुद्ध** और उनके आधार पर **महादेव** ने भी सांख्यों को 'अनियतपदार्थवादी' कहा है जिसे विज्ञान ने अपने भाष्य में 'मूढप्रलाप' कहा है । अब यदि **महादेव** ने विज्ञान-कृत भाष्य देखा होता तो या तो वे इस वाद को अस्वीकार कर देते, या फिर इसको 'मूढ-प्रलाप' कहने वाले विज्ञान के लेख की वे कुछ न कुछ आलोचना अवश्य करते । पर **शास्त्री जी** का यह कथन भी समीचीन नहीं जान पड़ता । किसी के कथन की आलोचना करना या न करना बहुत-कुछ लेखक-विशेष की मनोवृत्ति पर निर्भर करता है । हो सकता है कि **विज्ञान** के इस कथन के सम्बन्ध में **महादेव** का किसी कारण वश उपेक्षा भाव रहा हो जिससे उन्होंने इसकी आलोचना न की हो । वह कारण-विशेष परमत के खण्डन में न जाकर केवल स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन करना आदि हो सकता है ।

चौथे तर्क के विषय में भी यही बात कही जा सकती है । **अनिरुद्ध** एवं **महादेव** दोनों ने ही सूक्ष्म शरीर को अठारह तत्त्वों का बना हुआ बताया है, जब कि **विज्ञानभिक्षु** ने अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके सूक्ष्म शरीर के घटक तत्त्वों की संख्या सत्रह ही मानी है । इस विषय में **महादेव** के **अनिरुद्ध** का अनुसरण करने तथा **विज्ञानभिक्षु** का अनुसरण न करने से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध नहीं होती कि **महादेव विज्ञानभिक्षु** से पहले के हैं, क्योंकि यहां भी पूर्ववत् वही स्वरुचि अथवा मनोवृत्ति की बात आती है । **महादेव** को **अनिरुद्ध** का अनुसरण करते हुए अहङ्कार को बुद्धि से पृथक रखना तथा सूक्ष्म शरीर में अठारह तत्व मानना ही अच्छा और ठीक लगा होगा, **विज्ञानभिक्षु** की भांति अहङ्कार को बुद्धि में अन्तर्भूत करके उस (सूक्ष्म शरीर) में सत्रह ही तत्त्व मानना नहीं । **विज्ञानभिक्षु** के परवर्ती आचार्यों

में **भावागणेश** तो **विज्ञानभिक्षु** के शिष्यों में अन्यतम थे, अत: उनकी विशिष्ट मान्यताओं का अनुसरण **भावागणेश** के लिये स्वाभाविक ही था। इसी से लिङ्गशरीर के निरूपण के प्रसंग में **तेषु त्रयोवशिंतितत्वेषु पञ्चमहाभूतानि वर्जयित्वाहङ्कारं च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिङ्गशरीरसंज्ञं भवति वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्तिस्थानत्वात्। तच्च सर्वपुरुषाणां स्वस्वबीजभूतप्रकृतिसंयोगात् सर्गादावुत्पद्य प्राकृतप्रलयपर्यन्तं तिष्ठति, तेनैव चेहलोकपरलोकयोर्जीवानां संसरणं भवति। प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेद इत्यतो लिङ्गशरीरे पृथक् न निर्दिश्यते बुद्धावेवान्तर्भावात्।**[१] इत्यादि लिखा है। इसी प्रकार इनके परवर्ती **षिमानन्द** ने अपने ग्रन्थ *सांख्यतत्त्वविवेचन* में पृ. ३८ पर **लिङ्गशरीरं तु बुद्ध्यहङ्कारमनोबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियपञ्चतन्मात्राणामष्टादशानां समुदाय:** लिखकर भी उसी के आगे **त्रयोविंशतितत्त्वमध्ये पञ्चभूतानि वर्जयित्वा अहङ्कारं च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिङ्गशरीरसंज्ञं भवति वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्तिस्थानत्वात्। तच्च सर्वपुरुषाणां सर्गादावुत्पद्य प्राकृतप्रलयपर्यन्तं तिष्ठति तेन चैवेहलोकपरलोकयो: संसरणं जीवानां भवति। प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेद इत्यतो न लिङ्गशरीरात् पृथक् निर्दिश्यते।**[२] इत्यादि पंक्तियों में **भावागणेश** की ही पूर्वोद्धृत पंक्तियों को प्राय: ज्यों की त्यों रख दिया है। स्पष्ट है कि **षिमानन्द** के समक्ष **विज्ञानभिक्षु** के शिष्य **भावागणेश** का उपर्युक्त लेख था जिसके साथ अपने लेख का समन्वय करने के लिये ही षिमानन्द ने भावागणेश की भांति अहङ्कार को बुद्धि में अन्तर्भूत करके सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों की संख्या सत्रह भी बता दी, और इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट कर दिया कि दोनों कथनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। यों, प्रथम अठारह तत्त्वों का कथन करके उसके प्रति अपनी विशेष रुचि लेखक ने स्पष्ट ही प्रकट कर दी है। सांख्य (सूत्र) विवरणकार ने भी **लिङ्ग.... महदहङ्कारेन्द्रियतन्मात्रात्मकम्**[३] लिख कर लिङ्ग शरीर को अष्टादशात्मक ही बताया है। **आचार्य कृष्णमित्र** द्वारा रचित *तत्त्वमीमांसा* (जो वाचस्पतिमिश्र-कृत सांख्यतत्वकौमुदी का संक्षेप करने वाला

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यसंग्रह में संख्या २ पर मुद्रित 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' पृ. ६६-७

२. तत्रैव, 'सांख्यतत्त्वविवेचन', पृ. ३९

३. द्रष्टव्य, सांख्यसंग्रह में संख्या ४ पर मुद्रित 'सांख्यसूत्रविवरण' पृ. ११३

स्वतंत्र ग्रन्थ है, उसका अथवा तत्त्वसमाससूत्र का व्याख्यान-ग्रन्थ नही) में भी लिङ्ग शरीर के अष्टादशात्मकत्व का ही सिद्धान्त प्रतिपादित है,[१] उसका खण्डन नहीं। ऐसी स्थिति में **पं. उदयवीर जी** का यह कथन असत्य है कि **विज्ञानभिक्षु** के परवर्ती सभी आचार्यों ने सूक्ष्म शरीर के विषय में उन्हीं का अनुसरण किया है। इस प्रकार इस आधार के खंडित हो जाने पर **विज्ञानभिक्षु** का अनुसरण न करने वाले **महादेव वेदान्ती** को इस कारण से उनका पूर्ववर्ती नहीं माना जा सकता।

अनिरुद्ध एवं विज्ञानभिक्षु की विशिष्ट मान्यताएं

षडध्यायी सांख्यप्रवचन-सूत्र के व्याख्याकारों के काल-विषयक गत विवेचन से यह अतिरिक्त तथ्य भी सामान्यत: ज्ञात हो चुका है कि सांख्य दर्शन के अनेक सिद्धान्तों के विषय में **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** की अपनी-अपनी विशिष्ट मान्यताएं हैं। **विज्ञानभिक्षु** ने **अनिरुद्ध** के विचारों का अपने भाष्य के अनेक स्थलों में उल्लेख करके खण्डन किया है। सांख्य प्रवचन सूत्रों के ये ही दो सर्व प्रसिद्ध व्याख्याकार है। अत: सूत्रोक्त सांख्य के सिद्धान्तों के सम्यक् ज्ञान या बोध के लिये इन दोनों आचार्यों के विशिष्ट मतों एवं कुछ प्रधान पारस्परिक मत भेदों का विचार आवश्यक है।

अनिरुद्ध ने कई स्थलों पर सांख्यों को अनियतपदार्थवादी कहा है। १-४५, १-५६, ५-८५, ५-१०७, ५-१८ तथा ६-३८ की वृत्ति में **अनिरुद्ध** ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है। कहीं तो **अनियतपदार्थवादित्वादस्माकम्** कहीं **अनियत-पदार्थवादित्वात् सांख्यानाम्** और कहीं केवल **अनियत्वात् पदार्थानाम्** लिखा है। बार-बार उल्लेख करने से सिद्ध होता है कि उनके मत से सांख्य दर्शन 'अनियत-पदार्थवादी' है। जिन प्रसङ्गों में यह पद प्रयुक्त हुआ है, उन्हें देखने से इसका अर्थ पदार्थों की निश्चित संख्या न मानने वाला प्रतीत होता है। न्याय खण्डन परक **षोडशादिष्वप्येवम्** (५-८७) सूत्र की वृत्ति में सोलह पदार्थों के अवान्तर भेदों का उल्लेख करके अन्त में **इयन्त इति न नियमः न वा तद्बोधान्मुक्तिः, आदिशब्दा**

१. तत्रैव ८ पर मुद्रित तत्त्वमीमांसा, पृ. १९१ – सर्गादामहाप्रलयमवतिष्ठते सूक्ष्मशरीरं, तच्च महदहंकारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रसमुदायः।

दन्येऽनियतपदार्था निराकार्याः । लिखने से स्पष्ट है कि जिस प्रकार सोलह पदार्थ मानने वाला न्याय नियतपदार्थवादी है अथवा छः (भाव) पदार्थ मानने वाला वैशेषिक नियतपदार्थवादी है ।[१] उस प्रकार सांख्य 'नियतपदार्थवादी नहीं है । स्पष्टतः पदार्थों की नियत या निश्चित संख्या मानना ही नियतपदार्थवादी होना है **अनिरुद्ध** के मत से सांख्य पदार्थों की नियत संख्या न मानने के कारण अनियतपदार्थवादी दर्शन है । **अनिरुद्ध** का ही अनुसरण करते हुए **महादेव वेदान्ती** ने भी सा. सू. १-६१ के अपने व्याख्यान में 'अनियतपदार्थवादिनो हि सांख्याः' लिखा है । परन्तु इसके विपरीत विज्ञानभिक्षु ने सां सू. १-१६१[२] के भाष्य में **अनिरुद्ध** के इस मत का खण्डन करते हुए इसे 'मूढप्रलाप' कह कर उपेक्षणीय बताया है । उनके कथन[३] का तात्पर्य यह है कि सूत्र में तो स्पष्ट ही पच्चीस तत्त्वों या पदार्थों का कथन है । सांख्य मत से धर्म और धर्मी में अभेद होने के कारण द्रव्य रूप इन्हीं पच्चीस तत्त्वों में गुण, कर्म, सामान्य आदि का अन्तर्भाव समझना चाहिये । इनके अतिरिक्त पदार्थ माने जाने पर तो उन-उन से भी पुरुष का विवेक अथवा भेद वाञ्छनीय होने से पदार्थों में उनका संग्रह न होने पर न्यूनता का प्रसङ्ग उठेगा । अतएव सांख्यानुयायियों को अनियतपदार्थवादी बताना 'मूढप्रलाप' — मूर्खतापूर्ण कथन — है और इसी कारण उपेक्षणीय है । **विज्ञानभिक्षु** के पक्ष में यहां इतना अवश्य वक्तव्य है कि उनका कथन सा. सू. १-६१ से सर्वथा समर्थित है । उसमें पदार्थ-संख्या 'पच्चविंशति' शब्दतः कथित है । फिर **अनिरुद्ध** का उसको अनियत बताना सूत्र विरुद्ध लगता

---

१. द्रष्टव्य सा. सू. ५-८५ की अनिरुद्ध वृत्ति ।

२. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ।

३. इत्येवं पञ्चविंशतिगणः पदार्थव्यूहः एतदतिरिक्तः पदार्थो नास्तीत्यर्थः । अथवा सत्त्वादीनां प्रत्येकव्यक्त्यानन्त्यं गणशब्दो वक्ति । अयं च पञ्चविंशतिको गणो द्रव्यरूप एव । धर्मधर्म्यभेदात् तु गुणकर्मसामान्यादीनामत्रैवान्तर्भावः एतदतिरिक्तपदार्थत्वे सति हि ततोऽपि पुरुषस्य विवेक्तव्यतया तदसंग्रहन्यूनतापद्येत । एतेन सांख्यानामनियतपदार्थाभ्युपगम इति मूढप्रलाप उपेक्षणीयः । दिक्कालौ चाकाशमेव 'दिक्कालावाकाशादिभ्य' इत्यागामिसूत्रात् ।

है । स्वयं **अनिरुद्ध** ने अपने कथन का कोई स्पष्टीकरण या समर्थन नहीं किया है । ऐसी स्थिति में उनके अभिप्राय के सम्बन्ध में कुछ विशेष कह सकना कठिन है ।

अनिरुद्ध एवं **विज्ञानभिक्षु** की लिङ्गशरीर-विषयक मान्यताएं भी परस्पर पर्याप्त भिन्न है । अभी थोड़ा ही पीछे **वेदान्ती महादेव** के काल निर्णय के प्रसङ्ग में इस की कुछ चर्चा की जा चुकी है । उससे यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि **अनिरुद्ध** एवं उनकी सांख्यसूत्र वृत्ति के टीकाकार **महादेव**, दोनों ही लिङ्ग शरीर को अठारह तत्त्वों से बना मानते हैं, जब कि इसके विपरीत **विज्ञानभिक्षु** एवं उनके शिष्य **भावागणेश** उसमें सत्रह ही तत्त्वों का समावेश करते हैं । **सप्तदशैकं लिङ्गम्** (सा. सू. ३-९) सूत्र की व्याख्या करते हुए **अनिरुद्ध** ने अपनी वृत्ति में **सप्तदश च एकं च अष्टादश, तैर्लिङ्गं सूक्ष्मदेह उत्पद्यते । बुद्ध्यहङ्कारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दशेन्द्रियाणीति** । इत्यादि लिखा है, जिससे सुस्पष्ट है कि उनके मत से लिङ्ग या सूक्ष्म शरीर में अठारह तत्त्व होते हैं **अनिरुद्ध** से बहुत पूर्व **वाचस्पति मिश्र** आदि ने भी ४० वीं *सांख्यकारिका*[१] की टीका में इसी मत का प्रतिपादन किया था । कारिका का 'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्' पद स्वयमेव ऐसा है कि उससे दो अर्थ निकल ही नहीं सकते । ४०वीं के पूर्व २२वीं कारिका[२] में सृष्टि-क्रम स्पष्टतः कथित होने से महत् से लेकर सूक्ष्म तन्मात्रों तक (महत अहङ्कार, एकादश इन्द्रियां एवं पञ्च तन्मात्र) सब अठारह तत्त्व होते हैं । इसी से **माठर, शंकराचार्य एवं वाचस्पति मिश्र** आदि सभी टीकाकारों ने ४० वीं कारिका की टीका में 'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्' पद से इन्हीं अठारह तत्त्वों का ग्रहण किया था ।[३] इन सब आचार्यों के बहुत बाद होने

---

१. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥

२. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥

३. (i) पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चतन्त्रमाणि मनो बुद्धिरहङ्कार एवमष्टादश महदादिसूक्ष्मपर्यन्तमिति । – माठर
(ii) बुद्धिरादिर्यस्य तत् महदिति, सूक्ष्मविषयास्तन्मात्रलक्षणः पर्यन्तं यस्य तंत्

वाले **अनिरुद्ध** ने भी सम्भवत: अपने पूर्ववर्तियों के लेखों को देखकर अथवा स्वमयेंव 'सप्तदशैकं' पद का 'सप्तदश च एकं च अष्टादश' अर्थ किया। **अनिरुद्ध** के टीकाकार वेदान्ती महादेव ने भी मूल का ही अनुसरण करते हुए **सप्तदश च एकं चेति समाहारद्वन्द्वः, बुद्ध्यहङ्कारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दशेन्द्रियाणीति सूक्ष्म लिंगमिति चोच्यते**। इत्यादि व्याख्या की है। परन्तु इसके विपरीत आचार्य **विज्ञानभिक्षु** ने उपर्युक्त सूत्र का भाष्य करते हुए अपना भिन्न मत इस प्रकार प्रकट किया है: - **सूक्ष्मशरीमप्याधाराधेयभावेन द्विविधं भवति। तत्र सप्तदश मिलित्वा लिंगशरीरं, तच्च सर्गादौ समष्टिरूपमेकमेव भवतीत्यर्थः। एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदश। अहङ्कारस्य बुद्धावेवान्तर्भावः चतुर्थसूत्रे वक्ष्यमाणप्रमाणादेतान्येव सप्तदशं लिङ्गं मन्तव्यं, न तु सप्तदशमेकं चेत्यष्टादशतया व्याख्येयम्। उत्तरसूत्रेण व्यक्तिभेदस्योपपाद्यतयात्र लिंगैकत्वे एकशब्दस्य तात्पर्यावधारणञ्च**। **आचार्य भिक्षु** के इस कथन से उनका सूक्ष्मशरीर विषयक मतभेद स्पष्ट प्रकट हो जाता है। उनके अनुसार प्रथमत: शरीर दो प्रकार का होता है—एक लिङ्ग शरीर और दूसरा अधिष्ठान शरीर। इनमें अधिष्ठान शरीर लिङ्गशरीर का आधार होता है और लिङ्गशरीर उसका आधेय। अधिष्ठान शरीर का भी आधार षाट्कौशिक मातापितृज स्थूल शरीर होता है। एवं सब तीन शरीर होते हैं। इनमें अधिष्ठान शरीर पञ्च सूक्ष्म भूतों (तन्मात्रों) का होता है। यह तथ्य **तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः**। (सांख्यसूत्र ३-११) के **लिंगसम्बन्धादधिष्ठानस्य देहत्वमधिष्ठानाश्रयत्वाच्च स्थूलस्य देहत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः। अधिष्ठानशरीरं च सूक्ष्मपञ्चभूतात्मकं कथ्यते तथा च शरीरत्रयं सिद्ध्यति**। इस भिक्षु भाष्य से स्पष्ट है। इसके आगे भिक्षु जी ने दो ही शरीर का उल्लेख करने वाले

सूक्ष्मपर्यन्तम्। बुद्धिरहंकार एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणीत्येतत्परिमाणमित्यर्थः। जयमङ्गलाकार

(iii) 'महदादिसूक्ष्मपर्यन्तं' महदहङ्कारैकादशेन्द्रियपञ्चतन्मात्रपर्यन्तम्।– वाचस्पति मिश्र २. न स्वातन्त्रयात् तदृते छायावच्चित्रवच्च॥ सां. सू. ३-१२

आतिवाहिक एकोऽस्ति देहोऽन्यस्त्वाधिभौतिकः।
सर्वासां भूतजातीनां ब्रह्मणस्त्वेक एव किम्॥

इत्यादि शास्त्रीय वचन का रहस्य अधिष्ठान और लिङ्ग शरीर के परस्पर नियत एवं सूक्ष्म होने के कारण दोनों का एक मान या समझ लिया जाना बताया है। अपनी इसी मान्यता के अनुसार उन्होंने अगले सूत्र[१] अधिष्ठानशरीर-विषयक प्रमाण का उपन्यास करने वाला माना है— **यथा छाया निराधारा न तिष्ठति यथा वा चित्रमित्यर्थः, तथा च स्थूलदेहं त्यक्त्वा लोकान्तरगमनाय लिंगदेहस्याधार-भूतशीरीरान्तरं सिद्ध्यतीति भावः।** पञ्चम अध्याय के **न स्थूलमिति नियत अतिवाहिकस्यापि सत्त्वान्न** (५-१०३) सूत्र के भाष्य में भी इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है : **एतादृशं च शरीरं स्थूलं प्रत्यक्षमेवेति न नियमः। कुतः? आतिवाहिकस्याप्रत्यक्षतया सूक्ष्मस्य भौतिकस्य शरीरान्तरस्यापि सत्वादित्यर्थः लोकाल्लोकान्तरं लिङ्गदेहमतिवाहयतीत्यातिवाहिकम्। भूताश्रयतां विना चित्रा-दिवद् गमनाभावस्य प्रागोवोक्तत्वात्। इदं च सूत्रं तस्यैव स्पष्टीकरणमात्रार्थम्।** इतना ही नहीं, पूर्वोल्लिखित सूत्र के अग्रिम भाष्यांश में भिक्षु महोदय ने उनतालीस से इकतालीस तक की कारिकाओं[२] को भी एतदर्थपरक ही प्रदर्शित कियाहैः— **तस्य च स्वरूपं कारिकायामुक्तं 'सूक्ष्माः... निर्वतन्ते ॥ इति अत्र तन्मात्रकार्यं मातापि-तृजशरीरापेक्ष्या सूक्ष्म यद्भूतपञ्चकयावल्लिंगस्थायि प्रोक्तं तदेव लिङ्गाधिष्ठानं शरीरमिति लब्धं कारिकान्तरेण चित्रः....लिङगम्॥ इति। विशेषैः स्थूलभूतैः सूक्ष्माख्यैः स्थूलावान्तरभेदैरिति यावत्। अस्यां कारिकायं सूक्ष्माख्यानां स्थूल-**

---

१. न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च॥ सा.सू.३-१२

२. सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते॥
पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवसितं लिङ्गम्।
चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिंगम्॥

भूतानां लिङ्गशरीराद् भेदावगमेन 'पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्' इत्यादिपूर्वोदाहृतकारिकायां सूक्ष्मंभूतपर्यन्तस्य लिङ्गत्वं नार्थः, किन्तु महादादि-रूपं यल्लिङ्गं तत् स्वाधारसूक्ष्मपर्यन्तं संसरति तेन सह संसरतीत्यर्थः ।

उद्धृत कारिकाओं का यह अर्थ जहां **वाचस्पति मिश्र** आदि प्रसिद्ध कारिका-टीकाकार के अर्थ से भिन्न है, वहां उद्धृत सांख्य-सूत्रों का भिक्षु कृत उपर्युक्त अर्थ भी अनिरुद्धकृत अर्थ से सर्वथा भिन्न है । इसका एकमात्र कारण **भिक्षु** का तीन शरीर मानना है । अन्य सभी आचार्य सूक्ष्म शरीर को ही एक प्रकार का मानते हैं और उसे लिङ्ग शरीर से अभिन्न समझते हैं । इसके विपरीत आचार्य **भिक्षु** सूक्ष्म शरीर के दो प्रकार या भेद मानते हैं — अधिष्ठान शरीर और लिङ्ग शरीर । इनमें लिङ्ग शरीर को आधेय तथा अधिष्ठान शरीर को आधार मानते हैं । स्थूल शरीर से विहीन हो जाने पर अत्यन्त सूक्ष्म लिङ्ग शरीर को एक लोक से दूसरे लोक में गमन कराने अथवा ले जाने के कारण ही इसे 'आतिवाहिक' शरीर भी कहा जाता है । यह शरीर परिमाण अथवा माप में **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः** । इत्यादि **श्रुति**, तथा **अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद् यमः** । इत्यादि **स्मृति** से स्पष्ट है । उनका कथन है कि सकल शरीर में व्याप्त लिङ्ग शरीर स्वतः तो अङ्गुष्ठ मात्र हो नहीं सकता । अतः उसके आधार का ही यह परिमाण हो सकता है । जैसे समस्त गृह में अपने प्रकाश द्वारा व्याप्त दीप तैल सिक्त बत्ती आदि पार्थिव अंश के कलिकाकार होने से स्वयं भी कलिकाकार हो जाता है, वैसे ही समस्त शरीर में व्याप्त लिङ्गशरीर भी अपने अधिष्ठान-भूत सूक्ष्म भूतों के अंगुष्ठ परिणाम वाला होने से अंगुष्ठमात्र होगा, ऐसा अनुमान होता है ।[१] इस अधिष्ठान शरीर का भी आधार वे स्थूल शरीर को स्वीकार करते हैं ।

स्पष्ट है कि **विज्ञानभिक्षु** के मत से प्राण इत्यादि को वायु या उसका परिणाम विशेष मानना अपसिद्धान्त है । अपनी इस मान्यता को उन्होंने *वेदान्तसूत्र* २-४-९ एवं *मुण्डक-श्रुति* २-१-३ को उद्धृत करके पुष्ट किया है ।

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यसूत्र ५-१०३ का भिक्षु भाष्य ।

सांख्य शास्त्र में पारस्परिक मत भेद का एक महत्त्वपूर्ण विषय विषयों के ज्ञान या भोग का स्वरूप भी है। पीछे **आसुरि** के प्रसङ्ग में लिखते समय इस सम्बन्ध में निवेदन किया जा चुका है कि **हरिभद्रसूरि**-कृत *षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वादमञ्जरी* तथा अन्य जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों में **आसुरि** के नाम से जो

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

श्लोक उद्धृत मिलता है, उसमें वर्णित पुरुष के भोग का स्वरूप *षड्दर्शनसमुच्चय* में ही अन्यत्र उद्धृत **विन्ध्यवासी** के

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा॥

श्लोक में वर्णित भोग के स्वरूप से भिन्न है। एक के अनुसार, पुरुष में प्रतिबिम्बित बुद्धि ही उस (पुरुष) का भोग है। अर्थात् बुद्धि के सब धर्म उसी में होते रहते हैं, पुरुष का भोग इतना ही है कि बुद्धि अपने धर्मों को लेकर उसमें प्रतिबिम्बित हो रही है। दूसरे के अनुसार, अविकृतात्मा अर्थात् असंग रहता हुआ ही पुरुष, स्व सान्निध्य से अचेतन (मन अर्थात् बुद्धि) को स्वनिर्भास् अर्थात् चेतन सदृश कर देता है, जैसे लाल कमल इत्यादि (उपाधि) अपने सान्निध्य से स्फटिक को लाल बना देता है। अर्थात् सान्निध्य के कारण चेतन पुरुष बुद्धि में प्रतिफलित हो जाता है। यही उसका भोग है। इस प्रकार जहां **आसुरि** के मत से असंग पुरुष में आहार्य भोग सम्भव है, वहां **विन्ध्यवासी** के मत से पुरुष में आहार्य भोग भी सम्भव नहीं है, बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्बित हुए बिना भोगादि के सम्भव न होने से पुरुष में भोग का केवल उपचार होता है। अन्यथा भोग तो मुख्यतः बुद्धि ही में होता है। **ईश्वरकृष्ण** का अतद्विषयक मत **आसुरि** के ही मत के समान है।[१] प्रायेण

---

१. द्रष्टव्य कारिका ३७
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्म्॥

ऐसा ही मतभेद **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** में भी है । **अनिरुद्ध** ने सां, सू. १-९७-९९ की वृत्ति में ऐसे वाक्य लिखे हैं जिनसे उनका ऐसा अभिप्राय प्रकट होता प्रतीत होता है कि भोग बुद्धि में ही होता है, पुरुष को तो उसका केवल अभिमान होता है । इस अभिप्राय को प्रकट करने वाले उनके कुछ वाक्य ये हैं: - **वायुयुक्तो बुद्ध्यादिर्जीवः, न त्वात्मा जीवः, आहारादिविशेषकार्येऽन्तःकरणस्य वाक्यार्थोपदेशः । तत्प्रतिबिम्बितत्वाच्च पुरुषस्य बोद्धृत्वाभिमानः ।** (९८) ..... **अन्तः करणस्य बुद्धौ पुरुषच्छायापत्या तच्चैतन्येनोज्ज्वलितस्य चेतनत्वाभिमानादधिष्ठातृत्वम् ॥**(९९)

विज्ञानभिक्षु ने १-९९ के स्वकृत भाष्य में इसका उल्लेख करके इस प्रकार खण्डन किया है: — **कश्चित्तु बुद्धिगतया चिच्छायया बुद्धेरेव सर्वार्थज्ञातृत्वमिच्छादिभिर्ज्ञानस्य सामानाधिकरण्यानुभवादन्यस्य मानेनान्यस्य प्रवृत्त्यनौचित्याच्चेत्याह । तदात्माज्ञानमूलकत्वादुपेक्षणीयम् । एवं हि बुद्धेरेव ज्ञातृत्वे 'चिदवसानो भोगः' इत्यागामिसूत्रद्वयविरोधः, पुरुषे प्रमाणाभावश्च; पुरुषलिङ्गस्य भोगस्य बुद्धावेव स्वीकारात् ।** **विज्ञानभिक्षु** की इन पंक्तियों का तात्पर्य इस प्रकार है:- किसी का जो यह मत है कि 'बुद्धि में चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण वही (बुद्धि) सब अर्थों की ज्ञाता है, ज्ञान और इच्छा के सामानाधिकरण्य का जीवन में अनेकशः अनुभव होने के कारण ज्ञान को चेतन पुरुष में तथा प्रवृत्ति को बुद्धि में मानना कथमपि समीचीन नहीं प्रतीत होता, अतः सब पदार्थों का ज्ञान भी बुद्धि को ही होता है, ऐसा ही मानना समीचीन है, यह उपेक्षणीय है, क्योंकि ऐसा मानने वाला व्यक्ति आत्मा अर्थात् पुरुष को नहीं समझता । यदि बुद्धि को ही ज्ञाता मान लिया जाये तो आगामी सूत्र के साथ विरोध होगा, क्योंकि उसमें चेतन आत्मा के ही भोग की बात कही गई है, बुद्धि के भोग की नहीं । इसके अतिरिक्त इसको मानने में एक और भी दोष है और वह यह है कि तब फिर पुरुष की सिद्धि में कोई प्रमाण भी नहीं मिलेगा, क्योंकि उक्त मान्यता के अनुसार पुरुष के अनुमान में लिङ्ग बनने वाले भोग को तो बुद्धि में ही स्वीकार कर लिया गया । इस प्रकार स्पष्ट है कि जहां **अनिरुद्ध** भोग को बुद्धि में ही स्वीकार करते हैं, पुरुष को केवल उसका

अभिमान होना मानते हैं, वहां **विज्ञानभिक्षु** भोग को पुरुष में ही स्वीकार करते हैं, भले ही वह आहार्य हो अर्थात् स्वतः न होकर बुद्धि द्वारा उसमें आनीत या सम्पादित हो ।'

अब तक **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** के मत से विषय-ज्ञान या भोग के पुरुष गत अथवा बुद्धि गत होने का जो विचार हुआ है, उसी से सम्बद्ध 'प्रमाण' के स्वरूप का प्रश्न भी है । गत पृष्ठों में यह निश्चय किया जा चुका है कि जहां **अनिरुद्ध** के मत से किसी भी प्रमेय या पदार्थ की प्रमा या उसका ज्ञान मुख्यतया बुद्धि को ही होता है और पुरुष को तो उसका केवल अभिमान ही होता है, वहां **विज्ञानभिक्षु** के अनुसार बाह्य ज्ञानेन्द्रियों एवं मन तथा अहङ्कार नाम अन्तः करणों के द्वार (साहाय्य) से सम्पादित एवं परम्परया बुद्धि (जो सर्व प्रधान – द्वारिणी – है) को समर्पित वह ज्ञान बुद्धि के द्वारा पुरुष को समर्पित किया जाने, उस तक आहार्य या आनीत होने, के कारण पुरुष गत ही होता है प्रमा अथवा ज्ञान के विषय में होने वाले इस मत-वैषम्य से दोनों आचार्यों की प्रमाण विषयक धारणा या कल्पना में भी वैषम्य या भेद का होना स्वाभाविक है, क्योंकि 'प्रमाण' तो प्रमा या ज्ञान का साधन ही है और जब प्रमा या ज्ञान के विषय में दोनों की कल्पनायें या धारणायें भिन्न है तो प्रमाण विषयक कल्पनाएं भी भिन्न होनी ही चाहिये । अब चूंकि आचार्य **विज्ञान भिक्षु** को विषय की प्रमा (ज्ञान) का आहार्य रूप से पुरुष निष्ठ होना मान्य है, अतः इसे सम्पादित करने वाली बुद्धि-वृत्ति (बुद्धि का व्यापार अर्थात् उसका विषयाकार परिणाम) ही उनके मत से एकमात्र प्रमाण है । इसी से *सांख्यसूत्र* १-८७ **द्वयोरेकतरस्य[१] वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्** । में कथित उभयविध 'प्रमा' तथा 'प्रमाण' का सूत्रानुसारी व्याख्यान कर चुकने के अनन्तर **विज्ञानभिक्षु** ने योग सूत्रों के व्यास भाष्य की गवाही देते हुए स्वाभिमत सिद्धान्त इस प्रकार प्रकट किया है:- **पातञ्जलभाष्ये तु व्यासदेवैः पुरुषनिष्ठबोधः प्रमेत्युक्तः, पुरुषार्थमेव करणानां प्रवृत्त्या फलस्य पुरुषनिष्ठताया एवौचित्यात् । अतोऽत्रापि स एव मुख्य सिद्धान्तः** । **व्यासदेव**-कृत *योगभाष्य* की जिन पंक्तियों

---

१. यहां अनिरुद्ध धृत पाठ 'चाप्य....' है ।

में पुरुष निष्ठ बोध के 'प्रमा' कहे जाने का उल्लेख है, वे ये हैं:- **इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारण-प्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणं, फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः । ...सामा-न्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानगम्। आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वसम्बोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात् तदार्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः ।**[1] इन पंक्तियों में यह तथ्य सुस्पष्ट कथित है कि 'प्रणालिका'(पनाली, द्वार) कहने से भी यह बात स्पष्ट होती है कि प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय अथवा इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष नहीं अपितु इन दोनों के योग से उत्पन्न हुई चित्त (बुद्धि)-वृत्ति ही है । इसी प्रकार अनुमान एवं शब्द प्रमाण भी चित्त-वृत्ति रूप ही है । भेद तीनों में यह है कि प्रत्यक्ष कही जाने वाली चित्त-वृत्ति इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न एवं विशेषावधारण प्रधान होती है, तथा शब्द प्रमाण कही जाने वाली चित्त-वृत्ति वाक्यार्थज्ञान से उत्पन्न होती है ।

विज्ञानभिक्षु से बहुत पूर्व **आचार्य वाचस्पतिमिश्र** ने भी चतुर्थ सांख्यकारिका की स्व-रचित टीका *तत्त्वकौमुदी* में 'प्रमाण' एवं 'प्रमा' पदों की यही व्याख्या की थी । इस सम्बन्ध में उनकी ये पंक्तियां अवधेय हैं:- **अत्र च प्रमाणमिति समाख्या लक्ष्यपदं, तन्निर्वचनं च लक्षणम् । प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वं गम्यते । तच्चासन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः । बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा । तत्साधनं प्रमाणमिति** । इस सन्दर्भ से **विज्ञानभिक्षु** की ही प्रमा और प्रमाण की कल्पना का स्पष्टतः समर्थन होता है । *तत्त्वकौमुदी* के सर्वाधिक प्रतिष्ठित टीकाकार *वंशीधर मिश्र* ने इन पंक्तियों की व्याख्या करते हुए अपने *सांख्यतत्त्व-दिवाकर* में इस तथ्य को अत्यन्त संक्षेप में बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से इस प्रकार कहा : - **सिद्धान्ते चक्षुरादेः करणत्वाभावादाह–'चित्तवृत्ति' रिति । 'तत्साधनं प्रमाणम्' इत्यत्रान्वेति** । किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि *सांख्यकारिका* एवं उसकी टीका *तत्त्वकौमुदी* के अन्यान्य टीकाकार भी ऐसा ही मानते हैं । *तत्त्वकौमुदी* के पिछले सन्दर्भ में स्थिति 'तच्च' पद का अर्थ **वंशीधर मिश्र** ने 'प्रमाणं च' किया है जिससे स्पष्ट है कि 'प्रमाण' का ही अन्वय 'चित्तवृत्ति' पद के साथ है, अन्य किसी

---

१. द्रष्टव्य, योगसूत्र १-१७ का व्यास भाष्य ।

का नहीं । परन्तु *तत्त्वकौमुदी* के अन्य टीकाकार, जैसे **बालराम उदासीन, श्रीकृष्ण वल्लभाचार्य, राजेश्वर शास्त्री, शिवनारायण शास्त्री,** इत्यादि – 'तच्च' पद को निकाल देते हैं और वाक्य को 'चित्तवृत्ति' पद तक ही न लेकर आगे के प्रमा पद तक लेते हैं, एवं 'तत्साधनं प्रमाणमिति' को स्वतन्त्र वाक्य स्वीकार करते हैं । इस प्रकार ये सभी इन दोनों वाक्यों का यह अर्थ लेते हैं कि सन्देह एवं भ्रम से रहित तथा पूर्व अनधिगत या अगृहीत अर्थात् अभिनव विषय वाली चित्तवृत्ति, और पुरुष-निष्ठ बोध या ज्ञान – ये दोनों ही 'प्रमा' या फल है एवं इनके दोनों ही साधन 'प्रमाण' है । परन्तु निस्सन्देह **वाचस्पति मिश्र** का यह मन्तव्य नहीं प्रतीत होता, उनके टीकाकारों का **द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्** इस सांख्य सूत्र के आधार पर भले ही हो क्योंकि पांचवी कारिका के **उपात्तविषयाणामिन्द्रियणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाख्यायते, इदं तत् प्रमाणम् । अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः** । इत्यादि **वाचस्पति** कृत व्याख्यान से तो चित्तवृत्ति ही एकमात्र 'प्रमाण' तथा पुरुष गत बोध ही एकमात्र 'प्रमा' ज्ञात होते हैं । इस प्रकार **व्यासदेव** (योगभाष्यकार), **वाचस्पति मिश्र** आदि का साक्ष्य उपलब्ध होने के कारण **विज्ञानभिक्षु** ने भी. सा. सू. १-८७ के स्वकृत भाष्य के पूर्व उद्धृत सन्दर्भ में चित्तवृत्ति रूप एकविध प्रमाण एवं पुरुष निष्ठ बोध रूप एकविध प्रमा को ही सांख्याचार्यों का मुख्य सिद्धान्त कहा है ।

परन्तु प्रमाण और प्रमा के ऐकविध्य के विषय में **वाचस्पति मिश्र** के साथ ऐकमत्य होने पर भी बुद्धिवृत्ति और पुरुष में परस्पर होने वाले सम्बन्ध के प्रकार के विषय में **विज्ञानभिक्षु** का उनसे मतभेद है । **वाचस्पति मिश्र** तो अन्तःकरण या बुद्धि की वृत्ति में पुरुष का प्रतिबिम्ब मानते हैं । पांचवी *सांख्यकारिका* की *तत्त्वकौमुदी* में प्रमाण एवं प्रमा का व्याख्यान करते हुए उन्होंने इस प्रकार लिखा है:- **उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरित्ति, ज्ञानमिति चाख्यायते । इदं तत् प्रमाणम् । अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः** । इसमें स्थित 'अनुग्रह' पद का

अगली पंक्तियों में व्याख्यान करते हुए **वाचस्पति मिश्र** ने इस प्रकार लिखा है:- **सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना ज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबम्बितस्तच्छायापत्या ज्ञानसुखादि मानिव भवतीति चेतनोऽनुगृह्यते** । स्पष्ट है कि 'तत्प्रतिबम्बित' पद से **वाचस्पति मिश्र** ने बुद्धिवृत्ति अथवा अन्त: करण में पुरुष के प्रतिबिम्ब का ही निर्देश किया है । **अनिरुद्ध** भी पुरुष को ही बुद्धि या अन्त:करण में प्रतिबिम्ब मानते हैं, जैसा कि अनिरुद्ध वृत्ति से उद्धृत **तात्विकरूपबोद्धृत्वान्महतोऽन्तः करणस्य वाक्यार्थोपदेशस्तत्प्रतिबिम्बितत्वाच्च पुरुषस्य बोद्धृत्वाभिमानः** (सा. सू. १-९८ की वृत्ति) इत्यादि सन्दर्भों से स्पष्ट है । इस प्रकार इस विषय में **वाचस्पति मिश्र** एवं **अनिरुद्ध** का ऐकमत्य है परन्तु **विज्ञानभिक्षु** का इन दोनों ही आचार्यों से मतभेद है । **अनिरुद्ध** के उद्धृत सन्दर्भ के खण्डन की दृष्टि से ही **विज्ञानभिक्षु** ने १-९९ के भाष्य में 'कश्चित्तु बुद्धिगतया ....' इत्यादि पूर्वोद्धृत पंक्तियां लिखी है । यही नहीं, इसके भी पूर्व प्रत्यक्ष सूत्र १-८७ के भाष्य में प्रमा के उदय की प्रक्रिया इस प्रकार दी है:- **इन्द्रियप्रणालिकयार्थसन्निकर्षेण लिङ्गज्ञानादिना वाऽऽदौ बुद्धैरर्थाकारा वृत्तिर्जायते.....सा च वृत्तिरर्थोपरक्ता प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषारूढा सती भासते, पुरुषस्यापरिणामितया बुद्धिवत् स्वतोऽर्थाकारत्वासम्भवात्।.... तदेतद् वक्ष्यति जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमान इति, योगसूत्रं च 'वृत्तिसारूप्यमितरत्रेति । स्मृतिरपि -**

> **तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः ।**
> **इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ।**

वस्तुत: **विज्ञानभिक्षु** के कथन का यह भाव नहीं है कि केवल अर्थाकाराकारित अर्थात् आरूढ विषय (पदार्थ) वाली बुद्धि का ही पुरुष में प्रतिबिम्बन होता है । प्रत्युत इसका भाव यह है कि अर्थाकार रूप से परिणत बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्बन भी उतना ही आवश्यक है जितना पुरुष का तादृश बुद्धि में । यह प्रतिबिम्बन उभयपक्षीय घटना है, एकपक्षीय नहीं । इस पारस्परिक प्रतिबिम्बन के लिये **विज्ञानभिक्षु** ने दोनों के बीच एक विशेष प्रकार का संयोग माना है जिससे चित्त पुरुष बुद्धि अथवा अन्त:करण में बिना संसक्त हुए प्रतिबिम्बित हो जाता है । जैसे

लोहे के साथ अग्नि का संयोग विशेष ही उस (लोहे) का उज्ज्वलन है, अग्नि का प्रकाश आदि उसमें संक्रान्त नहीं होता, वैसे ही पुरुष का भी बुद्धि के साथ संयोग विशेष ही उसमें प्रतिबिम्बिन है। एतदर्थ बुद्धि का ही सत्त्वोद्रेक रूप परिणाम होता है, पुरुष का नहीं। चूंकि सत्त्वोद्रेक-परिणाम के बिना बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्बिन उसी प्रकार असम्भव है जैसे मटमैले जल अथवा धूल से आवृत दर्पण में आकृति का, इसीलिये तदर्थ बुद्धि एवं पुरुष के बीच संयोग विशेष की कल्पना की जाती है। यह सब तथ्य १-९९ के भाष्य में विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकार स्पष्ट किया है:—

...... अन्तः करणं हि तप्तलोहवच्चेतनोज्जवलितं भवति। अतस्तस्य चेतनायमानतयाधिष्ठातृत्वं घटादिव्यावृत्तमुपपद्यत इत्यर्थः। नन्वेव चैतन्येनान्तःकरणस्योज्ज्वलने चितेः सङ्गित्वमग्निवदेव स्यादिति चेत्, न। नित्योज्जवलचैतन्यसंयोगविशेषमात्रस्य संयोगविशेषजन्यचैतन्यप्रतिबिम्बस्यैवान्तः करणोज्ज्वलरूपत्वात्। न तु चैतन्यमन्तःकरणे संक्रामति येन सङ्गिता स्यात्। अग्नेरपि हि प्रकाशादिकं न लोहे संक्रामति किन्त्वग्नियोगविशेष एव लोहस्योज्जवलनमिति।..... अयं च संयोगविशेषोऽन्तः करणस्यैव सत्त्वोद्रेकरूपात् परिणामात् भवतीति फलबलात् कल्प्यते...। अयमेव च संयोगविशेषयोः बुद्ध्यात्मनोरन्योन्यप्रतिबिम्बने हेतुः।

सूत्रोक्त द्विविध प्रमा एवं द्विविध प्रमाण की व्याख्या आचार्य भिक्षु ने भाष्य के प्रारम्भ में ही इस प्रकार की है:—**असन्निकृष्टः प्रमातर्यनारूढोऽनधिगत इति यावत्। एवम्भूतस्यार्थस्य वस्तुनः परिच्छित्तिरवधारणां प्रमा। सा च द्वयोर्बुद्धिपुरुषयोरेव धर्मो भवतु किं वैकतरमात्रस्य, उभयथैव तस्याः प्रमाया यत् साधकतमम्.... तत् त्रिविधं वक्ष्यमाणरूपेणेत्यर्थः। अत्र यदि प्रमारूपं फलं पुरुषनिष्ठमात्रमुच्यते तदा बुद्धिवृत्तिरेव प्रमाणम्। यदि च बुद्धिनिष्ठमात्रमुच्यते, तदा तूक्तोन्द्रियसन्निकर्षादिरेव प्रमाणम्। पुरुषस्तु प्रमासाक्ष्येव, न प्रमातेति। यदि च पौरुषेयबोधो बुद्धिवृत्तिश्चोमयमपि प्रमोच्यते, तदा तूक्तमुभयमेव प्रमाभेदेन प्रमाणं भवति। चक्षुरादिषु तु प्रमाणव्यवहारः परम्परयैव सर्वथेति भावः।**

सूत्रानुसारी व्याख्यान करने वाली इन पंक्तियों का भाव सर्वथा स्पष्ट है । इनमें **भिक्षु** जी ने यह बात स्पष्ट की है कि यदि पुरुष निष्ठ प्रमा को प्रमाण का फल या कार्य माना जाय तो बुद्धिवृत्ति को प्रमाण मानना होगा, यदि बुद्धिवृत्ति को ही प्रमाण का फल माना जाये तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रमाण मानना होगा, और यदि पुरुष-गत बोध एवं बुद्धिवृत्ति, दोनों को ही प्रमाण माना जाये तो बुद्धिवृत्ति और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष, दोनों को ही क्रमशः प्रमाण मानना होगा । (न्यायादि शास्त्रों में मान्य) चक्षुरादि इन्द्रियों के विषय में 'प्रमाण' का व्यवहार तो केवल परम्परा से ही समझना चाहिये । यहां इतनी बात और वक्तव्य है कि **अनिरुद्ध** के व्याख्यान से प्रमा एवं प्रमाण की द्विविधता के विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता । **अनिरुद्ध** ने 'द्वयोरेकतरस्य चापि...' इत्यादि पदों का अन्यथा ही अर्थ किया है: —**द्वयोरिती-न्द्रियार्थयोर्विद्यमानयोः प्रत्यक्षे, एकतरस्य चापीति विद्यमानस्य लिङ्गस्य शब्दस्य वाऽनुमाने शब्दे च** । **अनिरुद्ध** के टीकाकार **महादेव वेदान्ती** ने तो प्रमाण सूत्रों का कोई व्याख्यान ही नहीं किया । इसलिये इन दोनों के एक एतद्विषयक मत के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ विशेष कह सकना कठिन है ।

प्रमा एवं प्रमाण के स्वरूप विवेचन के स्वरूप-विवेचन अनन्तर प्रत्यक्ष प्रमाण के निर्विकल्पक और सविकल्पक भेदों के सम्बन्ध में ही यहां थोड़ा विचार कर लेना अनपेक्षित या अप्रासङ्गिक न होगा, क्यों इनको लेकर अत्यन्त प्राचीन काल से ही विभिन्न दार्शनिकों में परस्पर पर्याप्त मतभेद या विचार वैषम्य रहा है, एवं सांख्यप्रवचनसूत्रों के इन दो प्रसिद्ध व्याख्याताओं में भी है । न्याय एवं वैशेषिक दर्शन में निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दोनों ही प्रमाण माने गये हैं । प्रत्यक्ष प्रमा निर्विकल्पक और सविकल्पक के भेद से दो प्रकार की होती है । विर्विकल्पक प्रमा का लक्षण **बालमूकादिविज्ञानसदृशं निर्विकल्पकम्** तथा **नामजात्यादि योजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि ज्ञानं निर्विकल्पकम्** इत्यादि दिया गया है । अर्थात् जिस ज्ञान में विशेषण, विशेष्य इत्यादि प्रकार से नाम जाति इत्यादि की प्रतीति न हो, वस्तु के स्वरूप मात्र की प्रतीति होती हो, वह बालक या गूंगे के ज्ञान का सा ज्ञान निर्विकल्पक कहा जाता है । वस्तु के स्वरूप-ज्ञान की दृष्टि से अबोध बालक और बड़ी अवस्था

के व्यक्ति के ज्ञान में कोई अन्तर न होने पर भी व्यवहार काल में नाम, जाति आदि के अज्ञान के कारण एक में उनकी योजना न होने तथा उनके ज्ञान के कारण दूसरे में उनकी योजना होने से, दोनों में अन्तर हो जाता है । **एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्** अर्थात् सम्बन्ध पदार्थों में से एक का ज्ञान तुरन्त दूसरे का स्मरण करा देता है ।' इस नियम के अनुसार प्रौढ़ पुरुष को अर्थ का स्वरूप क्षण का उसका निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान में परिमत हो जाता है । प्रत्यक्ष ज्ञान के ये उभय प्रकार न्याय और वैशेषिक के अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शन सम्प्रदायों को भी मान्य है । प्रसिद्ध मीमांसक **कुमारिल भट्ट** ने प्रत्यक्षसूत्र के *श्लोकवार्तिक* ११२ तथा १२० में इनका वर्णन क्रमशः इस प्रकार किया है:—

अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं मुग्धवस्तुजम् ॥
ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया ।
बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥

२७वीं सांख्यकारिका के व्याख्या में मन के 'सङ्कल्प' धर्म को समझाते हुए वाचस्पतिमिश्र ने

सम्मुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग् गृहणन्त्यविकल्पितम् ।
तत् सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः ।

इस श्लोक के साथ *श्लोकवार्तिक* के इन दोनों श्लोकों को भी उद्धृत किया है । **मध्व, वल्लभ** तथा **भर्तृहरि** (वैयाकरण) के अनुसार सारा ज्ञान सविकल्पक ही होता है । वे ज्ञान के उत्पत्ति-क्रम में पदार्थ के सामान्य मात्र या स्वरूप मात्र के बोध का अस्तित्व स्वीकार ही नहीं करते । वे विशेषण विशेष्य भाव से रहित कोई ज्ञान नहीं मानते । उनके मत से प्रत्येक ज्ञान में किसी न किसी प्रकार के विशेष का भान (प्रतीति) अवश्य होता रहता है । जैन दर्शन निर्विकल्पक की सत्ता तो मानता है पर उसे प्रत्यक्ष की कोटि में न रखकर उससे बाहर रखता है । वह केवल सविकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानता है । इसीलिये **आचार्य हेमचन्द्र** ने निर्विकल्पक को 'अनध्य-

वसाय' रूप कहकर प्रमाण की कोटि से बाहर ही रखा है। इसके विपरीत बौद्ध दर्शन केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानता है। **दिङ्नाग** के *प्रमाण-समुच्चय* ग्रन्थ का **प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्** कथन परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों की एतद्विषयक मान्यता के लिये पथप्रदर्शक सिद्धान्त बन गया। **आचार्य धर्मकीर्ति** इत्यादि प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिकों ने नाम जाति आदि विकल्पों अथवा विशेषों को कल्पन-मात्र मानते हुए उनकी प्रतीति को विशुद्ध प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक) की कोटि से बाहर रखा है।

सांख्यकारिका और *सांख्यसूत्रों* के टीकाकारों के साक्ष्य के अनुसार सांख्य दर्शन प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दोनों ही रूप अथवा प्रकार मानता है। **वाचस्पतिमिश्र** के साक्ष्य की चर्चा अभी की जा चुकी है। **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** के भी टीका-ग्रंथों में इस बात का साक्ष्य विद्यमान है कि दोनों को ही प्रत्यक्ष के दोनों प्रकार मान्य हैं। प्रत्यक्ष सूत्र १-९८ **यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्** की वृत्ति लिखते हुए **अनिरुद्ध** ने सविकल्पक को भी प्रत्यक्ष मानते हुए बौद्धों के एतद्विपरीत मत का इस प्रकार खण्डन किया है:—**सविकल्पमपि प्रत्यक्षं संगृहीतम्। बौद्धास्तु निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षमिति वर्णयन्ति कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति। नामजात्यादियोजनात्मिका प्रतीतिः कल्पना, सा च सविकल्पकेऽप्यस्तीति न प्रत्यक्षं प्रमाणम्। तन्न, अदुष्टसाक्षात्कारिप्रमाजनकसामग्रीजनितं प्रत्यक्षम्। तदुभयं, निर्विकल्पकं सविकल्पकं च। किन्तु सादृश्यात् संस्कारोद्बोधद्वारेण स्मृत्या नामजात्यादिसंविदुत्पद्यते। अतएवाधिकप्राप्त्या सविकल्पकमिति विशेषसंज्ञा। न च स्मृत्या कश्चिद् दोषः सामग्रीप्रत्यवायो वा जनितः। अथ स्मृत्या सहितत्वान्न प्रमाणम्? अहो नैपुण्यं यत् सहकारि प्रमाण्यं बाधते।** तथा च

संज्ञा हि स्मर्यमाणापि प्रत्यक्षत्वं न बाधते।
संज्ञिनः सा तटस्था हि न रूपाच्छादनक्षमा॥
ततः परं पुनर्वस्तु धर्मे जात्यिदिभिर्यया।
बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥

इस सन्दर्भ से यह बात सुस्पष्ट है कि **अनिरुद्ध** निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ही प्रत्यक्षों को प्रामाणिक मानते हैं । उनका कथन है कि सादृश्य से संस्कारों के उद्बुद्ध हो जाने पर स्वरूपमात्रत: या वस्तुत: ज्ञात होते हुए पदार्थ के नाम, जाति आदि विकल्पों (धर्मों) का स्मृति के द्वारा ज्ञान हो जाता है । इस अधिक उपलब्धि के कारण ही उसका 'सविकल्पक' नाम रखा गया है । इस स्मृति से प्रत्यक्ष-ज्ञान में न तो कोई दोष उत्पन्न होता है, और न प्रत्यक्ष-ज्ञान की उत्पादक सामग्री में कोई प्रत्यवाय या विघ्न ही । स्मृति के सहित उत्पन्न होने के कारण ही उसे प्रामाणिक न मानना ठीक नहीं है, क्योंकि सहकारी के स्मृत्यात्मक होने भर से उसका प्रामाण्य न मानने में भला कौन सी बुद्धिमत्ता या कौशल है ? **आचार्य विज्ञानभिक्षु** ने **आचार्य अनिरुद्ध** की इसी मान्यता का खण्डन करते हुए सां. सू. २-३२[१] के स्वकीय भाष्य में इस प्रकार लिखा है:—**कश्चित्तु निर्विकल्पकं ज्ञानमेवालोचनमिन्द्रियजन्यञ्च भवति, सविकल्पकं तु मनोमात्रजन्यमिति श्लोकार्थमाह। तन्न, योगभाष्ये व्यासदेवैर्विशिष्टज्ञानस्याप्यैन्द्रियकत्वस्य व्यवस्थापितत्वात्। इन्द्रियैर्विशिष्टज्ञाने बाधकाभावाच्च**। **विज्ञानभिक्षु**-कृत खण्डन से स्पष्ट है कि यद्यपि वे निर्विकल्पक और सविकल्पक, दोनों ही **अनिरुद्ध** की भांति प्रत्यक्ष मानते हैं तथापि उनके विपरीत सविकल्पक को भी निर्विकल्पक की ही तरह इन्द्रिय जन्य मानते हैं, स्मृति की तरह केवल मनोजन्य नहीं । उनका कथन है कि योग्यभाष्य में **व्यासदेव** ने भी सविकल्पक ज्ञान की इन्द्रिय-जन्यता स्थापित की है, इन्द्रिय उसमें कथमपि बाधक नहीं है ।

प्रस्तुत सन्दर्भ के अनन्तर ही **विज्ञानभिक्षु** ने उक्त सूत्र की **अनिरुद्ध** कृत व्याख्या का इस प्रकार उल्लेख पूर्वक खण्डन किया है:—**स एव सूत्रार्थमप्येवं व्याचष्टे बाह्येन्द्रियमारभ्य बुद्धिपर्यन्तस्य वृत्तिरुत्सर्गतः क्रमेण भवति। कदाचित्तु व्याघ्रादिदर्शनकाले भयविशेषाद् विद्युल्लतेव सर्वकरणेष्वेकदैव वृत्तिर्भवतीत्यर्थ इति। तदप्यसत्। सूत्रे इन्द्रियवृत्तीनामेव क्रमिकाक्रमिकत्ववचनात्। न बुद्ध्यहं-कारवृत्तयो: प्रसङ्गोऽप्यस्ति। किञ्चैकदाऽनेकेन्द्रियवृत्तावेव वादिविप्रतिपत्त्या तन्निर्णयपरत्वमेव सूत्रस्योचितं मनोऽणुत्वप्रतिषेधाय, न तु काकदन्तान्वेषणपर-**

१. क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः।

त्वमिति। **विज्ञानभिक्षु** के **अनिरुद्ध** के जिस अर्थ की प्रस्तुत आलोचना उपस्थित की है, उसे उन्होंने सूत्र २-३२ के 'अक्रमशश्च' पद की व्याख्या में इस प्रकार से लिखा है:- **अक्रमशश्च – रात्रौ विद्युदालोके व्याघ्रं दृष्ट्वा झटित्यपसरति, तत्र चतुर्णामेकदा वृत्तिः**। वृत्ति का 'चतुर्णाम्' पद उसके पूर्व भाग में क्रमश पद की व्याख्या के प्रसङ्ग में उल्लिखित अर्थ-सन्निकृष्ट इन्द्रिय, मन, अहङ्कार तथा बुद्धि के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार उद्धृत सन्दर्भ का तात्पर्य यही है कि रात्रि में बिजली चमकने के समय व्याघ्र आदि को देखने के साथ ही व्यक्ति का जो अपसरण या पलायन है, वह इन्द्रिय, मन, अहङ्कार और बुद्धि, इन चारों के अक्रमिक अर्थात् एक साथ व्यापारशील अथवा प्रवृत्त होने का उदाहरण है। **अनिरुद्ध** के व्याख्यान से स्पष्ट है कि उन्होंने बाह्य इन्द्रियों, अन्तरिन्द्रिय मन, अहङ्कार तथा बुद्धि, इन चारों ही करणों की वृत्तियों के क्रमिकाक्रमिकत्व को सूत्र प्रतिपाद्य मानकर उनका वैसा वर्णन या कथन किया है। उनके इसी कथन को **विज्ञानभिक्षु** ने असत् कहा है। असत् कहने का कारण उन्होंने यह बताया है कि सूत्र में तो केवल इन्द्रियों की ही वृत्तियों के क्रमिकत्व एवं अक्रमिकत्व का कथन है, बुद्धि एवं अहङ्कार की वृत्तियों का तो वहां कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि एक ही समय में अनेक इन्द्रियों की वृत्ति होने में ही वादी को विप्रतिपत्ति होने के कारण, मन के अणुत्व के खण्डन के लिये सूत्र में उसी का निर्णय होना उचित है, न कि कौवे के दांत गिनने के समान (अप्रासङ्गिक) बुद्धि और अहङ्कार की वृत्तियों का व्यर्थ प्रसङ्ग। उनकी इस आलोचना का तात्पर्य यह है कि चूंकि न्याय में मन के अणुत्व के कारण पांचों ज्ञानेन्द्रियों की समस्त वृत्तियों का अक्रमिकत्व या यौगपद्य (एक साथ होना) मान्य नहीं है क्योंकि समस्त इन्द्रियों के साथ अणु मन का एक ही समय में सन्निकर्ष या सम्बन्ध असम्भव है, अतः इसी विवादास्पद विषय अर्थात् समस्त ज्ञानेन्द्रियों के वृत्ति-यौगपद्य का निर्णय सूत्र का प्रतिपाद्य होना चाहिए ताकि उसकी सिद्धि के आधार पर विरोधी के सिद्धान्त (मन के अणुत्व) का खण्डन एवं अपने सिद्धान्त (मन के मध्यम परिमाण) की प्रतिष्ठा या स्थापना हो सके।

इन्द्रियों की उत्पत्ति के विषय में **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** की अपनी विशिष्ट मान्यताएं है। *सांख्यकारिका* २५[१] एवं सा. सू. २-१८[२] में यह प्रसङ्ग आया है कारिका का स्पष्ट अर्थ यह है कि 'वैकृत' अर्थात् सात्त्विक अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गण, भूतादि अर्थात् तामस अहङ्कार से पञ्च तन्मात्रों का तामस गण, एवं 'तैजस' अर्थात् राजस अहङ्कार से दोनों ही (गण) उत्पन्न होते हैं। कारिकाओं के प्राय: सभी टीकाकारों का इस विषय में ऐकमत्य है। *तत्त्वकौमुदी* की एतद्विषयक पंक्तियां द्रष्टव्य है:—**प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विको वैकृतादहङ्कारात् प्रवर्तते।** इसीलिये २६वीं कारिका की व्याख्या के आरम्भ में ही **वाचस्पतिमिश्र** ने इन्द्रियों का लक्षण **सात्विकाहङ्कारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्** दिया है। इसका अर्थ यह है कि जिसकी उत्पत्ति में सात्त्विक अहङ्कार उपादान कारण हो, वह 'इन्द्रिय' है। इससे यह बात स्पष्ट है कि **ईश्वरकृष्ण** और उनके प्रसिद्ध टीकाकार **वाचस्पतिमिश्र**, दोनों के ही अनुसार इन्द्रियां आहङ्कारिक हैं। पीछे उल्लिखित *सांख्यसूत्र* २-१८ में भी यही तथ्य प्रतिपादित हुआ प्रतीत होता है क्योंकि २५वीं कारिका का पूर्वार्ध एवं यह सूत्र दोनों शब्दतः भी एक ही हैं, केवल कारिका के सात्त्विक एकादशकः के स्थान में सूत्र में 'सात्त्विकमेकादशकम्' पाठ है यह लिंग-भेद इस कारण से हुआ होगा कि २५वीं कारिका में सात्त्विक एकादशकः पाठ पूर्व की २४वीं कारिका में आये हुए गणः इस पुल्लिग शब्द की अपेक्षा से रखा गया है, और सूत्र में सात्त्विकमेकादशकम् पाठ उसके ठीक पूर्व के सूत्र २-१७ (एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्) में स्थित कार्यम् पद की अपेक्षा से रखा गया है। दोनों सूत्रों का संयुक्त अर्थ सामान्यतः यही होना चाहिये कि "एकादश इन्द्रियां तथा पञ्च तन्मात्र, ये सोलह तत्त्व अहङ्कार के कार्य हैं, जिनमें एकादश इन्द्रियों का गण 'वैकृत' अर्थात् सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक है।" सूत्र २-१८ का एकादशकम् पद कारिका के 'एकादशकः' पद की ही भांति गण अर्थ

---

१. सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तान्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥

२. सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।

में प्रयुक्त होना चाहिये, जैसे तीसरी कारिका के **षोडशकस्तु विकारो...** इत्यादि उत्तरार्ध का 'षोडशक पद' 'षोडश संख्या से परिमिति गण' अर्थ में आया है। परन्तु **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** दोनों ने ही एकादशकम् पद का अर्थ 'ग्यारहवां' लेकर उसे मन के लिये प्रयुक्त हुआ माना है। सूत्र २-१८ की **महद्विकाराद्ङ्कारात् सात्त्विकं सत्त्वसहकृतमेकादशकमेकादशेन्द्रियं प्रवर्तते**। इत्यादि वृत्ति में मूल के एकादशकम् पद के पर्याय रूप में प्रयुक्त एकादशेन्द्रियम् पद के एकवचन से यह बात स्पष्ट है कि **अनिरुद्ध** एकादशकम् पद को मनके लिये ही प्रयुक्त हुआ मानते हैं। **विज्ञानभिक्षु** की **एकादशानां पूरणमेकादशकं मनः षोडशात्मगणमध्ये सात्त्विकम्**। इत्यादि व्याख्या तो इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में ही कह देती है, जिससे उनके मन्तव्य के विषय में किसी भी प्रकार के सन्देह अथवा तर्क केलिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता। इस प्रकार दोनों ही सूत्र व्याख्याकारों के अनुसार समस्त इन्द्रियों का आहंकारिकत्व सुसिद्ध होने पर भी सात्त्विकाहङ्कारोपादानकत्व केवल अन्तरिन्द्रिय मन का ही सिद्ध होता है। इस प्रकार **वाचस्पतिमिश्र** तथा कारिकाओं के अन्य अनेक टीकाकारों से **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** का मत भेद सुस्पष्ट है। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों के विशिष्ट उपादानों के विषय में **अनिरुद्ध** ने तो अपनी व्याख्या में कुछ स्पष्ट नहीं किया है किन्तु **विज्ञानभिक्षु** ने ऊपर उद्धृत पंक्ति के आगे ही **अतत्वैकृतात् सात्त्विकाहङ्कारज्जायत इत्यर्थः, अतश्च राजसाहङ्काराद्दशेन्द्रियाणि तामसाहङ्काराच्च तन्मात्राणीत्यपि मन्तव्यम्**। लिखकरइस तथ्य को स्पष्ट किया है कि सात्त्विक अहङ्कार से मन, राजस अहङ्कार से दस इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां एवं पांच कर्मेन्द्रियां), तथा तामस अहङ्कार से पांच तन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इतना ही नहीं, अपितु पुराणों का उद्धरण देकर इसे प्रमाणित भी किया है। यह उद्धरण इस प्रकार है—

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा।
अहन्तत्त्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत्॥
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः।
तैजसादिन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च॥

त्तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यत: खं लिङ्गमात्मन: ॥ इन पौराणिक वचनों में सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव तथा मन, राजस अहंकार से दस इन्द्रियां, तथा तामस अहंकार से पांच तन्मात्रों की उत्पत्ति की प्रक्रिया देखकर **भिक्षु जी** ने 'सात्त्विकमेकादशकम्' (सां. सू. २-१८) का अपने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' में तदनुकूल अर्थ किया है । एवं सांख्य-कारिकाओं के अपने व्याख्यान में भी २५वीं कारिका पर व्याख्यान लिखते हुए उन्होंने **सात्त्विक एकादशक इत्यनेन मनो ग्राह्यं, तैजसादुभयमित्युभयपदेन च द्विविधमिन्द्रियं ग्राह्यम्** । ऐसा लिखा है । इससे स्पष्ट है, कि **विज्ञानभिक्षु** के मतानुसार केवल ग्यारहवां इन्द्रियां मन ही सात्त्विक है, अन्य दसों इन्द्रियां आहंकारिक होती हुई भी राजस हैं, सात्त्विक नहीं । सांख्य सिद्धान्त की दृष्टि से यह मत उचित या अनुचित जो भी हो, पर सांख्य-कारिका की प्रस्तुत पंक्ति के अर्थ की दृष्टि से तो यह अवश्य ही युक्त नहीं लगता; क्योंकि, जैसा उदासीन जी ने *विद्वत्तोषिणी* में लिखा है, 'एकादशक' शब्द 'एकादश-संख्या-परिमित गण' — इसी अर्थ का द्योतक होने से केवल मन का वाचक हो ही नहीं सकता । यदि यह कहा जाय कि ग्यारह के वाचक 'एकादश' शब्द में पूरणार्थ 'डट' प्रत्यय लगाने से 'ग्यारहवां' इस अर्थ को देने वाले 'एकादश' शब्द के बन जाने पर 'स्वार्थे' क प्रत्यय लगकर 'एकादशक' शब्द बना है और इस प्रकार 'ग्यारहवां' — इस अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हो जायेगी, तो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि ऐसा होने पर 'मनस' शब्द के नपुंसकलिङ्ग होने के कारण कारिका में 'सात्त्विकमेकादशकम्' ऐसा ही पाठ होना चाहिये था । यदि यह कहा जाये कि सांख्य-सूत्र 'सात्त्विकमेकादशकम्' के अनुरोध से यहां भी 'सात्त्विकमेकादशकम्' ही पाठ उचित है, एवं पुंल्लिङ्ग पाठ प्रमाद है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि सांख्य-सूत्रों में उपरोक्त सूत्र के बाद के **कर्मेन्द्रिय बुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्** सूत्र में 'एकादशकम्' पद से ग्यारह इन्द्रियों का ही ग्रहण होने के कारण इसके पूर्व के सूत्र (सात्त्विकमेकादशकम्) का भी ग्यारहों इन्द्रियां सात्त्विक है—यही तात्पर्य ज्ञात होता है, ग्यारहवां इन्द्रिय (मन) सात्त्विक है—यह नहीं ।

अब जहां तक दोनों अर्थों के सांख्य-सिद्धान्तों के अनुकूल या प्रतिकूल होने का प्रश्न है,वहां भी **तत्त्वकौमुदीकार** का अर्थ अधिक सङ्गत लगता है । यदि इस अर्थ के विरुद्ध कोई यह शङ्का करे कि सभी इन्द्रियों के सात्त्विक होने पर कर्मेन्द्रियां भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करतीं, उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियों की ही बांति विषयों को प्रकाशित करना चाहिए तो ऐसी ही शंका तो **विज्ञानभिक्षु** के भी अर्थ के सम्बन्ध में होगी, क्योंकि यदि सभी इन्द्रियां सात्त्विक नहीं है, केवल मन ही सात्त्विक है तो फिर बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश क्यों करती है ? पूर्व अर्थ के विरुद्ध उठी शंका का तो समाधान भी है और यह कि चूंकि उत्कृष्ट सत्त्व प्रधान अहङ्कार से मन, मध्य सत्त्व प्रधान अहङ्कार से बुद्धीन्द्रियाँ तथा निकृष्ट सत्त्व प्रधान अहङ्कार से कर्मेन्द्रियां उत्तपन्न होती हैं, अतएव जहां मन सर्वाधिक विषय-प्रकाशक है, वहां बुद्धीन्द्रियाँ विषय का प्रकाश करती हुई भी मन की तरह नहीं करतीं और कर्मेन्द्रियाँ तो प्रकाश करती ही नहीं, तथापि सात्त्विक होने से ही वे भी लघु होने के कारण क्षिप्रकारिणी हैं, अन्यथा ऐसी न होतीं । परन्तु द्वितीय अर्थ के विरुद्ध उठी हुई शंका का कोई भी परिहार नहीं दिखाई पड़ता ।

इन्द्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सांख्य शास्त्रीय मुख्य सिद्धान्त का यही स्वरूप है । यों, प्राचीन काल में सांख्य दर्शन की अठारह शाखायें (इस बात का उल्लेख प्राचीन दर्शन साहित्य में प्राप्त होता है) जिनमें सांख्य सिद्धान्तों के विभिन्न रूप प्रचलित थे । इन्द्रियों का भौतिकत्व न्याय और वेदान्त की भांति सांख्य के भी कुछ सम्प्रदायों में मान्य था, इसका पता कारिकाओं की *युक्तीदीपिका* एवं *सुवर्णसप्ततिशास्त्र* नामक टीकाओं में उपलब्ध कुछ प्राचीन उक्तियों से लगता है । उनके एतद्विषयक क्या तर्क थे, कुछ कहा नहीं जा सकता । जो नैयायिक इत्यादि दार्शनिक श्रवण आदि इन्द्रियों को क्रमशः आकाश आदि भूतों से उत्पन्न मानते हैं और उसमे **चक्षुरिन्द्रियं तैजसं रूपादिषु पञ्चसु रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् दीपवत्' 'त्वगिन्द्रियं वायवीयं रूपादिषु पञ्चसु स्पर्शस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकाव्यजनपवनवत्' 'रसनं जलीयं रूपादिषु पञ्चसु रसस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात् दन्तान्तस्तोयवत्** इत्यादि अनुमान प्रमाण देते हैं, उनकी यह मान्यता

सर्वथा भ्रम रहित या विशुद्ध नहीं प्रतीत होती, क्योंकि विचार करने पर इसके विरुद्ध जो बात आपाततः मन में आती है, वह यह है कि यदि ये इन्द्रियां प्रकाशक सात्त्विक अहङ्कार से न उत्पन्न होकर अप्रकाशक आकाश, वायु आदि पांच भूतों से पृथक पृथक उत्पन्न हुई हैं तो वे प्रकाशक कैसे हुई ? आकाश इत्यादि की भांति इन्हें भी प्रकाश्य होना चाहिये, प्रकाशक नहीं । दूसरी बात यह भी है कि उपर्युक्त प्रकार के अनुमानों में नैयायिक जो यह हेतु देते हैं कि चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियाँ आकाश, वायु आदि भूतों के शब्द, स्पर्श आदि विशेष गुणों की उपलब्धि में (पृथक पृथक) करण है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह दीप इत्यादि उदाहरणों में प्राप्त या उपस्थित नहीं है । जैसे दीप ही को लेकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि दीप 'रूप' के प्रत्यक्ष में कारण नहीं है, क्योंकि कारण तो वह है जिसके होने पर कार्य अवश्य हो, परन्तु रूप के प्रत्यक्ष में सन्निकृष्ट चक्षुरिन्द्रिय ही करण है, दीप नहीं । अन्यथा चक्षुरिन्द्रिय सन्निकर्ष के अभाव में भी दीप से रूप का प्रत्यक्ष होता । जब उदाहरण ही असिद्ध है, तब अनुमान कहां से सिद्ध होगा ?

इन्द्रियों की ही भांति स्थूल शरीर के भी उपादान के विषय में **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** के विचार परस्पर भिन्न होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं । अतः संक्षेप में उनका भी यहां उल्लेख वाञ्छनीय है । तीसरे अध्याय में स्थूल शरीर के विषय में तीन सूत्र आये हैं, जो इस प्रकार हैं :— **पाञ्चभौतिको देहः** ॥१७ ॥ **चातुर्भौतिकमित्यन्ये** ॥१८ ॥ **ऐकभौतिकमित्यपरे** ॥१९ ॥ आठारहवें तथा उन्नीसवें सूत्रों में क्रमशः आये हुए 'अन्ये' तथा अपरे पदों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनमें प्रतिपादित मत दूसरों के हैं । सत्रहवें सूत्र में प्रोक्त मत किसी ऐसे पद के द्वारा प्रकट न किये जाने से स्वकीय प्रतीत होता है । व्याख्याकार **अनिरुद्ध** ने इसकी अवतारणा भी 'विप्रतिपत्तौ सत्यां स्वमतमाह' शब्दों द्वारा की है, जिससे स्पष्ट है कि उनके अनुसार भी यह सूत्रकार का अपना निश्चित मत या सिद्धान्त है । इतना ही नहीं, प्रत्युत अगले दोनों (१८,१९) सूत्रों की अवतारणा उन्होंने का विप्रतिपत्तिरित्याह शब्दों के द्वारा की है, जिससे स्पष्ट है कि उनके अनुसार भी ये विरोधी पक्षों का ही उल्लेख करते हैं । परन्तु बड़ी विचित्र बात यह है कि वही **अनिरुद्ध** पांचवें अध्याय के सूत्र १०२

(न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात्) की अवतारणा 'पञ्चभूतारब्धं शरीर-मित्यत्राह' शब्दों द्वारा करके उसका उपन्यास अन्य मत के रूप में करते हुए इस प्रकार अर्थ करते हैं:— **बहूनां भिन्नजातीयानाम् । उपष्टम्भकत्वे चतुर्णां निमितत्त्व-मस्त्येव तेन च पाञ्चभौतिकत्वमुच्यत इति** । इसका तात्पर्य यह है कि स्थूल शरीर मुख्यतया पाञ्चभौतिक नहीं है क्योंकि विभिन्नजातीय तत्त्वों का एकत्र समावेश दुर्घट है । शरीर में पार्थिवतत्त्वके सहायक या सहयोगी रूप में तो शेष चारों की उपस्थिति रहती ही है और इसी कारण से यह पाञ्चभौतिक कहा भी जाता है । अर्थात् मुख्यत: शरीर ऐकभौतिक अर्थात् पार्थिव, एवं गौण रूप से पाञ्चभौतिक होता है । **अनिरुद्ध** के अनुसार स्थूलशरीरविषयक सांख्य मतका ही स्वरूप है । **विज्ञानभिक्षु** ने भी उपर्युक्त दोनों सूत्रों (२-१८, १९) की अवतारणा 'मतान्तरमाह' शब्दों द्वारा की है जिससे स्पष्ट है कि उनके भी मत से ये दोनों सूत्र विरुद्ध मतों का उल्लेख करते हैं, सिद्धान्त भूत स्वमत का नहीं । परन्तु आश्चर्य की बात है कि १९ वें सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए वे उसके सिद्धान्त होने का इस प्रकार संकेत करते हैं —**पार्थिवमेव शरीरमन्यानि च भूतान्युपष्टम्भकमात्रणीति भाव: । अथवैकभौतिकमेकैकभौतिकमित्यर्थ: । मनुष्यादिशरीरे पार्थिवांशाधिक्येन पा-र्थिवता, सूर्यादि लोकेषु च तेजसाद्याधिक्येन तैजसादिता शरीराणां सुवर्णादी-नामिवेतीममेव पक्षं पञ्चमाध्यायेऽपि सिद्धान्तयिष्यति** । इसका तात्पर्य यह है कि ऐहलौकिक स्थूल शरीर मुख्यत: पार्थिव होता है, एवं अन्य चार भूतों की उसमें निर्मित्त या सहायक रूप से उपस्थिति रहती है । वरुण, सूर्य आदि लोकों के शरीरों में क्रमश: जल, तेजस् आदि एक एक तत्त्व की प्रधानता रहती है जिससे वे जलीय, तैजस, तथा वायवीय कहे जाते हैं । (आकाश तो किसी प्रकार के शरीर का उपादान नहीं बनता) अपनी इसी मान्यता के अनुसार **विज्ञानभिक्षु** पांचवें अध्याय के स्थूलशरीर-विषयक सूत्र की अवतारणा **द्वितीयाध्याये (? तृतीयाध्याये) शरी-रस्य पाञ्चभौतिकत्वादिरूपैर्मतभेदा एवोक्ता न तु विशेषोऽवधृत: । अत्रापरपक्षं प्रतिषेधति** । शब्दों द्वारा करके **अनिरुद्ध** के सर्वथा समान ही उसका व्याख्यान करते हैं:—**बहूनां भिन्नजातीयानां चोपादानत्वं घटपटादिस्थले न दृष्टमिति सजातीयमे-**

वोपादानम् । **इतरञ्च भूतचतुष्टयमुपष्टम्भकमित्याशयेन पाञ्चभौतिकत्वव्यवहारः । एकोपादानकत्वेऽपि पृथिव्येवोपादानं सर्वशरीरस्येति वक्ष्यति** । तात्पर्य यह है कि **अनिरुद्ध** की ही भांति **विज्ञानभिक्षु** भी शरीर को मुख्यतः तो एकभौतिक ही, किन्तु गौणतः पाञ्चभौतिक भी मानते हैं । सम्भवतः इसी सूत्र एवं इसकी इन्हीं व्याख्याओं को देखकर **प्रो. कीथ** ने भी सांख्यीय स्थूल शरीर की यही कल्पना अपने सांख्य-विषयक ग्रन्थ (Sankhya System) के पृ. ९७ पर प्रस्तुत की है ।[१]

परन्तु ये विचार सही नहीं प्रतीत होते क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शरीर का पाञ्चभौतिकत्व ही तृतीय अध्याय के १७ वें सूत्र में सिद्धान्त रूप में उपन्यस्त है तथा चातुर्भौतिकत्व और ऐकभौतिकत्व अगले दो सूत्रों में सांख्य-विरोधी मतों के रूप में । **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** द्वारा प्रतिपादित मत न्याय और वैशेषिक शास्त्रों के हैं, जैसा कि न्याय सूत्र ३-१-२८-३२ तथा वैशेषिक-सूत्र ४-२-२४ से स्पष्ट है । न्यायसूत्र इस प्रकार है:—**पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः** ।२८ ॥ **पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः** ॥२९ ॥ **निःश्वासोच्छवासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम्** ॥३० ॥ **गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम्** ॥३१ ॥ **श्रुतिप्रामाण्याच्च** ॥३२ ॥ २८ वें सूत्र का *वात्स्यायन भाष्य* यह है—**तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम्....भूतसंयोगो हि मिथः पञ्चानां निषिद्ध इति । आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि, तेष्वपि भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्र इति** । इन सूत्रों एवं इनके *वात्स्यायन भाष्य* से स्पष्ट है कि **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** के उपर्युक्त मत अर्थतः

---

१. On the other hand, further details are given of the process of growth of the gross body which is really composed of earth, not of three elements, fire water and food that is, earth, as in the view of the Vedanta nor of four, atrributed to Pancashikha himself. The other four elements aid only in producing the stability of the body: water sustains the blood, fire the heat of the body, air the breath, and ether the wind-pipe.

और बहुत कुछ शब्दत: भी इसी पर आधारित हैं। वैशेषिक सूत्र ४-२-२-४ इस प्रकार हैं: — **प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकत्वं न विद्यते** ॥२॥ **गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम्** ॥३॥ **अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः** ॥४॥ **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** के प्रतिपादन में सारी असंगति वस्तुत: सां. सू. ५-१०२ के सिद्धान्त रूप मे उपन्यस्त होने के कारण आई है। यदि कहीं इस असंगति पर उनकी दृष्टि गई होती, यदि उनका ध्यान इस बात पर गया होता कि ३-१७ के प्रतिपादित स्वपक्ष का ही ५-१०२ में प्रत्याख्यान हो रहा है, तो सम्भवत: इस सूत्र के प्रक्षिप्त होने की आशङ्का उनके मन में उठती। लेकिन उन्होंने इसे सिद्धान्त का ही निषेधात्मक कथन मान लिया एवं ३-१८-१९ में इसी के लिये लिखे गये 'मतान्तरमाह' इत्यादि स्वकीय शब्दों को भुला दिया। स्थूल शरीर का पाञ्चभौतिकत्व ही सांख्य सिद्धान्त है, इस बात का संकेत पिछले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में उद्धृत **डा. कीथ** के उस वचन से मिलता है जिसमें इस बात का उल्लेख है कि स्थूल शरीर के विषय में लोक में प्रचलित 'पाञ्चभौतिकत्व' का सिद्धान्त **महाभारत** में स्वयं **पञ्चशिख** का कहा गया है। यद्यपि **डा.कीथ** ने इसका प्रतिषेध या खण्डन किया है, तथापि पूर्वोक्त सारी बात को दृष्टि में रखकर इसे ही सांख्य का स्वकीय सिद्धान्त कहना पड़ता है। वेदान्त का भी एतद्विषयक यही सिद्धान्त है, यह बात भाष्यकार **शङ्कराचार्य**, उनके टीकाकारों, एवं अन्य अनेक आचार्यों के वचनों से अनेकश: स्पष्ट है।

सृष्टि-सामान्य के प्रारम्भ के विषय में **विज्ञानभिक्षु** ने सां. सू. ५-१०१ की अवतरणिका में जो बात लिखी है, वह भी इसी प्रकार अपसिद्धान्त होने से अमान्य ही है। वहां उन्होंने यह बात लिखी है:- **प्रकृतेः क्षोभात् प्रकृतिपुरुषसंयोगस्तस्मात् सृष्टिरिति सिद्धान्तः**। कितनी उल्टी-पल्टी बात है यह ? प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति और पुरुष का संयोग, और उससे सृष्टि ? अथवा प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्रकृति में क्षोभ और उसे सृष्टि ? यदि क्षोभ क संयोग के पूर्व माना जायेगा, तो संयोग का कारण तो क्षोभ हो जायेगा पर क्षोभ का कारण क्या होगा ? क्षोभ को

अनादि तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि वैसा होने पर तो प्रलय कभी होगा ही नहीं, यह इसलिये कि भाव रूप क्षोभ अनादि होने से नित्य होगा और उसके नित्य होने से उसके कारण प्रकृति के तीनों गुणों में होने वाला वैषम्य नित्य और उससे होने वाली सृष्टि भी नित्य । इसके अतिरिक्त प्रकृति और पुरुष के संयोग का कारण सूत्रकार के द्वारा अनेकशः अविवेक कहा गया है, क्षोभ नहीं: —**तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्** ॥१-५५) **नैकान्तो अनघमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते** ।३-७१ ॥ **निमित्तत्वमविवेकस्य न दृष्टहानिः** ॥३-७४ ॥ **निस्सङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात्** ॥६-२७ ॥ **इत्यादि** । स्वयं **विज्ञानभिक्षु** ने भी १-५५ के भाष्य में **अविवेकश्च संयोगद्वारैव बन्धकारणं प्रलये दर्शनात्** लिख कर अविवेक से साक्षात् संयोग के ही होने की बात कही है । फिर प्रकृति और पुरुष के संयोग से प्रकृति में क्षोभ और उससे सृष्टि मानने पर ऐसी कोई असंगति भी नहीं होगा, जैसी प्रकृति के क्षोभ से प्रकृति-पुरुष-संयोग एव उससे सृष्टि होने में दिखाई जा चुकी है । संयोग का कारण अविवेक तो अनादि है, जैसा कि **अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः** (६-१२) इत्यादि सांख्य सूत्रों में कथित है और इसलिये उसका कारण ढूंढने की आवश्यकता नहीं ।

षडध्यायी सांख्यप्रवचनसूत्र के सर्वप्रसिद्ध दोनों व्याख्याकारों की कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण मान्यताओं का यही संक्षिप्त विवरण एवं विवेचन है । **महादेव वेदान्ती** की *वृत्तिसार* नामक व्याख्या, जैसा उसके नाम से ही प्रकट होता है, **अनिरुद्ध** कृत *सांख्यसूत्र वृत्ति* पर आधारित है, एवं एक प्रकार से उसी का सारांश है । इसके काल एवं ग्रन्थ के सम्बन्ध में वक्तव्य बहुत-कुछ सामग्री पीछे **अनिरुद्ध** एवं **विज्ञानभिक्षु** के प्रसङ्ग में दी जा चुकी है । अतः उसका पिष्ट-पेषण यहां नहीं किया जा रहा है । इसके अतिरिक्त किसी **रामभद्रयति-शिष्य** की लिखी एक और टीका का उल्लेख **पं. उदयवीर शास्त्री** ने अपने *सांख्य-दर्शन का इतिहास* नामक ग्रन्थ में किया है । उन्होंने उसमें पृ. २८२ पर लिखा है कि अभी यह अप्रकाशित है, इसका हस्तलेख तामिल लिपि में है जो पञ्चनद (पंजाब) विश्वविद्यालय के लाहौर स्थिति पुस्तकालय

में विद्यमान है।' सन् १९४७ के राजनीतिक उथल पुथल के कारण लाहौर छूट जाने से **शास्त्री जी** स्वयं इसका उपयोग न कर सके। इनकी अन्य किसी हस्त प्रति की उपलब्धि न होने से यहां इसका कोई विवरण नहीं दिया जा रहा है। बृहत सांख्य-प्रवचन सूत्र के इन टीकाकारों के अतिरिक्त अत्यन्त संक्षिप्त *तत्त्वसमास* सूत्र के व्याख्याकारों एवं उनकी व्याख्याओं के परिचय के बिना सांख्य की ऐतिहासिक परम्परा अधूरी ही रहेगी। अत: प्रस्तुत स्थल में उनका भी विवरण प्रस्तुत करना वाञ्छनीय है। यह विवरण अपेक्षाकृत बहुत संक्षिप्त होगा, क्योंकि इनका मूल ग्रन्थ *तत्त्वसमास सूत्र* ही अत्यन्त लघुकाय[१] ग्रन्थ है जैसा कि इसके नाम ही से स्पष्ट है।

तत्त्वसमास-सूत्र के व्याख्याकार

तत्त्वसमास-सूत्र की सब मिलाकर छ: व्याख्यायें उपलब्ध हैं। वे ये हैं:—१. *सांख्यतत्त्वविवेचन*, २. *तत्त्वयाथार्थ्यदीपन*, ३. *सर्वोपकारिणी टीका*, ४. *सांख्यसूत्रविवरण*, ५. *तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति—क्रमदीपिका*, तथा ६. *कापिलसूत्रविवरण*। इनमें से प्रथम पांच इसी क्रम से ईसवी सन् १९१८ में चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस से सांख्यसंग्रह नाम से प्रकाशित ग्रन्थ में संगृहीत है। छठीं व्याख्या इनमें भी पूर्व सन् १८९० ई. कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। ग्रन्थ के प्रारम्भिक श्लोक में ग्रन्थकारने इसका नाम *कपिलसूत्रवृत्ति* रखा है। परन्तु ग्रन्थान्त में मुद्रित पुष्पिका से इसका नाम *कापिलसूत्रविवरण* प्रतीत होता है। ग्रन्थ की अन्तिम श्लोक के आधार पर इसके रचयिता का नाम **माधव** है। पुष्पिका के आधार पर ये किसी **हरिहर** नामक वेदान्त के पुत्र एवं स्वयं भी शाङ्करवेदान्त सम्प्रदाय के सन्यासी प्रतीत होते हैं। यह पुष्पिका इस प्रकार है **इति श्रीवेदान्तवागीशश्रीहरिहरात्मजेन परहं-**

१. तत्त्वयाथार्थ्यदीपन टीका के रचयिता भावागणेश एवं सांख्यतत्त्वविवेचन के रचयिता षिमानन्द के अनुसार इसमें २५ सूत्र सर्वोपकारिणी टीका के अनुसार २२ सूत्र सांख्यसूत्रविवरण एवं क्रमदीपिका या तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति के अनुसार २३ सूत्र हैं.।

साचार्यमाधवपरिव्राजकेन विरचित्तं कपिलसूत्रविवरण समाप्तम्। पंच कर्म योनयः इस *तत्त्वसमास-सूत्र* की व्यख्या में सांख्यप्रवचन-सूत्रों के भाष्यकार विज्ञानभिक्षु का उल्लेख होने कारण ये व्याख्याकार उनसे अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। बालराम उदासीन द्वारा स्वकीय व्याख्या के साथ सम्पादित *सांख्यतत्त्वकौमुदी* के उपोद्घात में उसके लेखक **पांडेय श्रीकान्त शर्मा** ने लिखा है कि इन २७सूत्रों का **श्रीविद्यारण्य स्वामी** ने भी व्याख्यान किया है। जो मुद्रित एवं प्रकाशित हैं। इस पर **पं. उदयवीर शास्त्री** ने अपने ग्रन्थ के पृ. ३३४ पर इस प्रकार लिखा है। 'अभी तक हम ऐसे प्रकाशित व्याख्या का पता नहीं लगा सके जिसका रचयिता श्री **विद्यारण्य स्वामी** था। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि **पांडे** महोदय ने कदाचित **माधव परिव्राजक** की इस व्याख्या को ही **विद्यारण्य स्वामी** की रचना समझ लिया हो, क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि प्रसिद्ध वेदभाष्यकार **माधव** का परिव्राजक अवस्था का नाम **विद्यारण्य** था। इस प्रकार नाम-साम्य से ऐसा भ्रम होना सम्भव हो सकता है। एक बात अबश्य है। **विद्यारण्य** अथवा **माधव** मंत्री की प्रसिद्ध रचनाओं में प्रारम्भिक श्लोकों की जो एक समानता सर्वत्र प्रतीत होती है वह इस कापिल सूत्र वृत्ति के प्रारम्भिक श्लोक[१] में नहीं है, तथा **विद्यारण्य** के अन्य ग्रन्थों की रचना के सम्मुख इसकी रचना भी शिथिल है। इतना अवश्य है कि इसमें वेदान्त सम्बन्धी विचार सर्वथा स्पष्ट है। **शास्त्री जी** के विचारों के समर्थन में इतना और वक्तव्य है कि **पाण्डेय जी** का मत निराधार भ्रम ही है क्योंकि ग्रन्थकार ने परिव्राजकावस्था का नाम माधव दिया है, गृहस्थावस्था का नहीं। जबकि **विद्यारण्य स्वामी** का गृहस्थावस्था का नाम माधव था। 'परमहंसाचार्य परिव्राजक' विशेषण-पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह कृति ग्रन्थकार की सन्यासावस्था की है एवं उस अवस्था में वे माधव नामधारी थे। यदि यह कृति 'माधव' इस अन्य नाम वाले **विद्यारण्य स्वामी** की होती तो 'माधव' के स्थान में 'विद्यारण्य' ही नाम

---

१. अचिन्त्यमव्यक्तमनादिमव्ययं जगन्निदानं परमाक्षरं विभुम्।
प्रणम्य वाचा मनसा च कायकैर्विनिर्ण्मे कापिलसूत्रवृत्तिकाम्॥

होता । फिर **विज्ञानभिक्षु** से अर्वाचीन होने के कारण भी यह **माधव** उनसे पूर्ववर्ती माधवापरनामक विद्यारण्य कदापि नहीं हो सकते ।

षिमानन्द

सांख्यसंग्रह में मुद्रित प्रथम टीका *सांख्यतत्त्वविवेचन* इष्टिकापुर-निवासी किसी **षिमानन्द** की कृति हैं जिनके पिता का नाम रघुनन्दन था । यह तथ्य प्रारम्भिक श्लोकों से ज्ञात होता है, जो इस प्रकार हैं —

रघुनन्दनसुतेनेदमिष्टिकापुरवासिना ।
कान्यकुब्जद्विजाग्र्येण षिमानन्देन तन्यते ।

इष्टिकापुर (अथवा इटकापुर) आधुनिक इटावा का ही संस्कृत नामान्तर प्रतीत होता है । **षिमानन्द** के अपने को 'कान्यकुब्जद्विजाय' कहने से भी इस बात की सम्भावना बढ़ जाती है क्योंकि आधुनिक इटावा और उसके आस पास प्रदेश कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के गढ़ हैं । **षिमानन्द** के अनुसार तत्त्व समास सूत्रों की संख्या २५ है, जिन्हें **कपिल मुनि** ने निर्विण्ण **आसुरि** को दिया था ।[१] ग्रन्थ के दो भाग हैं । जिनमें प्रथम सूत्रव्याख्यानात्मक है । द्वितीय भाग निबन्धात्मक है । जिसमे सांख्य-मत का स्वतंत्र निरूपण या विवेचन है । सूत्र-व्याख्यान केवल २२ पर ही हैं । अन्तिम ३ सूत्रों का विषय पूर्व व्याख्यान से ही स्पष्ट हुआ जानकर शायद अन्तिम ३ सूत्रों पर व्याख्यान नहीं किया । इस तीन सूत्रों के व्याख्यान के त्रिपुट होने की संभावना का निषेध प्रथम भाग के अन्त में दिये गये

एतत् समासतः प्रोक्ता सूत्रव्याख्या यथामति ।
प्रक्रियां च प्रवक्ष्यामि पौराणिकहिताय च ॥

१. द्रष्टव्य, आरम्भ का चौथा श्लोक :
एवं पृष्टो मुनिः प्राह निर्विण्णाय कृपानिधिः ।
पंचविंशतिसूत्राणि व्याख्यां तानि महात्मभिः ॥

इस श्लोक से हो जाता है। इसके ठीक पूर्व के तीन श्लोकों में ग्रन्थकार ने 'त्रिविध दुःखम्'— इस २२वें सूत्र का व्याख्यान किया है। इससे इसी बात की सम्भावना अधिक है कि अन्तिम तीन का व्याख्यान ग्रन्थकार ने नहीं प्रस्तुत किया।

प. उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ के पृ. ३२२ पर यह सूचना दी है कि **षिमानन्द** का लिखा एक और ग्रन्थ *नवन्यायरत्नाकर* है। जिसकी एक हस्तलिखित प्रति पञ्चनद(पंजाब) विश्वविद्यालय में पुस्तकालय संख्या ६५६१ पर सुरक्षित है। पुष्पिका[१] के आधार पर इस बात निश्चय हो जाता है कि *सांख्यतत्त्वविवेचन* और इस ग्रन्थ के रचयिता **षिमानन्द** एक ही व्यक्ति हैं। इसके प्रारम्भ के पंचम श्लोक[२] में ग्रन्थकार ने अपने न्यायविद्या-गुरु का नाथ **दिनकर** दिया है। इसके आधार पर **शास्त्री जी** ने उनका समय ईसवी शत्रहवीं शताब्दी के प्रथममार्ग के पूर्व सिद्ध किया है। उनका कथन है कि यदि **षिमानन्द** के गुरु **दिनकर** को **मुक्तावलि** का व्याख्याकार **दिनकर मिश्र** ही समझा जाये[३] तो इनका काल सम्बन्धी विवेचन अधिक स्पष्ट हो जाता है। *सर्वदर्शन संग्रह* की अन्तिम सूचियों में **अभ्यङ्कर महोदय** ने दिनकर का नाम समय खीष्ट १६९० लिखा है। परन्तु इस प्रतिलिपि का संवत् १७४८ है जो १६९१ खीस्ट में आता है। इस प्रतिलिपि के अन्तिम 'श्रीभवाणी-शहाय' पदों से यह बात प्रतीत होती है कि यह प्रति ग्रन्थकार की स्वयं लिखी हुई नहीं है। प्रत्युत किसी अन्य व्यक्ति ने किसी पहली प्रति के आधार प्रतिलिपि की है। उस प्रतिलिपिकार ने ही संवत् और इन अन्तिम पदों का उल्लेख किया है। षिमानन्द स्वयं इस तरह के अशुद्ध पदों का प्रयोग नहीं कर सकते थे। संवत् का निर्देश भी यदि वे स्वयं करते तो उसे श्लोक-बद्ध कर सकते थे। इस प्रकार से

---

१. इतिश्रीकान्यकुब्जतिलकइष्टकापुरनिवासिदीक्षितरघुनन्दनसुतषिमानन्दकृते नवन्यायरत्नाकरे गौतमसूत्रव्याख्यानरूपो नवकल्लोलः समाप्तः। संवत् १७४८। श्रीभवानीसहायः।

२. येन न्यायसुन्नम्भोजमपूरि श्रवणे मम।
शान्तावत्तमसं चान्तः सन्तं दिनकरं नुमः॥

३. श्लोक के प्रथमार्ध के आधार पर ऐसा समझना सर्वथा स्वाभाविक है।

पृथक संवत् लिखने की प्रथा ग्रन्थ-रचयिताओं में नहीं पाई जाती । प्रतिलिपियों में संवत् का पृथक् उल्लेख रहता है । ऐसी स्थिति में **षिमानन्द** का काल अवश्य इससे कुछ पूर्व ही माना जाना चाहिये इसलिये ख्रीष्ट सप्तदश शतक के पूर्वार्ध में **षिमानन्द** का विद्यमान होना सामञ्जस्य-पूर्ण हो सकता है ।

भावागणेश

सांख्यसंग्रह में संगृहीत दूसरी व्याख्या **भावागणेश**कृत *तत्त्वयाथार्थ्यदीपन* है । **भावागणेश विज्ञानभिक्षु** के शिष्य थे यह बात प्रारम्भ के द्वितीय श्लोक[१] से स्पष्ट है जिसमें उन्होंने समस्तकार्य की सिद्धि एवं बुद्धि-वृद्धि के लिये **कपिल, आसुरि** एवं **पञ्चशिख**, सांख्य की इस गुरुत्रयी के साथ अपने गुरुवर्य विज्ञानभिक्षु को नमस्कार किया है । इसके अतिरिक्त **भावागणेश** ने ग्रन्थ के बीच में भी दो स्थलों पर अपने समर्थन में **विज्ञानभिक्षु** के *सांख्यप्रवचनभाष्य* के उद्धरण नामोल्लेख-पूर्वक दिये हैं । इनमें प्रथम स्थल तो प्रमा और प्रमाण के विवेचन का है । पिछले प्रकरण में विज्ञानभिक्षु की विशिष्ट मान्यताओं का वर्णन करते हुए प्रमा एवं प्रमाण के विषय में उनकी यह मान्यता स्पष्ट की जा चुकी है कि **विज्ञानभिक्षु** पुरुष में प्रमाण-भूत चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब एवं पुरुष द्वारा को स्वीकार करते हुए उसे प्रमाता और भोक्ता मानते हैं । विषय के साथ पुरुष का सम्बन्ध इसी प्रकार का है । **भावागणेश** की भी मान्यता यही है । जिसे संक्षेप में देकर उन्होंने **भिक्षु** की **सांख्यभाष्य**-गत कारिकाओं के उद्धरण द्वारा पुष्ट किया है । संक्षेप में वह सन्दर्भ इस प्रकार हैं ।—

अन्तःकरणावृत्तिरिन्द्रियवृत्तिद्वाराऽर्थसन्निकृष्टा भवति, तत इन्द्रियवृत्त्या सह अर्थाकारा परिणमते, सा चार्थाकारा वृत्तिर्गुणरूपा सर्वात्मनां विभुत्वेऽपि स्वस्वामिन्येवात्मनि प्रतिबिम्बते नान्यत्र...स्वामित्वं च स्वनिष्ठसंस्कारजनकवृ-

---

१. कपिलासुरिपञ्चशिखान् गुरुन् विज्ञानवर्यांश्च ।
प्रणमामि बुद्धिवृद्ध्यै सिद्ध्यै सर्वकार्याणाम् ।

त्तिप्रकाशकत्वं, सा च वृत्तिरात्मनि स्थिता सती अर्थकारा आत्माकारा च स्वसमानाकारं परिणामान्तरं धत्ते, स एवात्मनि वृत्तिप्रतिबिम्बो विषयताख्यः सम्बन्ध इति तदवच्छिन्नं चैतन्यं प्रत्यक्षप्रमा घटमहं जानामीत्याकारार्थात्मविषयिणी। (पृ. ८४) ... एवं व्याप्तिप्रमाजन्यसाध्यविशिष्टपक्षाजन्या पदार्थसंसंर्गाकारा वृत्तिः शब्दप्रमाणं, तत्प्रतिबिम्बावच्छिन्नचैतन्यं शाब्दी प्रमा। इदं प्रमाणद्वयमान्तरमेव। अपरोक्षत्वं स्मृतित्वं परोक्षत्वं संशयत्वं विपर्ययत्वं प्रमात्वमप्रमात्वं च सर्वे वृत्तिधर्मा एवं तत्प्रतिबिम्बवशाच्चैतन्येऽप्युपचर्यन्ते।....अत्र प्रमात्रादिविभागविषये विज्ञानाचार्याणां कारिकाः–

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः कारणस्यानपेक्षणात्॥

साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूत्रितम्। इति (पृ. ८५)

द्वितीय स्थल, जहां **भावागणेश** ने अपने गुरु केमत का नामोल्लेख पूर्वक उद्धरण दिया है, समस्त आत्माओं के उपनिषत्प्रतिपादित अभेद के तात्पर्य के सांख्य मत से विवेचन का है। उस अभेद के शाङ्करवेदान्तानुसारी तात्पर्य का खण्डन करते हुए **भावागणेश** ने इस प्रकार लिखा है।:- **सांख्यानां च सर्वात्मनामवैधर्म्याभेद एव तत्त्वमसिवाक्यार्थो नाविभागादिः, तज्जानस्येवाभिमाननिवर्तकत्वात्, तद्वाक्यस्य च श्वेतकेतोरनूचानत्वाद्यभिमाननिवृत्त्यर्थमेव प्रवृत्तेः। तथा च लयावशिष्टचित्सामान्यं तत्पदार्थः तदुक्तं विज्ञानचार्यवर्यैरस्मद्गुरुभिराद्यश्लोकेन**

एकोऽद्वितीय इति वेदवचांसि पुंसि,
सर्वाभिमानविनिवर्तनतोऽस्य मुक्त्यै।
वैधर्म्यलक्षणभिदा विरहं वदन्ति,
नाखण्डतां ख इव धर्मशताविरोधात्॥ इति। (पृ. ८८-८९)

इस प्रकार **भावागणेश** की स्व-गुरु **विज्ञानभिक्षु** की भांति उपनिषत्प्रोक्त आत्माभेद या आत्माद्वैत का अर्थ उसका अविभाग, अपार्थक्य या उसकी अखण्डता न लेकर अवैधर्म्य रूप अभेद लेते हैं । अर्थात् समस्त आत्मा चिन्मात्र होने से एक है, अभिन्न है, समानधर्मा है, विषमधर्मा या विभिन्नधर्मा नहीं है । परन्तु हैं सभी पृथक-पृथक या विभक्त, ज़िसे संख्या में वे एक नहीं, अनेक हैं । 'पुरुष' इस तृतीय सूत्र की व्याख्या में भी **भावागणेश** ने सांख्य और वेदान्त के एतद्विषयक मतभेद को स्पष्ट करते हुए इस प्रकार लिखा है ।

एवं तावत् सांख्याचार्याः कपिलासुरिपञ्चशिखपतञ्जलिप्रभृतयो...न्यायवैशेषिकाश्च बहून् पुरुषानात्मत्वेन वदन्ति औपनिषदाश्चाचार्या हरिहर-हिरण्यगर्भ-व्यासादय एभ्योऽतिरिक्तमेव नित्येश्वरं सर्वेषामात्मानं वदन्ति । कस्मादेवम् ? पुरुषमेवेदं सर्वमिति, तदेवाग्निस्तदादित्य इति, ... इत्यादिप्रमाणेभ्यः । सांख्यास्तु आदिपुरुषविषयतया लयावशिष्टनिर्विशेषचिन्मात्रतया वा एतानि श्रुतिवाक्यानि योजयन्ति । (पृ. ६१) आगे **प्रतिसञ्चरः** इस छठें *तत्त्वसमाससूत्र* की व्याख्या में भी आचार्य ने अपने यही मन्तव्य इन शब्दों में प्रकट किया है: — **प्रतिसञ्चरान्ते यन्निर्विशेषं चित्सामान्यमवशिष्यते, तदेव सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्मे, त्यादिश्रुतिषु सद्ब्रह्मादिपदवाच्यम् । अद्वितीयत्वं तु अवैधर्म्यविभागाख्याभेदेनेति** ।" (पृ. ७०)

इन दोनों स्थलों के अतिरिक्त भी **भावागणेश** ने अपने ग्रन्थ में सांख्य के विभिन्न तत्त्वों एवं मतों के व्याख्यान में बिना नामोल्लेख किये अपने गुरु की व्याख्या सरणि का प्रायेण अवलम्बन लिया है । एकाध दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे । जैसे, 'सञ्चर' इस पञ्चम *तत्त्वसमास सूत्र* की व्याख्या में तेईस तत्त्वों की उत्पत्ति बताकर लिङ्गशरीर विषयक धारणा स्पष्ट करते हुए **भावागणेश** ने इस प्रकार लिखा है:—**...एवं त्रयोविंशतितत्त्वानां सृष्टिः । तेषु पञ्चमहाभूतानि वर्जयित्वाहङ्कारं च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिङ्ग शरीरसंज्ञं भवति, वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्तिस्थानत्वात् । तच्च सर्वपुरुषाणां स्वस्वबीजभूत प्रकृतिसंयोगात् सर्गादावुत्पद्य**

प्राकृतप्रलयपर्यन्तं तिष्ठति ।.....प्राणश्च बुद्धिभेदेव वृत्तिभेद इत्यतो लिङ्गशरीरे न पृथक निर्दिश्यते बुद्धावेवान्तर्भावात् । तस्य च लिङ्गशरीरस्य परमसूक्ष्माणि पञ्च महाभूतानि तेजःप्रधानान्याश्रयः चित्रादिवत्, आश्रयं विना लोकान्तरगमनासम्भवात् । तदुक्तं सप्तत्याम्—

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥

इति ॥ (पृ. ६६-७) **विज्ञानभिक्षु** की विशिष्ट मान्यता के विवेचन के प्रसगं में स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार **भिक्षु जी** अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके लिङ्ग शरीर मे सत्रह तत्त्व ही मानते हैं, एवं उसके आश्रय रूप से 'अधिष्ठान' नामक एक अतिरिक्त शरीर की कल्पना करते हैं, और उसमें 'चित्रं यथाश्रयमृते ...' इत्यादि ४१ वीं *सांख्यकारिका* का प्रमाण देते हैं । **भावागणेश** की भी टीका यही मान्यताएं प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होती हैं । साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि **भिक्षु जी** की भांति ही **भावागणेश** भी पञ्च प्राणों को बुद्धि का ही वृत्तिभेद मानने के कारण उसी में अन्तर्भूत करते हैं जिससे लिङ्ग शरीर में उसकी पृथक गणना नहीं करनी पड़ती, जैसी वेदान्त में । **भावागणेश** ने १२ वें सूत्र 'पञ्च वायवः' के व्याख्यान में भी इस विषय का स्वतन्त्ररूप में कथन किया है:

हृदि प्राणो गुदेऽपानो व्यानः सर्वशरीरगः ।
उदानः कण्ठदेशे च समानो नाभिसंस्थितः ॥

एते पञ्च क्रियाशक्तिमदन्तःकरणवृत्तिभेदा अपि वायुसमानगतिकत्वाद्वायुदेवताकत्वाच्च वायव इत्युक्तम् । अर्थात् यद्यपि प्राण, अपान आदि क्रियात्मक परिणाम अन्तःकरण के ही विशिष्ट कार्य या परिणाम हैं, तथापि वायु के समान ही गतिशील एवं वायु देवता से अधिष्ठित होने के कारण ये सूत्र में वायु कहे गये हैं । यही बात ठीक इसी रूप में **विज्ञानभिक्षु** की विशिष्ट मान्यता के प्रसंग उद्धृत इस सन्दर्भ में भी कहीं गई है:—**प्राणादिरूपाः पञ्च वायुवत् सञ्चारात् वायवो ये**

प्रसिद्धास्ते सामान्या साधारणीकरणत्रयवृत्तिः परिणामभेदा इत्यर्थः । (सांख्यप्रवचनसूत्र २-३१ का भिक्षु भाष्य)

इस समस्त विवेचन से यह तथ्य सुस्पष्ट है कि **भावागणेश आचार्य विज्ञानभिक्षु** के शिष्यों में अन्यतम थे एवं उन्होंने अपने गुरु की विशिष्ट मान्यताओं के आधार पर ही *तत्त्व समास-सूत्रों* का व्याख्यान प्रस्तुत किया है । इसे भावागणेश का **विज्ञानभिक्षु** का समसामयिक होना सुसिद्ध है । इसी अध्याय के पूर्व भाग में **विज्ञानभिक्षु** का समय इसवीय सोलहवीं शताब्दी सिद्ध किया जा चुका है । अतः वही समय **भावागणेश** का भी होगा । पीछे **षिमानन्द** के प्रसंग में उनका समय ईसवीय सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक सीमित किया जा चुका है । इससे भी **भावागणेश** का समय सोलहवीं के बाद का नहीं हो सकता क्योंकि **षिमानन्द** का **भावागणेश** से परवर्ती होना इस कारण से सुसिद्धि है कि षिमानन्द ने अपने ग्रन्थ के पृ. ९६ पर लिङ्गशरीर विषयक अपना जो मत प्रकट किया है ।[१] वह अर्थतः और शब्दतः भी भावागणेश का पीछे उद्धृत एतद्विषयक मत ही है, और इसी तरह के भावागणेश के अन्य सन्दर्भ भी न्यूनाधिक रूप से **षिमानन्द** के *सांख्यतत्त्वविवेचन* में प्राप्तो होते हैं ।

ऊपर भावागणेश को विज्ञानभिक्षु का शिष्य सिद्ध करने के प्रसङ्ग में ही उनके मुख्य सिद्धान्तों का भी संक्षेप मे कथन किया जा चुका है । सिद्धान्तों के ही सम्बन्ध में इतना और ज्ञातव्य है कि **एतत् परं याथार्थ्यम्** ।२३ । **एतज्ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात्** ।२४ । **न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते** ।५ ।— इन अन्तिम तीन सूत्रों का

---

१. लिङ्गशरीरं तु बुद्ध्यहङ्कारमनोबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियपञ्चतन्तमात्राणामष्टादशानां समुदायः त्रयोविंशतितत्त्वमध्ये पञ्चभूतानि वर्जयित्वा अहंकारं च बुद्धौ प्रवेश्य सप्तदशकं लिङ्गशरीरसंज्ञं भवति, वह्नेरिन्धनवदात्मनोऽभिव्यक्तिस्थानत्वात् । तच्च सर्वपुरुषाणां सर्गादावुत्पद्य प्राकृतपलयपर्यन्तं तिष्ठति तेन चैवेहलोकपरलोकयोः संसरणं जीवानां भवति । प्राणश्च बुद्धेरेव वृत्तिभेद इत्यतो न लिङ्गशरीरात्पृथक् निर्दिश्यते । तस्य च लिंगशरीरस्य सूक्ष्माणि पञ्च भूतानि आश्रयश्चित्रादिवत्,आश्रयं विना परमसूक्ष्मस्य लोकान्तरगमनासम्भवात् ।

व्याख्यान प्रस्तुत करके ग्रन्थान्त में शास्त्र और साधना का रहस्य ग्रन्थकार ने इन शब्दों में उद्घाटित किया है:- **अन्यच्च, अत्र सांख्यविद्यायां भगवद्भक्तेरेवासाधारणकारणत्वं ज्ञेयम्, अन्यथा देवकृतविघ्नैर्योगध्वंसो भवत्येव। यथोक्तं भागवते–**

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥

श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो!
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघा- तिनाम्॥

इति। इदानीन्तना केचन वैष्णवा एतादृशवाक्यैर्भगवद्भक्तिं पुरस्कृत्य सामान्यतो ज्ञानमार्गं खण्डयन्ति। ते तु विद्याविकेकानभिज्ञाः स्थूलमतय एव। नारदीये च सांख्यविद्याधिकारे –

मायाप्रवर्तके विष्णौ कृता भक्तिर्दृढा नृणाम्।
सुखेन प्रकृतेरन्यं स्वं दर्शयति दीपवत्॥

चित्ते हि स्ववशे योगः सुसुखो मार्गः श्रीविष्णुसंश्रयः।
चित्तेन चिन्तयानेन वञ्च्यते ध्रुवमन्यथा॥ (पृ. ९१-९२)

इससे स्पष्ट है कि **भावागणेश** अपने गुरु की ही भांति सांख्य को ज्ञान-निष्ठा अर्थात् ज्ञानमार्ग मानते हैं जिसमें मुक्ति साक्षात् ज्ञान से ही मानी जाती है, भक्ति से नहीं, यद्यपि भगवद्भक्ति उस ज्ञान में असाधारण कारण है।

सर्वोपकारिणी

सांख्यसंग्रह में मुद्रित तीसरी टीका *सर्वोपकारिणी* है। इसके आदि अन्त अथवा पुष्पिका आदि में कहीं भी रचयिता के नाम का उल्लेख नहीं है। **प. उदयवीर शास्त्री** ने इसके प्रारम्भिक भाग में स्थित एक सन्दर्भ के आधार पर यह सम्भावना

प्रकट की है कि हो न हो, इसका रचयिता कोई वेदान्ती हो और वह वेदान्ती कदाचित *सांख्यषडध्यायी* पर *वृत्तिसार* टीका लिखने वाला **महादेव वेदान्ती** ही रहा हो । वह सन्दर्भ इस प्रकार है:- **सूत्रषडध्यायी तु वैश्वानरावतारमहर्षिभगवत्कपिलप्रणीतेति वृद्धाः** इसमें दो पृथक-पृथक 'कपिल' मुनियों का उल्लेख है, जिन दोनों का ही सांख्य से सम्बन्ध कहा गया है । भगवान् नारायण के (पञ्चम) अवतार कपिल को बाईस (सर्वोपकारिणी के अनुसार) सूत्रों वाले *तत्त्वसमास-सूत्र* का, एवं अग्नि के अवतार कपिल को षडध्यायी *सांख्यप्रवचनसूत्र* का रचयिता बताया गया है । अपने इस लेख का आधार टीकाकार ने वृद्धों को बताया है । ये वृद्ध जन कौन हो सकते है ? क्या उनका कोई ग्रन्थ था जिसमें उन्होंने यह बात लिखी थी, अथवा मौखिक रूप से ही परम्परया चली आती हुई उक्ति के आधार पर टीकाकार ने ऐसा लिख दिया ? कुछ कहा नहीं जा सकता । **विज्ञानभिक्षु** ने अवश्य *सांख्य प्रवचनसूत्र* के अन्तिम सूत्र के भाष्य में इस बात का निर्देश किया है कि किसी वेदान्ती ने अग्नि के अवतार कपिल को *सांख्यषडध्यायी* का रचयिता बताया है । उन्होंने इस कथन का प्रत्याख्यान भी किया है ।[१] **प. उदयवीर जी** का कथन है कि 'अभी तक किसी भी वेदान्ती के ग्रन्थ में हमें इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ । सम्भव है, **विज्ञानभिक्षु** का निर्देश इसी व्याख्या की ओर हो और उसके ज्ञान में इस व्याख्या का रचयिता कोई वेदान्ती हो । क्या यह सम्भावना संगत होगी कि यह वेदान्ती कदाचित **महादेव** ही हो जिसने *सांख्यषडध्यायी* पर भी वृत्ति लिखी है ।'[२] पीछे **विज्ञानभिक्षु** के समय निर्धारण के प्रसंग में शास्त्री जी की इस मान्यता का खण्डन किया जा चुका है कि **महादेव वेदान्ती विज्ञानभिक्षु** से पूर्ववर्ती थे । ऐसी स्थिति में उनके द्वारा प्रश्नमुखेन प्रदर्शित सम्भावना खण्डित समझी जानी चाहिये ।

---

१. द्रष्टव्य सांख्यप्रवचनसूत्र ६-७० तदिदं सांख्यशास्त्रं कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान् । यत् तत्र वेदान्तिब्रुवः कश्चिदाह सांख्यप्रणेता कपिलो न विष्णुः किन्त्वग्न्यवतारः कपिलान्तरम् 'अग्निः स कपिलो नाम सांख्यशास्त्रप्रवर्तकः इति स्मृतेरिति, तल्लोकव्यामोहनमात्रम् ।'

२. द्रष्टव्य सांख्य दर्शन का इतिहास, पृ. ३२८

सर्वोपकारिणी व्याख्या में अन्य व्याख्याओं की अपेक्षा अर्थ गत वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है । 'अध्यात्मम्, अधिभूतम्, अधिदैवम्' का *सर्वोपकारिणी* स्थित अर्थ **वाचस्पति मिश्र** की *सांख्यतत्त्वकौमुदी* की ही अक्षरशः पुनरावृत्ति है । *क्रमदीपिका, तत्त्वयाथार्थ्यदीपन, सांख्यतत्त्वविवेचन,* एवं *सांख्यसूत्र विवरण* इन चारों ही टीकाओं में इससे भिन्न एक सा अर्थ किया गया है । *सर्वोपकारिणी* में इनका अर्थ क्रमशः आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक, इन त्रिविध दुःखों से लिया गया है, जब कि अन्य सभी टीकाओं में त्रयोदश, करणों (बुद्धि अहङ्कार तथा ग्यारह इन्द्रिय) में से प्रत्येक के सम्बन्ध से अध्यात्म अधिभूत, अधिदैव दिखाये गये हैं, जैसे बुद्धि अध्यात्म बोद्धव्य अधिभूत तथा ब्रह्मा अधिदैव, अहङ्कार अध्यात्म मन्तव्य अधिभूत तथा रुद्र अधिदैव, मन अध्यात्म, संकल्पित अधिभूत तथा चन्द्र अधिदैव इत्यादि । इसी प्रकार इनके ठीक बाद के पञ्चाभिबुद्धयः, पञ्च कर्मयोनयः, पञ्च वायवः तथा पञ्च कर्मात्मानः के अर्थ भी *सर्वोपकारिणी* में अन्य टीकाओं से विलक्षण ही मिलते हैं । उसमें इनके अर्थ क्रमशः पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, प्राण अपान आदि पञ्च वायु, एवं उनके पृथक-पृथक पांच कार्य दिये गये हैं, जब कि अन्य चारों टीकाओं में इनसे भिन्न एक से अर्थ मिलते हैं । केवल पञ्च वायवः सूत्र का अर्थ सभी ने प्राण, अपान इत्यादि पांच वायुओं से ही लिया है । हां, **भावागणेश** ने अपने गुरु का अनुसरण करते हुए सबसे पृथक यह मत प्रतिपादित किया है कि प्राण इत्यादि वायु अन्तःकरण (या बुद्धि) के ही व्यापार विशेष हैं एवं वायुवत् सञ्चरण करने के कारण वायु कहलाते हैं, वस्तुतः वायु नहीं है । **विज्ञानभिक्षु** एवं उनके शिष्य **भावागणेश** का यही मत है । इसके विपरीत अन्य व्याख्याताओं का मत यह है कि ये वस्तुतः अन्तर्गत वायु ही है । विभिन्न स्थानों में स्थित रहकर विभिन्न कार्य करता हुआ शरीरन्तार्गत एक ही वायु तदनुसार प्राण, अपान आदि पांच नाम प्राप्त करता है । *सर्वोपकारिणी* के लेखक का भी यही मत है । 'पञ्च वायवः' सूत्र की *सर्वोपकारिणी* से यह बात स्पष्ट है । इसके सम्बन्ध में इतना और वक्तव्य है कि इसकी पंक्ति २९वीं कारिका के उत्तरार्ध की *तत्त्वकौमुदी* से अक्षरशः मिलती है ।

इसी प्रकार **अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः** सूत्र के व्याख्यान में ग्यारह इन्द्रियों के उपघात से होने वाली बुद्धि की ग्यारह 'अशक्तियों' का

बाधिर्यं कुष्ठताऽन्धत्वं जडता जिघ्रता तथा।
मूकता कौण्यपङ्गुत्वे क्लैब्योदावर्तमन्दताः ॥

इत्यादि श्लोक के द्वारा वर्णन ४९वीं कारिका के 'एकादशेन्द्रियवधाः' पद के व्याख्या में *तत्त्वकौमुदी* में भी इसी रूप में मिलता है । यों, यह श्लोक अन्य व्याख्याओं में भी उद्धृत है पर यहां-वहां पाठ-भेद के साथ । परन्तु *तत्त्वकौमुदी* एवं *सर्वोपकारिणी* दोनों ही में उपर्युक्त श्लोक ठीक इसी रूप में उपलब्ध है । पर इस सबसे बढ़कर **दश मूलिकार्थाः**—इस सूत्र के व्याख्यान में *सर्वोपकारिणी* में उद्धृत *राजवार्तिक* एवं मूलभूत प्रकृति तथा पुरुष पर आश्रित दसों मौलिक पदार्थों की व्यवस्था सर्वथा *तत्त्वकौमुदी* से ही ली गई प्रतीत होती है । इस सबसे सिद्ध होता है कि *सर्वोपकारिणी* टीका रचयिता **वाचस्पतिमिश्रि** से परवर्ती है ।

सांख्यसूत्रविवरण

सांख्यसंग्रह में संख्या ४ पर मुद्रित टीका *सांख्यसूत्रविवरण* है । यह टीका *सर्वोपकारिणी* की भांति ही बहुत संक्षिप्त है । इसमें टीकाकार का नाम निर्दिष्ट नहीं है । इनमें *क्रमदीपिका* की प्रश्नोत्तर शैली अपनाई गई है । जैसे *क्रमदीपिका* में **भगवन् ! किमिह परं, किं याथातथ्यं किं कृत्वा कृतकृत्यः स्याम्**[१] इत्यादि प्रश्नों के द्वारा तत्त्वों का निरूपण किया गया है, उसी प्रकार *सांख्यसूत्रविवरण* में भी **काः पुनस्ताः** (प्रकृतयः)... **के पुनर्विकाराः, कति**[२] इत्यादि प्रश्नों के द्वारा तत् तत् तत्त्वों का निरूपण किया गया है। यद्यपि यह टीका साधारण है, तथापि एकाध उल्लेखनीय वैशिष्ट्य इसमें अवश्य हैं । प्रायः तो इसमें अन्य प्राचीन टीकाओं का ही आधार लिया गया है । इसके मुख्य सिद्धान्त टीकाकार के ही शब्दों में इस प्रकार

१. द्रष्टव्य क्रमदीपका, पृ. ११७ ॥

२. द्रष्टव्य सांख्यसूत्रविवरण, पृ. १०५

हैं : — **महतोऽहङ्कारः स च त्रिविधः, वैकृतिको भूतादिस्तैजसश्चेति। तत्र वैकृतादिन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते, भूतादेस्तन्मात्राणि, तैजसादुभयम् इन्द्रियाणि तन्मात्राणि च** (पृ. १०७) तत्त्वयाथार्थ्यदीपन के रचयिता **भावागणेश** जहां इन्द्रियों को अपने गुरु **विज्ञानभिक्षु** की भांति तैजस अर्थात् राजस अहङ्कार से उत्पन्न हुई मानते हैं, सर्वोपकारिणी इस विषय **वैकारिकादहङ्कारादेव इन्द्रियाणि चोत्पद्यन्ते भूतादेस्तन्मात्राणि, तैजसादुभयम्** इत्यादि सन्दर्भ में इन्द्रियों को वैकारिक अर्थात् सात्त्विक बताती हुई भी तैजस अर्थात् राजस अहङ्कार से उत्पन्न होने वाले 'उभय' के विषय में चुप है, कुछ भी नहीं कहती, वहां *सांख्यसूत्रविवरण* का एतद्विषयक कथन सुस्पष्ट है। इसका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक अहङ्कार से इन्द्रियां, तामस अहङ्कार से तन्मात्र, एवं राजस अहङ्कार से 'उभय' अर्थात् इन्द्रिय एवं तन्मात्र, दोनों ही उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत सामान्यतः मान्य सिद्धान्त यह है कि राजस अहङ्कार से 'उभय' अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ, दोनों ही उत्पन्न होती है।

इसमें **अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैव पञ्चाभिबुद्धयः** इत्यादि सूत्रों का अर्थ तत्त्वसमास की अन्य टीकाओं की तरह किया गया है। **पञ्च वायवः** सूत्र के अर्थ में भी 'वायु' पद का तात्पर्य वाच्यार्थपरक ही लिया गया है, जैसा **भावागणेश** को छोड़कर अन्य सभी टीकाकार लेते हैं।

तत्त्वसमाससूत्रवृत्ति या क्रमदीपिका

इस टीका के कर्ता ने भी न तो कहीं भी अपना नाम दिया है और न अपना कोई परिचय ही। ग्रन्थ का नाम अवश्य दिया है पर वह भी दो प्रकार से। अन्त में दी हुई पुष्पिका[१] में *सूत्रवृत्ति* नाम दिया हुआ है परन्तु उपसंहारात्मक दो श्लोकों में से अन्तिम[२] में *क्रमदीपिका*। प्रथम नाम तो साधारण ही है क्योंकि 'टीका' के लिये 'वृत्ति', 'व्याख्या', 'विवरण' आदि शब्दों का पर्याय रूप से प्रयोग प्रायः देखा जाता

---

१. इति श्री तत्त्वसमासाख्या सूत्रवृत्तिः समाप्ता।

२. सांख्यसूत्रक्रमेणैषा व्याख्याता क्रमदीपिका।
अनुष्टुप्छन्दसा चात्र ज्ञेयं श्लोकशतत्रयम्॥

है। परन्तु *क्रमदीपिका* शब्द अवश्य कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञात होता है। वस्तुतः *क्रमदीपिका* ही मुख्य नाम प्रतीत होता है, और *सूत्रवृत्ति* गौण, कयोंकि वृत्ति का अर्थ संक्षिप्त व्याख्या या टीका है और सूत्रों की वृत्ति होने के कारण इसे 'सूत्रवृत्ति' कह दिया। *क्रमदीपिका* नाम देने का कारण ग्रन्थकार ने स्वयमेव दिया है और वह यह कि चूंकि यह व्याख्या सूत्रों के क्रम से ही लिखी गई है, इसलिये यह *क्रमदीपिका*—सूत्रों के क्रम से उनका अर्थ प्रकाशित करने वाली है। इस पर अपना विचार प्रकट करते हुए **पं. उदयवीर शास्त्री** ने इस प्रकार लिखा है: -"इससे यह भावना ध्वनित होती है कि सम्भवतः इससे पूर्व इन सूत्रों का क्रमशः व्याख्यान न हुआ हो। आचार्यों ने यत्र-तत्र प्रसङ्गवश उल्लिखित सूत्रों का थोड़ा-बहुत या विस्तृत व्याख्यान किया हो। ऐसी स्थिति में सबसे प्रथम सूत्रों का क्रमपूर्वक व्याख्यान करने वाली यही रचना होगी, तभी इसका यह नाम उस अर्थ के आधार पर सार्थक कहा जा सकता है"।[१] हम **शास्त्री जी** के इस विचार से सर्वथा सहमत हैं। *तत्त्वसमास* के अनेक सूत्रों के अत्यन्त सरल एवं सुबोध होने के कारण उनकी रचना होने के बहुत काल बाद तक प्रत्येक सूत्र का व्याख्यान करने वाली किसी टीका का न होना सम्भव ही नहीं अपितु स्वाभाविक भी प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में पूर्वोल्लिखित सभी टीकाओं की अपेक्षा इस टीका की प्राचीनता सिद्ध होती है। इसके कुछ और भी कारण **शास्त्री जी** ने दिये हैं।[२] जो संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) इसकी रचना शैली प्राचीन प्रतीत होती है। ग्रन्थारम्भ तो *माठरवृत्ति* के ढंग पर किया गया है और प्रत्येक सन्दर्भ के प्रारम्भ करने की शैली *युक्तिदीपिका* की है।

(२) अट्ठाईस शक्तियों में एकादश इन्द्रिय वध का निर्देश करने के लिये सांख्य ग्रन्थों में एक श्लोक का उल्लेख मिलता है जो *युक्तिदीपिका* से लेकर बाद के सभी टीका-ग्रन्थों में उद्धृत है, केवल *माठर-वृत्ति* और *क्रमदीपिका* में यह श्लोक

---

१. द्रष्टव्य सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. ३३३

२. द्रष्टव्य वही पृ. ३३०-३१

नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि *क्रमदीपिका* भी *माठर-वृत्ति* की तरह *युक्तिदीपिका* से प्राचीन है।

(३) दश मौलिक अर्थों का निर्देश करने के लिये *जयमंगला* एवं *तत्त्वकौमुदी* में किसी *राजवार्तिक* से दो श्लोक उद्धृत हैं। परन्तु कारिकाओं के प्राचीन टीकाकार **माठर** ने इसके लिये एक दूसरा (उपजाति छन्द में लिखा हुआ) पद्य उद्धृत किया है। *क्रमदीपिका* में भी यही श्लोक उद्धृत है, *जयमंगला* और *तत्त्वकौमुदी* वाला नहीं, यद्यपि अपनी रचना के अनन्तर ये व्याख़्यायें अध्ययन और अध्यापन की परम्परा में अत्यन्त प्रसिद्ध रही हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि *क्रमदीपिका* **माठर** के आधार पर इन टीकाओं से पूर्व रची गई होगी।

(४) २०वीं *सांख्यकारिका* की *जयमंगला* में एक श्लोक इस प्रकार उद्धृत हैं:— **तथा चोक्तम्**—

प्रवर्तमानान् प्रकृतेरिमान् गुणस्तमोऽभिभूतो विपरीतदर्शनः।
अहं करोमीत्यबुधोऽभिमन्यते तृणस्य कुब्जीकरणेऽप्यंनीश्वरः॥

इति। यही श्लोक *क्रमदीपिका* में बिना उद्धरण चिन्हों के उपलब्ध होता है।[१] केवल 'विपरीतदर्शनः' के स्थान में उसमें 'विपरीतदर्शनात्' पाठ है, पर इतना पाठ भेद नगण्य है। *क्रमदीपिका* में इस पद्य के पूर्व न तो 'अत्राह' इत्यादि है न और इस के बाद इति इत्यादि ही। प्रत्युत इसके अर्थ को एक गद्यात्मक वाक्य में रखते हुए उसके समर्थन में अत्राह शब्दों के साथ गीता के तीन श्लोकों को उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि यह श्लोक **क्रमदीपिकाकार** की अपनी रचना है। अतः इसे उद्धृत करने वाले **जयमंगलाकार** की अपेक्षा **क्रमदीपिकाकार** प्राचीन होंगे।

यद्यपि *माठरवृत्ति* को पिछले अध्याय में **शङ्कराचार्य** के बाद की रचना सिद्ध किया गया है, तथापि **आचार्य माठर** की सर्वाधिक प्राचीनता स्वीकार की गई है। अतः *माठर-वृत्ति* के सम्बन्ध से ऊपर कही गई बातें सत्य हो सकती हैं। पर न होने

१. द्रष्टव्य क्रमदीपिका पृ. १२४।

पर भी अन्य कारणों से *क्रमदीपिका* की प्राचीनता हो सकती है। कारिकाओं के *गौडपाद भाष्य* की तरह इसमें भी अव्यक्त के पर्यायों में ब्रह्म आदि को गिनाया गया है, जो अन्य किसी टीका में नहीं मिलता:— **अव्यक्तं प्रधानं ब्रह्म परं ध्रुवं बहुधानकमक्षरं क्षेत्रं तमः प्रसूतमिति**। यह ऐसा विशिष्ट उद्धरण है कि किसी एक के दूसरे से लिये जाने की सम्भावना प्रतीत होती है। ऐसी स्थिति में *क्रमदीपिका* से चाहे *गौडपाद भाष्य* ने लिया हो और चाहे *क्रमदीपिका* ने *गौडभाष्य* से, *क्रमदीपिका* का प्राचीन होना निश्चित लगता है। प्रकृति को ब्रह्म कहने के अतिरिक्त इसका यह भी एक वैशिष्ट्य है कि इसमें वेदान्त के ढंग पर परम पुरुष से अधिष्ठित अव्यक्त से सृष्टि बताई गई:— **तत्रोत्पत्तिर्नामाव्यक्तात् प्रागुपदिष्टात् सर्वतः पुरुषेण परेणाधिष्ठिता बुद्धिरुत्पद्यते**।(पृ. १२८) इसी प्रकार क्रमदीपिका की **लिङ्गशरीराणीत्यर्थः**। (पृ. १३७) इसमें दो विशिष्ट बातें हैं। एक तो यह है कि कर्मेन्द्रियों की गणना इसमें नहीं की गई है, दूसरी यह कि पञ्च तन्मात्रों के स्थान में वेदान्त की तरह इसमें भी पञ्च प्राणों की गणना की गई है। इस प्रकार *क्रमदीपिका* में सब मिला कर तेरह ही तत्त्वों का समावेश किया गया है। तेरह संख्या में उतनी विशेषता नहीं है जितनी तन्मात्रों के स्थान में प्राणों का समावेश करने में, क्योंकि जहां *सांख्यकारिकाओं* की प्राचीन संस्कृत टीका के *चीनी अनुवाद* में लिङ्ग शरीर में १३ तत्त्व माननेवालों का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिला है। इस प्रकार यह टीका अन्यों से प्राचीन होने के साथ-साथ विशिष्ट भी कही जा सकती है।

सांख्यदर्शन की प्रमाण-प्रमेय मीमांसा

प्रमाण

साङ्ख्य दर्शन की प्रमाण-प्रमेय मीमांसा सांख्यदर्शन अपने आरम्भ प्रमाण से ही प्रमय प्रधान रहा । मानव के व्यक्तित्व में वास्तविक तत्त्व क्या है, उसका सच्चा स्वरूप क्या है, यह जगत् क्या है, इसकी सृष्टि कैसे और किसके द्वारा हुई- इन एवं इन्हीं की तरह के अन्य प्रश्नों के समाधान के प्रयत्न में ही सांख्य दर्शन का जन्म और विकास हुआ । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि इस दर्शन में प्रमेयों की, प्रमा या ज्ञान के विषयों की प्रधानता रही । इन्हीं प्रमेयों के ज्ञान के लिये इस दर्शन का आरम्भ हुआ प्रमेयों की मीमांसा ही इस दर्शन में प्रधान रही तब फिर इसमें प्रमा या ज्ञान के साधन भूत 'प्रमाण' की मीमांसा गौण हो गई इसी कारण से **ईश्वर कृष्ण** को प्रमाण के लक्षण एवं भेद की मीमांसा के अवसर पर इस शङ्का का समाधान अपनी प्रमाण लक्षण कारिका के अन्तिम चरण में *प्रमेय सिद्धि प्रमाणाद्धि* कह कर करना पड़ा । उनके कथन का तात्पर्य यह है कि प्रमेयों का ज्ञान कराने के लिये प्रारम्भ किया गया शास्त्र प्रमाणों की मीमांसा में इस लिये लग गया क्यों कि प्रमेयों की सिद्धि तो प्रमाणों पर ही आधृत होती है ।

प्रमाणों से ही प्रमेयों का ज्ञान हो सकने के कारण प्रधान तथा प्रमेयों की मीमांसा या प्रतिपादन को लेकर चलने वाला यह शास्त्र उनके प्रतिपादन में उपयोगी प्रमाणों को भी संक्षेप से प्रतिपादित कर दे रहा है । इस प्रकार प्रमाण मीमांसा (Epistomology) भी सांख्य दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है । सांख्य दर्शन के दोनों ही महत्त्वपूर्ण मौलिकग्रन्थों —*सांख्य प्रवचनसूत्र* (या साङ्ख्यषडध्यायी सूत्र) तथा *सांख्याकारिका* - में प्रमाणों का विवेचन हुआ है । *सांख्यसूत्र* १-५२ में प्रमा, प्रमा

के साधन प्रमाण तथा उसके प्रमेय तीनों का एक ही साथ कथन इस प्रकार किया गया है- **द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा, तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम्।** (सां. सू. १-५२) इसका संक्षेप में अर्थ इस प्रकार है – दोनों अर्थात् बुद्धि और आत्मा, अथवा दोनों मे एक अर्थात् आत्मा को पूर्व अज्ञात अर्थ का अवधारण होना प्रमा है, और उस का जो प्रकृष्टतम साधन है वह प्रमाण तीन प्रकार का होता है । जिस विषय का ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया, उसका अवधारण या निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो पाया, उसका अवधारण या निश्चयात्मक ज्ञान ही प्रमा कहा जाता है, चाहे यह प्रमा आत्मा और बुद्धि दोनों का हो, अथवा दोनों में एक केवल आत्मा को । उस प्रमा का जो उत्कृष्ट साधन है जिसके अन्तर अर्थात् ठींक बाद ही प्रमा की उत्पत्ति हो जाती है । वह प्रमाण कहलाता है । जो दृष्ट अनुमान तथा आप्रवचन रूप से तीन प्रकार होता है, दृष्ट सांख्यों की अपनी परिभाषित संज्ञा है प्रत्यक्ष प्रमाण की । इसी प्रकार 'अप्रवचन' उनकी अपनी संज्ञा है 'शब्दं की ईश्वर कृष्ण ने भी सांख्य कारिका में ये ही नाम इन प्रमाणों के दिये हैं ।' प्रत्येक प्रमाण में यथाक्रम इन्द्रिय, लिंग ज्ञान या शब्द (पदज्ञान) द्वरा बाह्य विषय बुद्धि में उपस्थित होता है । उस समय बुद्धि विषयाकार हो जाती है । बुद्धि एक अत्यन्त स्वच्छ सात्त्विक (सत्त्वप्रधान) तत्त्व है उसकी स्वच्छता को स्पष्ट करने के लिये स्फटिक मणि का उदाहरण दिया जाता है । पर यह केवल लौकिक दृष्टि से इसके तात्त्विक रूप का संङ्केत मात्र है । वस्तुतः इससे उसकी तुलना नहीं की जा सकती । उसकी रचना इस प्रकार की है कि इन्द्रिय इत्यादि के द्वारा बाह्य विषय का उसपर तत्काल प्रभाव पड़ता है । उसकी इसी स्थिति को उसका विषयकार होना कहा जाता है । प्रकृति का कार्य होने से यद्यपि बुद्धि परिणामिनी है तथापि बाह्य विषय का उस प्रभाव पड़ना और उसका विषयाकार होना उसकी वास्तविक स्थिति में कुछ भी अन्तर नहीं लाता इसी कारण से एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार से अनेक विषयों के लगातार उसके सम्मुख आते रहने पर भी उसकी विषय-ग्राहकता उसी रूप में बराबर ही बनी रहती है । इस प्रकार विषयाकार बुद्धि

आत्मा के लिये उस विषय-विशेष को प्रस्तुत करती है तब आत्मा उसकी प्रमा या ज्ञान से युक्त होकर प्रमाता कहलाता है। बुद्धि द्वारा प्रमाता को प्रस्तुत विषय का बोध उसकी प्रतीति का ही नाम 'प्रमा' है। जब इस पौरुषेय प्रतीति या बौध का नाम प्रमा होता है। तब इसका प्रकृष्टतम साधन बुद्धि 'प्रमाण' कही जाती है। सर्वत्र बुद्धि के प्रमाण होने से इन्द्रिय लिङ्ग तथा पद-ज्ञान के आधार पर उसके प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द नामक भेद समझे जाते हैं। इन्द्रिय आदि के द्वारा बुद्धि का विषयाकार होना 'बुद्धि-वृत्ति' कहा जाता है। यह वृत्ति ज्ञान रूप है। यदि इस बुद्धि वृत्ति को ही 'प्रमा' मान लिया जाये तो बाह्य साधन इन्द्रिय लिङ्ग तथा शब्द को ही 'प्रमाण' कहा जायेगा। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये सूत्र में प्रथम दो पदों-'द्वयोः' तथा 'एकतरस्य' का सन्निवेश किया गया है। चाहे 'बुद्धि-वृत्ति'एवं पौरुषेय बोध इन दोनों को प्रमा मान लिया जाए अथवा दोनों में से बाद वाले एक अर्थात् पौरुषेय बोध को।

इन पदों का एक अन्य अर्थ भी आचार्य ने किया है। प्रत्यक्ष प्रमाण की दृष्टि से 'द्वयोः' पद का सूत्र में सन्निवेश और अनुमान तथा शब्द की दृष्टि से एकतरस्य का प्रत्यक्ष प्रमाण में दो वस्तुओं का अस्तित्व आवश्यक है। इन्द्रिय तथा अर्थ (विषय) का बुद्धि का अस्तित्व प्रत्येक प्रमाण के लिये समान है। प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रिय तथा अर्थ विशेष हैं। प्रत्यक्ष के लिये उनका अस्तित्व आवश्यक है। इस प्रकार इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध द्वारा जो पूर्वतः अनधिगत अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान होता है वह प्रमाण है। इसी प्रकार अनुमान में एक 'लिङ्ग ज्ञान' तथा शब्द में एक 'पद ज्ञान'का होना आवश्यक है। इनके द्वारा अतीत तथा अनागत का भी बोद्ध होता है। जो बोध के समय वर्तमान नहीं है। इसलिये एक के अस्तित्व में जो अधिगत अर्थ का अवधारण होता है, वह भी प्रमाण है। इस प्रकार इन तीनों प्रमाणों का इस सामान्य प्रमाण-लक्षण में समावेश हो जाता है। **प्रमाणं प्रमा** अर्थात् यथार्थ ज्ञान के उत्कृष्टतम साधन का नाम है, यह पूर्व विवेचन स्पष्ट हुआ। **ईश्वर कृष्ण** की प्रमाण-विषयक्र कारिका (स.४) की **वाचस्पतिमिश्र** कृत व्याख्या (तत्वकौमुदी)

के शब्दों में यह उत्कृष्टतम या मुख्य साधन वह चित्तवृत्ति है, जिसका विषयक निश्चित रूप से ज्ञात हो रहा हो, बाधित होने वाला न हो तथा पूर्व से ज्ञात न रहा हो। ऐसी चित्तवृत्ति से उत्पन्न, अतएव एव उसका फलभूत[१] पुरुषवर्ती[२] प्रमा है। इसी के साधन को प्रमाण कहते हैं इस कथन में संशय, भ्रम तथा समृद्धि के साधनों में प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं हो सकती अर्थात् इन सबके साधन प्रमाण नहीं हो सकते।[३] परन्तु *सांख्य तत्त्वकौमुदी* के प्रसिद्ध टीकाकार **राजेश्वर शास्त्री, बालराम, श्रीकृष्ण बल्लभाचार्य** तथा **शिवनारायण शास्त्री** इत्यादि।असन्दिग्धा... प्रमाणमिति, पाठ मानते हैं। इसके अनुसार सांख्य शास्त्र में कोई अर्थ केवल प्रमाण ही होता है जैसे चक्षुरिन्द्रिय इत्यादि। कोई प्रमा और प्रमाण दोनों ही होता है। जैसे चित्तवृत्ति सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण प्रमा भी है तथा पौरुषेय बोध का करण-मुख्य कारण-होने से प्रमाण भी है। कोई केवल प्रमा होता है जैसे पौरुषेय दोष। कोई केवल प्रमाता ही है, जैसे बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य जिसे व्यवहार में 'जीव' कहते हैं। इस प्रकार चित्तवृत्ति तथा उसके द्वारा उत्पन्न पौरुषेय बोध दोनों ही प्रमा हैं इनमें से प्रथम पर्यवसान दूसरे प्रकार की प्रमा में होता है। अतः उसका फल होने के कारण दूसरी ही मुख्य प्रमा है। प्रमा का साधन होने के कारण प्रमा भी द्विविध होगा। एक प्रमाण तो चित्तवृत्ति का मुख्य साधन होने के कारण अर्थ-सन्निकृष्ट चक्षु इत्यादि इन्द्रिय हैं और दूसरा प्रमाण पौरुषेय बोध साधन होने के कारण यह चित्तवृत्ति ही है। नीचे फुटनोट १ में उद्धृत *तत्त्व कौमुदी* की

---

१. पौरुषेयो बोध इत्यनेन न बोधस्य पुरुषनिष्ठत्वमाख्यायते येन प्रमातृत्वादिधर्मेण पुरुषस्य परिणामित्वं स्यादपितु बुद्धो प्रतिविम्बितत्वेन तत्तादात्म्यापत्त्या पुरुषस्य ज्ञानादिमत्वोपचारात् पोरुषेय इत्यभिधीयते, एवं च चित्तिचित्तयोरभेदग्रहात् पुरुष उपचर्यमाणोऽपि वस्तुतो बुद्धिवृत्त्यामक एव बोधो,न पुरुषधर्म इति विद्वत्तोषिणीकाराः।

२. नैयायिकानामनुव्यवसायो, घटज्ञाने 'घटमहंजानामि' इति पुरुषमतः। -डा. झा

३. द्रष्टव्य का. ४ पर सांख्य तत्त्वकौमुदी :- तच्च असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः। बोधश्च पौरुषेयः, फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति। एतेन संशयाविपर्ययस्मृतिसाधनेष्वप्रसङ्गः।

राजेश्वरशास्त्री-कृत *टिप्पणी* **राजनारायण** शास्त्री-कृत *सारबोधिनी*, **बालरामकृत** *विद्वत्तोषिणी*[१] तथा **श्रीकृष्णबल्लभाचार्य**-कृत *किरणावली*[२] में प्रस्तुत व्याख्या में इसी अभिप्राय (विचित्र प्रमा) को दृष्टि में रखकर की गई है। परन्तु यह इसलिये वही जान पड़ता क्योंकि कारिका के व्याख्यान में स्वयं **मिश्र** भी एक ही प्रमाण (चित्तवृत्ति रूप) तथा एक ही प्रमा मानते हुए प्रतीत होता है फिर इन्द्रियों को प्रमा मानने पर न्याय से सांख्य का क्या भेद रह जायेगा? सांख्य तो प्रत्यक्ष प्रमा में इन्द्रियों की उतनी ही आवश्यकता मानता है जितनी जलाशयस्य जल के खेत में पहुंचने में प्रणालिका (नालि) की होती है। तब फिर इन्द्रियाँ प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमा का करण या मुख्य साधन कैसे हो सकते हैं? स्वयं **उदासीन** जी के द्वारा कारिका के अन्तर्गत किया गया विषयोपन्यास[३] उपर्युक्त के साथ विरोध उपस्थिति करता है।

ओ. बु. एजेन्सी पूना से **डा. गङ्गानाथ झा** के अनुवाद के साहित्य प्रकाशित संस्करण में **तच्च असंदिग्ध.....** ही पाठ है और इसी के अनुसार **डा. झा** का अनुवाद भी है। **सांख्यतत्त्वदिवाकर** में **प. वंशीधर** ने भी यही पाठ रखा है। इस पाठ के

---

१. एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति– तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याः चित्तवृत्तेर्यस्साधनं सन्निकर्षरूपव्यपारवच्चक्षुरादि, यच्च पौरुषेयबोधकरणं चित्तवृत्तिरूपं तदुभयमपि प्रमाणमित्यर्थः।– विद्वत्तोषिणीकाराः।

२. इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यायाः एतादृशचित्तवृत्तेः प्रमात्वे इन्द्रियाणि प्रत्यक्षं प्रमाणमिति बोध्यम्। एवम् इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यां चित्तवृत्त्यात्मिकां अमुख्यां पुरुषवर्ती बोधः-बुद्धिधर्मोपि बोधः स्वाश्रयप्रतिबिम्बितत्वसम्बन्धेन पुरुषे उपचर्यभावः– सा मुख्या प्रमेत्ययः। एतादृशबोधस्य प्रमात्वे चित्तवृत्तिः प्रमाणमिति बोध्यम्। एवं प्रमां लक्षयित्वा प्रमाणं लक्षयति– तत्साधनं प्रमाणमिति। तस्याश्चित्तवृत्तेः यत् साधनं पदार्थेन सह सन्निकृष्टं चक्षरादि, एवं तस्य पौरुषेयबोधस्य यत् साधनं चित्तवृत्तिः, तदुभयमपि प्रमाणम् —किरणाबली

३. इन्द्रियसन्निकर्षादिना जायसानोऽयं घट इत्यादिबौद्धो बोधः प्रमाणम् तदनुरूपं जायमानो घटमहं जानामीत्यादिपोरुषेयो बोधश्च प्रमेति भावः। – का. ५ पर विद्वत्तोषिणी।

अनुसार 'तत्' के द्वारा पूर्व प्रयुक्त 'प्रमाण' का परामर्श होता है, जैसा कि **वंशीधर** में 'तच्च'के प्रमाणं च अर्थ से स्पष्ट है ।

यह कहने की आवश्यकता न होगी कि इस पाठ के अनुसार एक ही प्रमाण तथा एक ही प्रमा सांख्य को इष्ट ज्ञात होती है । यद्यपि **द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः** इत्यादि सांख्य सूत्र से प्रमा और उसके साधन द्विविध ज्ञात होते हैं, तथापि पाँचवीं कारिका तथा उसके **वाचस्पतिमिश्र**-कृत व्याख्यान से तो चित्तवृत्ति एक मात्र प्रमाण तथा पुरुषगत बोध ही एकमात्र प्रमा ज्ञात होती है । मूल के चित्त वृत्ति पर टीका करते **वंशीधर** ने लिखा है —**सिद्धान्ते चक्षुरादेःकरणत्वाभावादाह-चित्तवृत्तिरिति । तत्साधनं प्रमाणम् इत्यत्रान्नेति** ॥१ ॥

राजेश्वरशास्त्री द्राविड ने अपनी टिप्पणी में इस विषय पर व्याख्यान प्रस्तुत करते समय इस प्रकार लिखा है—**चैतन्यप्रतिबिम्बिविशिष्टबुद्धिवृत्तिः वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं वा फलपदार्थः, स एव मुख्यप्रमाशब्दवाच्यः । एतादृशप्रमाकरणत्वेन बुद्धिवृत्तेः प्रमाणत्वं व्यपदिश्यते, तत्करणत्वेन च इन्द्रियादीन्यपि प्रमाणशब्दवाच्यानि भवन्ति । तथा च एतन्मते प्रमा प्रमाणं च द्विविधम् । अतः 'अयं घटः' इत्याद्याकारिका अन्तःकरणावृत्तिः प्रमाणम् 'घटमहं जानामी' त्याद्यनुव्यवसायः पुरुषे बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बरूपः पोरुषेयो बोधः इति यत् केषाञ्चिद् व्याख्यानं तन्निरस्तम्** । उनका यह कथन कितना अर्थवान् है, यह पूर्व किये गये प्रतिपादन से ही स्पष्ट है ।

अब जहां तक प्रत्यक्ष इत्यादि विशिष्ट प्रमाणों के लक्षण का प्रश्न है, उसका समाधान **सांख्यकारिकाकार** ने अपने ग्रन्थ की पांचवी कारिका[१] में किया है । **वाचस्पति मिश्र** के अनुसार प्रत्यक्ष के लक्षण में आये हुए प्रतिविषय पद का अर्थ है — विषय से सम्बद्ध इन्द्रिय । 'प्रतिविषयाध्यवसाय' का अर्थ है— विषय से संयुक्त इन्द्रिय पर आश्रित निश्चयात्मक ज्ञान । 'अध्यवसाय' ज्ञान को कहते हैं जो

१. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥

बुद्धि[1] का व्यापार या परिणाम है। यह इन्द्रियों का व्यापार नहीं, यद्यपि इन्द्रियों के व्यापार से बुद्धि का व्यापार सम्भव है। वस्तुतः सन्निहित विषय वाली इन्द्रियों का (उन विषयों के साथ) सन्निकर्ष होने पर बुद्धिगत तमोगुण के अभिभूत या न्यून होने के साथ साथ तत्त्व गुण जो प्रबलता अधिक होती है। उसी अध्यवसाय, वृत्ति या ज्ञान कहते हैं। यही वह (प्रत्यक्ष) प्रमाण है। इसी (विषयाकार रूप में परिणत) प्रमाणभूत बुद्धितत्त्व के द्वारा स्व-प्रतिबिम्बित चेतन पुरुष पर होने वाला स्व-गृहीत विषयों का समर्पण रूप[2] अनुग्रह प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है। यही प्रमा या (पुरुषगत) ज्ञान ही कहलाता है।[3]

न्याय में प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमा विविध होती है। इन्द्रियाँ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा निर्विकल्पक प्रमा ये त्रिविध प्रमाण हैं तथा निर्विकल्पक प्रमा सवि कल्पक प्रमा एवं हानोपादान बुद्धि ये तीन प्रमा हैं सांख्य के अनुसार सभी प्रमाण केवल बोध रूप या ज्ञान रूप हैं। और यह ज्ञान-विषया का परिणाम के स्वरूप का होने के कारण एक मात्र बुद्धि का ही धर्म है। इन्द्रिय इत्यादि का नहीं। विशेषता इतनी ही होती है कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा बुद्धिगत तमोगुण का अभिभव होने के साथ ही सत्त्व-प्राबल्य होने पर बुद्धि का विषयाकार परिणाम 'प्रत्यक्ष' व्याप्ति-ज्ञान से उत्पन्न हुआ बुद्धि का (ततोऽयं पर्वतो वह्निमान् —एतादृश) विषयाकार परिणाम 'अनुमान' तथा वाक्य से उत्पन्न हुआ बुद्धि का विषयाकार परिणाम

---

१. अध्यवसायपदाभिधेयं ज्ञानं च बुद्धेरेव व्यापारो, नेन्द्रियधर्म इत्यार्थः— विद्वतो.

२. अन्तःकरणस्यायं स्वभावो यदिन्द्रियैरुपमीतान्विषयान् स्वस्वामिने आत्मने समर्पयति, यथाहुः—
गृहीतानिन्द्रियैरर्थानात्मने यः प्रयच्छति।
अन्तःकरणरूपाय तस्मै विश्वात्मने नमः॥
(वि.पु. अंश १ अ.१४ श्लोक ३५) इति विद्वत्तोषिणीकाराः।

३. उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते। इदं तत्प्रमाणम्। अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं प्रमा बोधः।

'आगम' प्रमाण कहलाता है। प्रत्यक्ष में आया हुआ इन्द्रिय सन्निकर्ष न्याय का संयोग इत्यादि सन्निकर्ष नहीं अपितु इन्द्रियों की सहकारिता-मात्र है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि बुद्धि के विषयाकार रूप में परिचित होने में इन्द्रियों का ही साहाय्य-विशेष आवश्यक होता है।वही सन्निकर्ष है। यह सहायता उतनी और वैसा ही है जितनी और जैसी अनेक छिद्रों से युक्त घट में स्थित दीप के प्रकाश को बाहर निकलकर फैलने तथा उपस्थित पदार्थों को प्रकाशित करने में छिद्रों द्वारा प्राप्त होती है।[१] अथवा जलाशयस्य सलिल को खेत तक पहुंचने में जो सहायता प्रणाली से प्राप्त है। जैसे घटस्थ दीप का प्रकाश छिद्रजन्य न होने के कारण उसका कार्य या धर्म होता है उसी प्रकार तमोमुख से आवृत बुद्धि द्वारा विषय का प्रकाश छिद्रस्थानीय इन्द्रियों का न होने के कारण उसका धर्म नहीं अपितु बुद्धि का ही धर्म है। परन्तु जैसे छिद्रों के अभाव में दीप का प्रकाश बाहर निकल कर वस्तु का प्रकाशन नहीं कर सकता, तदर्थ छिद्र की सहायता आवश्यक है उसी प्रकार इन्द्रियां के अभाव में समस्त अर्थों को ग्रहण करने में समर्थ भी बुद्धि तमोगुण से प्रतिबद्ध होने के कारण बाहर निकलकर तथा विषय तक पहुंचकर उसका प्रकाशन नहीं कर सकती उसमें इन्द्रियां आवश्यक हैं। इन्हीं इन्द्रियों की सहायता से बुद्धि को आवृत करने वाला घटस्थानीय तमोगुण अति न्यून हो जाता है। और फिर बुद्धि उस तमोगुण से मानो बाहर निकल कर वस्तु तक प्राप्त होकर एवं तदाकार-रूप में परिणित होकर उसे प्रकाशित कर देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय की तरह सांख्य में ज्ञानोत्पत्ति में इन्द्रियों का प्रधान या सक्रिय नहीं अपितु गौण ही योग रहता है, प्रधान भाग तो बुद्धि का होता है।[२] अत: वह बोध में से प्रत्यक्ष प्रमाण कहा

---

१. न चैतादृशेन्द्रियेण अध्यवसायः इत्यर्थकप्रतिविषयेणाध्ववसाय इति तृतीयासमासः कुतो नाश्रितः इति वाच्यम् एतन्मते नानाछिद्रघटान्तरवर्तिप्रदीपप्रकाशस्य छिद्रजन्यत्वाभाववत् बुद्धिवृत्तिरूपाध्यवसायस्य इन्द्रियजन्यत्वाभावेन तादृशसमासासम्भावात्। – सुषमाकाराः

२. द्रष्टव्य सा. का.

गया, बुद्धि का धर्म है, इन्द्रियों का नहीं यही बात अनुमान प्रमाण कहे जाने वाले वाक्य-जन्य ज्ञान के विषय में भी सत्य है ।[१]

नारायण तीर्थ ने अपनी *सांख्यचन्द्रिका* में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' इस समस्त पद का अर्थ 'इन्द्रिय' किया है:- **प्रतिविषयो नियतविषयोऽध्यवसीयते निश्चीयतेऽनेनेति प्रतिविषयाध्यवसाय इन्द्रियम् चक्षुरादीनां रूपादिविषयकत्वनियमान्नित्यविषयकत्वम्**। गौडपाद ने इस पद का अर्थ इस प्रकार से किया है—**प्रतिविषयेषु श्रोत्रादीनां शब्दादिविषयेषु अध्यावसायो दृष्टम् प्रत्यक्षमित्यर्थः ।**

पूर्वोक्त त्रिविध प्रमाणों से प्रमेयों की जो प्रमा या जो ज्ञान होता है उसकी प्रमाणिकता तथा अप्रमाणिकता भी उसी ज्ञान में निहित रहती है । कारण के गुण या दोष से उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है जैसे कारण-व्यापार से मृत्तिका-स्थित घट का आविर्भाव ऐसा मानने का कारण यह है कि सांख्य सत्कार्यवादी होने के कारण शश-शृङ्ग इत्यादि जैसे वस्तुतः असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं मानता । अतः ज्ञान के अनन्तर उदित होने वाले उसके प्रमाण्य या अप्रमाण्य को वह उसमें निसर्गतः निहित नहीं मानेगा तो उसकी दृष्टि में इनका उदय कभी होगा ही नहीं । इसीलिये **प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या समाश्रिता** अर्थात् ज्ञान की प्रमाण्य और अप्रमाण्य स्वत ही होते हैं । ऐसा सांख्य मानता है । इसके विपरीत न्याय परतः प्रमाण्य मानता है ।

प्रमेय

प्रमाणों का विवेचन तो संक्षेपतः कर दिया गया । अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि प्रमेयों की सिद्धि उनका ज्ञान प्रमाणों से ही होता है । ऐसी स्थिति में प्रमेयों के विवेचन के पूर्व तदर्थ उपादेय प्रमाणों का विवेचन कर देना आवश्यक है । कि अब उनका विवेचन हो चुकने पर प्रमेयों का विवेचन प्रसंग प्राप्त

---

१. सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वेविषयम ाहते यस्मात् ।
तृष्णात् त्रिविधं द्वारि द्वारिणि शेषाणि ॥

है । उसमें भी सर्व प्रथम इस जानकारी का होना आवश्यक है कि किस प्रमाण किस प्रमेय का ज्ञान होता है क्योंकि तदनन्तर यह बताया जा सकता है कि वह ज्ञान उस प्रमाण से कैसे प्राप्त होता है । अत: पहले इसी की चर्चा कर लेना ठीक होगा । इसके सम्बन्ध **ईश्वर कृष्ण** की छठी सांख्यकारिका प्रकाश डाला गया है ।[१] इसकी व्याख्या करते हुए **वाचस्पति मिश्र** ने *तत्त्वकौमुदी* में यह बात स्पष्ट कही है चूंकि पृथ्वी इत्यादि 'व्यक्त' को धूली-धूसरित हलवाहा भी प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात रूप में जानता है । और धूमादी के दर्शन से व्यवहित अतएव अदृश्य अग्नि इत्यादि को भी सामान्य लोग पूर्ववत् अनुमान से सहज ही जान लेते हैं । इस कारण से इस प्रकार प्रमेयों का ज्ञान करानें के लिये प्रवृत्ति होने वाले शास्त्र का कुछ बहुत प्रयोजन या महत्व नहीं होगा । अत: अव्यक्त-प्रकृति, महत् अहङ्कार तन्मात्र आदि एवं चेतन (ज्ञ) पुरुष जैसे दुर्बोध प्रमेयों का ही ज्ञान इसका प्रयोजन होना चाहिए । इसी से कारिकाकार का कथन है कि सामान्यतो दृष्ट अनुमान से ही प्रधान, पुरुष इत्यादि सूक्ष्म[२] अतश्च दुर्बोध प्रमेयों का ज्ञान होता है कुछ अन्य सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान शेषवत् अनुमान से होता है जिसके समुच्चय के लिये कारिका में 'न' पद का प्रयोग हुआ है । दोनों से भी जिन स्वर्ग, अपूर्व, देवताओं तथा महत अहङ्कार इत्यादि प्रमेयों के सृष्टिक्रम इत्यादि का ज्ञान नहीं हो पाता उनका ज्ञान आगम अर्थात् शब्द प्रमाण से होता है ।

वाचस्पति मिश्र की इस व्याख्या का ही अनुसरण प्राय: अन्य सभी कारिका व्याख्याकारों ने किया है । केवल *साङ्ख्यचन्द्रिका* व्याख्या के कर्ता **नारायणतीर्थ** 'सामान्यत:' पद का सामानस्य अर्थ करते कहा है कि सर्व-सामान्य पदार्थों का ज्ञान 'दृष्ट अर्थात प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रकृति तथा पुरुष जैसे अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से तथा अतिन्द्रिय कैवल्य का ज्ञान आगम प्रमाण से होता है । **तीर्थ**

---

१. सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥ का. ६ ॥

२. महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः ॥ काठ. १ इति

जी कैवल्य जैसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं सांख्य दर्शन के अन्तिम लक्ष्य को लक्षित करके बड़ा ही प्रसंशनीय कार्य किया। हो सकता है 'आदौ' पद के प्रयोग द्वारा **वाचस्पति मिश्र** ने 'कैवल्य' का भी ग्रहण-आगमग्म्य पदार्थों की तालिका में कर लिया हो। परन्तु एतन्मात्र पर्याप्त नहीं था, उन्हें नाम्ना उसको अभिधान करना चाहिए था।

इतनी अवतरणिका के अनन्तर अब प्रमेयों का विवेचन प्रसंग प्राप्त है। पूर्वोक्त प्रमाणों से जिन पदार्थों या प्रमेयों का ज्ञान होता है। वे मुख्य रूप से दो ही हैं। एक तो जड़ या अचेतन प्रकृति और दूसरा चेतन पुरुष। सारा जड़ जगत इसी जड़ प्रकृति का परिणाम-सत्कार्य है। इस प्रकृति सर्वप्रथम परिणाम महत या बुद्धि है उसका परिणाम अहङ्कार इसके द्विविध परिणाम पंच तन्मात्र तथा ग्यारह इन्द्रियां तथा पंच तन्मात्रों के भी परिणाम आकाश, वायु इत्यादि पंच महाभूत। स्पष्ट है कि महत, अहङ्कार तथा पंच तन्मात्र –ये सात तत्त्व स्वयं दूसरों से उत्पन्न होते हैं। तथा अन्य तत्त्वों को उत्पन्न भी करते हैं। किन्तु प्रकृति उत्पन्न ही करती है, स्वयं उत्पन्न नहीं होती, एवं ग्यारह इन्द्रियां तथा पांच महाभूत–ये १६ तत्त्व उत्पन्न ही होते हैं, अन्य तत्त्वों को उत्पन्न नहीं करते। हैं, आकाश, वायु इत्यादि महाभूतों से चराचरात्मक जगत् अवश्य उत्पन्न होता है। पर सांख्य के मत से वह आकाश इत्यादि से भिन्न तत्त्व नहीं है। इस प्रकार 'प्रकृति' केवल प्रकृति या कारण है, इन्द्रियों तथा महाभूतों का १६ का गण केवल विकृति या कार्य है। तथा बीच के महत् इत्यादि प्रकृति तथा विकृति दोनों ही हैं। इस प्रकार 'प्रकृति' से उसके २३ अवान्तर तत्त्वों का विकास होने पर परिणामी तत्त्व २४ हो जाते हैं। 'पुरुष' जो सांख्य शास्त्र का दूसरा प्रधान तत्त्व है, अपरिणामी अर्थात् ना प्रकृति ना विकृति और न दोनों ही हैं। इसीलिये उससे कोई अवान्तर तत्त्व विकसित या उत्पन्न नहीं होता जिससे प्रधान एवं गौण तत्त्वों की संख्या २५ (प्रकृति उसके २३ परिणामभूत अवान्तर या गोण तत्त्व, तथा पुरुष) से आगे नहीं जाती।

सांख्य शास्त्र की उपर्युक्त तत्त्व गणना के विषय में दो प्रश्न स्वभावत: उठते हैं एक तो यह कि सांख्यकारण-परम्परा का अंत प्रकृति में ही क्यों मानता है?

प्रकृति की पूर्व महत् इत्यादि अथवा प्रकृति परे किसी अन्य तत्त्व के कारण-परंपरा का अन्त मानने में क्या हानि है ? दूसरा प्रश्न यह है कि जैसे पांच तन्मात्रों से उत्पन्न होने वाले पांच भूतों का सांख्य शास्त्र तत्त्व मानता है उसी प्रकार पांच भूतों से उत्पन्न वाले गो, वृक्ष इत्यादि, उनसे भी उत्पन्न दुग्ध, बीज इत्यादि तथा उनसे भी उत्पन्न होने वाले बुद्धि, अंकुर इत्यादि को भी सांख्य-शास्त्र क्यों नहीं तत्त्व मानता ? प्रथम प्रश्न का उत्तर यह है कि महत्त्व इत्यादि तत्त्व सबके मूल कारण इसलिये नहीं हैं क्योंकि वे परिमित, परिच्छिन्न या अव्यापी हैं ।[१] जो अव्यापी होता वह कार्य होता है । और जो व्यापक होता वह कारण होता है जैसे घट मिट्टी की अपेक्षा अव्यापी या परिमिति होता है, पर मिट्टी घट की अपेक्षा व्यापक होती है । जब महत्व इत्यादि की इस प्रकार 'कार्यता' सिद्ध है, तब उनका कारण उनकी अपेक्षा कोई अव्यक्त सूक्ष्म ऐसी वस्तु होगी जो उन्हीं गुणों या धर्मों से युक्त हो जिनसे महत् से लेकर पांचभौतिक जगत् तक सभी वस्तुयें युक्त दिखाई पड़तीं है । ये धर्म सुख, दु:ख और मोह है, जो क्रमश: सत्त्व, रजस तथा तमस् के परिणाम का स्वभाव है । अत: यह कारण कोई अपरिमित या अपरिच्छिन्न क्योंकि प्रकृति से परतर अव्यक्त में भी पूर्व की ही भॉति अनुमान प्रमाण माना जा सकता है, अत: प्रमाणाभाव-कथन निरर्थक है, तो ऐसा कहना उचित नहीं; क्योकि अनुमान प्रमाण मानने में दोष यह होगा कि जहॉ महत् इत्यादि कार्य स्पष्ट ही अव्यापी या परिचछिन्न है, वहॉ अव्यक्त (प्रकृति) अव्यापी या परिछिन्न नहीं है ? इसके अतिरिक्त परमाव्यक्त प्रकृति से भी परतर अव्यक्त की मूल कारण के रूप में कल्पना करनें में अव्यवस्था होगी, जो प्रस्तुत स्थल में प्रमाणिक न होने से दोषावह होगी ।[२] यद्यपि बीज और अंकुर के

---

१. द्रष्टव्य का. १५ की सांख्यतत्त्वकौमुदी: शक्तितः प्रवृत्तिः कारणकार्यविभागो च महतः परमाव्यक्तत्वं, कृतं ततः परमाव्यक्तेत्यत आह– 'परिमाणात्' इति । परिमितत्वात् अव्यापित्वादिति यावत् । . . . . . . महदादिभेदा अव्यक्तकारणवन्तः, परिमितत्वात् घटादिवत् । घटाद्यो हि परिमिता मृदाद्यव्यक्तकारणका दृष्टाः ।

२. द्रष्टव्य सॉख्यकारिका ३ की तत्त्वकौमुदी:-मूलं, चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृतिः। विश्वस्य कार्यसंघातस्य सा मूलं, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति अनवस्थाप्रसङ्गात् । न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भावः ।

पारस्परिक कारणकार्य-भाव के सम्बन्ध में अनवस्था ही दिखाई पड़ती है क्योंकि बीज और अंकुर दोनों ही एक-दूसरे के कारण और कार्य है; निश्चित रूप से इनमें से एक कारण और दूसरा उसका कार्य हो, ऐसा नहीं है क्योंकि इसका बाध (निषेध) करके व्यवस्था को प्रतिष्ठित करने वाला कोई प्रमाण नहीं मिलता। अर्थात प्रकृति-सिद्ध होने के कारण अनवस्था ही यहाँ वास्तविकता है, वस्तु-स्थिति है, व्यवस्था नहीं। परन्तु उपर्युक्त स्थल में प्रकृति का कारण, फिर उस कारण का भी कारण और इसी प्रकार आगे भी कारण मानते जाने पर जो अनवस्था होगी, वह प्रामाणिक नहीं है; क्योंकि **अजामेकाम्** इत्यादि श्रुति तथा **प्रकृति पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि** इत्यादि स्मृति प्रकृति को अज और अनादि बताकर कारण-परम्परा का उसी में अन्त मानती है। इसलिए उक्त स्थल में वस्तु-स्थिति के भिन्न होने के कारण अनवस्था की कल्पना दोष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति से परतर अव्यक्त की कल्पना प्रमाणिक नहीं है। अब जहाँ तक पृथ्वी इत्यादि कारणों के गो, घट इत्यादि कार्य उसी प्रकार अथवा तथा इन्द्रिय गोचर है, पृथिवी।[१]

प्रकृति के तीन गुण

पूर्वोक्त तेईस अवान्तर तत्त्वो के रूप में परिणत होने वाली साँख्य की यह प्रकृति 'अजा' अर्थात अनादि और 'अनन्त' अर्थात अविनाशिनी है। इसमें सत्त्व, रजस् तथा तमस् तीन गुण है, इसीलिए यह 'त्रिगुण'[२] कहलाती है। इन सत्त्व, इत्यादि तीनों की 'गुण' संज्ञा इनके 'परार्थ'[३] अर्थात् पुरुष के भोगापवर्ग के लिये हीन के कारण हैं। जिसकी स्थिति दूसरे के लिये होती है अपने लिये नहीं, उस दूसरे की अपेक्षा अप्रधान-भाव-गुणभाव-होता है। इसी से सत्त्व इत्यादि 'गुण' कहे जाते हैं।

---

१. द्रष्टव्य वही:- सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरतवन् ॥

२. द्रष्टव्य सां.का. ११ :– त्रिगुणमविवेकि विषय_॥

३. (i) द्रष्टव्य सा.क १२ की तत्त्व कौमुदी:– 'गुणाः' इति परार्थाः।
(ii) सा.का. १७ : संघातपरार्थत्वात्_॥

ये तीनों गुण प्रकृति के धर्म या स्वभाव नहीं, इसके स्वरूप ही हैं अर्थात् प्रकृति या अव्यक्त सत्त्व, रजस् तथा तमस गुणों का आधार नहीं अपितु तद्रूप या तदात्मक जैसा कि **सत्ववादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्** (सा. नू. ६ ३ १) इत्यादि सांख्य-सूत्र तथा **एते गुणा प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति** (यो. सू. २११८) का *व्यास-भाष्य* इत्यादि *योग भाष्य* की पंक्ति से स्पष्ट है । इस प्रकार प्रकृति के त्रिगुणात्मक होने पर भी 'प्रकृति के गुण' ऐसा भेद व्यवहार कदाचित् भेद-विवक्षा से होता है । इन गुणों के धर्म क्रमशः सुख, दुख तथा मोह या अज्ञान अवश्य हैं जिससे ये गुण तथा इनके ये धर्म या स्वभाव भी महत् तन्मात्र इत्यादि प्रकृति के कार्य में भी आ जाते हैं, क्योंकि यह नियम कारण के गुणों या धर्मो से ही कार्य में गुण या धर्म आते हैं । इस प्रकार उनसे उत्पन्न सारा जगत् ही त्रिगुणात्मक तथा सुख दुःख मोह, स्वरूप है ।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट ही है वह यह सांख्य के तीनों गुण न्याय के २४ गुणों की भांति द्रव्याश्रित धर्म रूप नहीं अपितु द्रवरूप ही है, एवं उनमें रहने वाले धर्म क्रमशः सुख, दुःख तथा मोह हैं । प्रकृति के ये तीनों ही गुण नित्य-परिणामी हैं अर्थात् प्रकृति कभी परिणाम से वियुक्त नही होते, यहां तक कि प्रलय काल में भी परिणाम होता रहता है ।[१] हां, इतना अवश्य है कि प्रलय काल में सदृश्य परिणाम होता है और सृष्टि काल में विसदृश या विषम । दूसरे शब्दों में इसी बात को इस प्रकार से कह सकते हैं जहां प्रलय-काल में प्रकृति स्वरूपतः परिणत होती है, उसके स्वरूप-भूत तीनों गुणों का साम्य नष्ट नहीं होता जिससे विभिन्न कार्यों का सृष्टि हो सके, वहां सर्व-काल में गुणों में लोभ उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप उनके साम्य या संतुलन के नष्ट होने तथा विभिन्न अंशों के परस्पर संहत होने पर महत्

---

१. द्रष्टव्य सांख्यकारिका ११ के प्रसवधर्मित्व पद की तत्त्वकौमुदी:– प्रसवरूपो धर्मो यः सोऽस्यास्तीति प्रसवधर्मि। प्रसवधर्मेति वक्तव्ये मत्वर्थीयः प्रसवधर्मस्य नित्ययोगमाख्यातम् । सरूपविरूपपरिणामाभ्यां न कदाचिदपि वियुज्यत इत्यर्थः । (ii) द्रष्टव्य सा. का. १६ के प्रवर्तते त्रिगुणतः पदों की तत्त्वकौमुदी:– प्रतिसमविस्थांयां सत्वं रजस्तमश्च सदृशपरिणामानि भवन्ति। परिणामस्वभावा हि गुणा नापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते । तस्मात् सत्त्वं सत्त्वरूपतया रजो रजोरूपतया तमस्तमोरूपतया प्रतिसर्गावस्थायामपि प्रवर्तते ।

अहंकार, तन्मात्र, इन्द्रियां महाभूत और यह सारा त्रिगुणात्मक जगत्– सभी क्रमशः उत्पन्न होते हैं । सांख्य -कारिका १६ में **ईश्वरकृष्ण** में इस द्विविध परिणाम का स्पष्ट कथन किया है ।[१] मूल के त्रिगुणत पद से प्रथम तथा समुदायाच्च से द्वितीय प्रकार का परिणाम कहा गया है ।

यहां एक स्वाभाविक प्रश्न इन परिणामों के सम्बन्ध में यह उठता है कि जो गुण प्रलय काल में सदृश या एक-विध परिणाम उत्पन्न करते हैं, वे ही सृष्टिकाल में विषम या विविध प्रपंच जैसे उत्पन्न करने लगते हैं ? इसका उत्तर भी पूर्वोद्धृत १६वीं कारिका की द्वितीय (परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ।) में कारिकाकार ने दिया है, जिसका व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए **वाचस्पति मिश्र** ने **तत्त्वकौमुदी** में लिखा है कि 'जैसे मेघ का जल एक रस (एक साथ) होने पर भी पृथ्वी पर नाना विकारों को प्राप्त करके नारियल, ताड़, करेले, वेल, चिरविल्व, तिन्दुक (इमली) आंवला, प्राचीनामलक, कैथ इत्यादि का रस बन जाने पर मीठे खट्टे, नमकीन, तिक्त, कषैले, तथा कड़वे आदि अनेक प्रकारों का हो जाता है, उसी प्रकार (प्रत्येक काल में) एक ही गुण का आविर्भाव होने से प्राधान्य-प्राप्त उस गुण का आश्रय लेकर अप्रधान को अनेक परिणाम उत्पन्न करते हैं ।[२] ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है कि जैसे एक ही जल अनेक भूविकारों को प्राप्त करके अनेक प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक गुण प्रलयकाल में एक विध होने पर भी सृष्टि-काल में अङ्गाङ्गिभाव को प्राप्त होने से विविध परिणाम उत्पन्न करता है । पर इससे एक बात स्पष्ट नहीं होती वह यह कि जन के विविध परिणाम में तो भू-विकार कारण है जो पूर्वतः स्वतः सिद्ध है, पर गुणों के विविध परिणाम में कारण वनने वाला

---

१. सा. का. १६ : प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।

२. यथा हि वारिदविमुक्तमुदकमेकरसमपि तत्तभूविकारानासाद्य नारिकेलताततालीविल्वचिरविल्वतिन्दुकामलकप्राचीनामलककपित्थफलरसतया परिणमन्मधुराम्ललवणतिक्तकषायकटुतया विकल्पते, एवमैकैकगुणसमुद्भवात् प्रधानं गुणमाश्रित्य अप्रधानगुणाः परिणामभेदान् प्रवर्तयन्ति ।– का. १६ की तत्त्वकौमुदी ।

उनका अङ्गाङ्गिभाव या गुण-प्रधान भाव तो पूर्वतः सिद्ध नहीं हैं क्योंकि सृष्टि के पूर्व अर्थात् प्रलय-काल में वे एक-विध थे, कोई गुण और कोई प्रधान इस रूप में नहीं थे फिर यह गुण प्रधान किस निमित्त से आया ? इसका उत्तर तेरहवीं कारिका के **प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः** शब्दों से प्राप्त होता है । ३१वीं कारिका के **पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचिन् कार्यते करणम्** में भी यही बात कही गयी है । पुरुष के पूर्व-कृत कर्मों के भागोन्मुख होने पर उनके भोग एवं भोगान्तर तत्त्व ज्ञान द्वारा अपवर्ग—इन प्रयोजनों की सिद्धि के लिये गुणों में क्षोभ उत्पन्न है, जिससे न्यूनाधिक का गौण प्रधानभाव उत्पन्न होता है और उससे विविध परिणामों की सृष्टि होने लगती है ।

पूर्वोक्त तीनों गुणों के प्रयोजन क्रमशः प्रकाशन,संचालन तथा नियंत्रण हैं और इन प्रयोजनों की सिद्धि इन गुणों के पारस्परिक अभिभव, आश्रय एवं जनन द्वारा होती है ।[१] पारस्परिक अभिभव का अर्थ यह है कि प्रयोजन विशेष से प्रकट हुए किसी एक के द्वारा दूसरे अभिभूत हो जाते हैं । जैसे सत्त्व रजस् और तमस् को अभिभूत करके ही अपनी शांत वृत्ति को प्राप्त करता है (अर्थात् सुख इत्यादि रूप से परिणत होता है ।) । इसी प्रकार रजस् सत्त्व और तमस् को अभिभूत करके अपनी ओर दुःख की वृत्ति को, एवं तमस् सत्त्व और रजस् को अभिभूत करके अपनी मोह या विषाद की वृत्ति को प्राप्त करता है । इस प्रकार गुणों की सुखादि रूप से परिणति ही इनके अन्तिम प्रयोजन या कार्य हैं, विषय-प्रकाशन इत्यादि इन अन्तिम प्रयोजनों की सिद्धि में अपेक्षित होने से गोण प्रयोजन या द्वार भूत कार्य है, अभिभव इत्यादि इस सिद्धि माध्यम या प्रकार हैं । इसमें प्रयोजक निर्मिति जीव के पूर्व-कृत धर्म, अधर्म इत्यादि हैं । जैसे धर्म रूप प्रारब्ध का भोग उपस्थित होने पर सत्त्व प्रबल होकर अन्य दोनों को अभिभूत विषय को प्रकाशित करता हुआ सुख से परिणत होगा ।

---

१. द्रष्टव्य सा. का. १२ : –प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः अन्योन्याभिववाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥

'आश्रय' शब्द का प्रयोग कारिका से 'आधार' रूप मुख्य अर्थ में नहीं अपितु परस्पर सहकारित्व रूप को गोण अर्थ में हुआ है ।[१] यहां जिसकी क्रिया जिस पर अवलम्बित या निर्भर होती है अर्थात् जो जिसका सहकारी होता है । वह उसका आश्रय कहा गया है । जैसे सत्त्व गुण रजस् तमस् के क्रमश: प्रवर्तन और नियंत्रण कार्य के आश्रय या सहाय्य से होने वाले अपने 'प्रकाशन' कार्य द्वारा उन दोनों की सहायता करता है (अन्यथा रजस् और तमस् के अभाव में सत्त्वं अपने 'प्रकाशन' कार्य में प्रवृत्त ही नहीं होगा ।) इसी प्रकार रजस् गुण सत्त्व और तमस् के क्रमश: प्रकाशन और नियंत्रण कार्यों के सहाय्य न होने वाले अपने 'प्रवर्तन' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व तथा तमस्) की एवं तमस् गुण सत्त्व और रजस् के क्रमश: प्रकाशन और प्रवर्तन कार्य के सहाय्य से होने वाले 'नियंत्रण' कार्य द्वारा अन्य दोनों (सत्त्व और रजस्) की सहायता करता है ।

इस पारस्परिक आश्रय द्वारा एक दूसरे के कार्य में सहायक होने का बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त *माठर-वृत्ति*[२] तथा **परमार्थ** द्वारा चीनी भाषा में अनूदित *सुवर्णसप्तति* शास्त्र[३] में मिलता है । जैसे तिरछे खड़े किये गये तीन दंडों या खंम्बों पर आश्रित घट किसी एक पर नहीं आश्रित रह सकता और घट को अपने-अपने ऊपर सम्हालने के कार्य में तीनों में से प्रत्येक अन्य दोनों की सहायता की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार तीनों गुण भी अपने अपने कार्य में अन्य दोंनों की सहायता से अपेक्षा रखते हैं ।

---

१. यद्यप्याधाराधेयभावेन नायमर्थो घटते, तथापि यदपेक्षया यस्य क्रिया, स तस्याश्रय:। तथाहि— सत्त्वं प्रवृत्तिनियमावाश्रित्य रजस्तमसो: प्रकाशेनोपकरोति, रज: प्रकाश-नियमावाश्रित्य प्रवृत्त्येतरयो:, तम: प्रकाशप्रवृत्ती आश्रित्य नियमेनेतरयो:। सा. त. कौ.

२. त्रिदण्डविष्टम्भवदमी वेदितव्या इति । — माठरवृत्ति प. २२

३. इमे गुणा: परस्पराश्रया: सर्वकार्यकरणसमर्था:, यथा त्रिदण्डी परस्पराश्रया कुण्डिकादीन् अवष्टभ्नाति ।— द्रष्टव्य अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा चीनी भाषा से संस्कृत में अनूदित सुवर्ण-सप्तति शास्त्र, पे. १७ ।

अन्योन्यजननवृत्तयः का अर्थ जैसा *तत्त्वकौमुदी* में **वाचस्पति मिश्र** ने किया है। 'एक दूसरे की उत्पत्ति करने वाले अर्थात् एक दूसरे के परिणाम में सहकारी' है। पर 'अन्योन्यजननवृत्तयः' की भी परस्पर सहकारी ही अर्थ है। इस प्रकार पुनरावृत्ति दोष की आपत्ति होती है। इसलिये *कौमुदीकार* ने जनन पद का 'सदृशरूप परिणाम' अर्थ करके यह स्पष्ट किया है कि परस्पर सहकारित्व रूप अर्थ की दृष्टि से दोनों पदों के अर्थ में अभेद होने पर भी भिन्न -भिन्न अवस्थाओं के विषय में कहे जाने से दोनों अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। गुणों का प्रथम सहकारित्व उनके अहंकार इत्यादि विरूप परिणाम की अवस्था के लिये कहा गया है। और नित्य सहकारित्व स्वरूप अर्थात सत्त्वादि रूप से ही परिणत होने की प्रलय कालीन अवस्था के लिये कहा गया है। इसलिये यहां पुनवृत्ति दोष नहीं है। इस स्वरूप परिणाम की प्रलयकालीन अवस्था का ही नाम प्रकृति है। क्योंकि इस अवस्था में तीनों गुण प्रकृतिरूप से ही अवस्थित रहते हैं। सृष्टिकालीन बुद्धि अहंकार इत्यादि विकृति या स्व भिन्न तत्त्व के रूप में नहीं परिणत होते इस प्रकार जब प्रकृति तथा तीनों गुणों में तादात्म्य या अभेद हुआ तब कारणकार्य भाव कहां सिद्ध हुआ? इसलिये प्रकृति-रूप स्वरूप परिणाम को अहेतु और नित्य कहा है। यहां यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जब तीनों गुणों तथा उनके प्रकृति रूप परिणाम कोई भेद ही नहीं है या दूसरे शब्दों में यों कहें कि जब तीनों गुण प्रलय काल में किसी नये तत्त्व को उत्पन्न नहीं करते तब उस अवस्था में व्यर्थ परिणाम मानने से क्या लाभ? इसका संक्षेप में उत्तर यह है कि यदि तीनों गुणों में कृत्यावस्था में कोई परिणाम या क्रिया नहीं मानेंगे तो प्रश्न यह उठेगा कि सृष्टिकाल में उनमें यह परिणाम शीलता या सक्रियता कहां से आ जायेगी? क्योंकि सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि जो जिसमें है वह उसमें कभी भी नहीं हो सकता एवं जो जिसमें है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता यही कारण है कि दशम कारिका में इन गुणों को सक्रिय कहा गया है। जिसका व्याख्यान *कौमुदीकार* ने परिस्पन्दवत् शब्द के द्वारा किया है।

परस्परमिथुनवृत्तयः का अर्थ यह है कि ये तीनों ही गुण एक दूसरे के सहचर या एक दूसरे अभाव में न रहने वाले होते हैं । इसमें देवी भागवत् प्रमाण हैं ।—सभी गुण परस्पर मुग्ध-भाग से रहते हैं । सभी गुण महत् अहंकार इत्यादि सभी कार्यों में व्याप्त हैं रजस् का मिथुन सत्त्व का मिथुन रजस् तमस् के भी मिथुन सत्त्व और रजस् एवं सत्त्व तथा रजस् का मिथुन तमस कहा गया है ।[1]

गुणों के स्वरूप, प्रयोजन तथा कार्य प्रणाली इत्यादि के विषय में जो कुछ अभी कहा गया, यह प्रायेण *सांख्यकारिका* १२ की द्वितीय पंक्ति की **वाचस्पति** मिश्र-कृत व्याख्या पर आधारित है । नारायण तीर्थ की सांख्यचन्द्रिका में भी सदृश ही व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है । परन्तु *गौडपाद भाष्य, माठर वृत्ति* तथा *जयमंगला* में 'वृत्ति' पद को कौमुदीकार **वाचस्पति मिश्र** तथा चन्द्रिकाकार नारायण तीर्थ की भांति 'अभिभव' 'आश्रय' इत्यादि प्रत्येक के अन्त में न जोड़कर इन्हीं पदों की भांति 'अन्योन्य' पद के साथ स्वतंन्त्ररूप से अन्वित किया गया है ।[2] जयमंगला के अनुसार वृत्ति का अर्थ सुखादि रूप से परिणति है, गौडपाद के अनुसार परस्पर वर्तमान रहना है, परन्तु *माठर वृत्ति* के अनुसार इसका अर्थ कार्य है । सुवर्ण सप्तति के परमार्थ कृत चीनी भाषानुवाद में भी यही अर्थ किया गया है । इस ग्रन्थ में सत्त्व का अपने कार्य के अतिरिक्त यदा कदा रजस् और तमस् के भी कार्य करना, इसी प्रकार रजस् का स्व-कार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के तथा तम का भी स्व-कार्य के अतिरिक्त अन्य दोनों के कार्य करना बड़े विशद और विस्तृत ढंग से समझाए गये हैं । इस ग्रन्थ के **अय्यास्वामीशास्त्री**-कृत संस्कृत अनुवाद की पंक्तियां इस स्थल में द्रष्टव्य हैं:—**अन्योन्यवृत्तीति । इमे त्रयो गुणाः अन्योऽन्यमर्थं कुर्वन्ति । यथा राजकुलस्त्री सुप्रियरूपशीला । अयं सत्त्वगुण उच्यते । एतत्सत्त्वपरिमतं रूपं भर्तुर्बन्धोश्च प्रीतिं करोति । इदं स्वार्थकरणमुच्यते । (सैव) सर्वासां सपत्नीनां**

---

१. अन्योन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः । रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः ॥ तमसश्चापि मिथुनं ते सत्त्वरजसी उभे । उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते ॥

२. अन्योन्याभिभवाः अन्योऽन्याश्रयाः अन्योऽन्यजननाः अन्योऽन्यमिथुनाः अन्योऽन्यवृत्तयश्च ।—गौडपादभाष्यम्

शोकं जनयति। इदमन्यार्थकरणमुच्यते। अन्येषां विषादमपि जनयति। यथा दास्यादयः सदा तत्परिचर्यखिन्ना मोचनमलभमाना विषादाविष्टचित्ता भवन्ति। इदमुच्यते अन्यार्थजननम्। इदमेव सत्त्वगुणस्य स्वपरार्थकरणमुच्यते। एवं रजः स्वपरार्थं जनयति...। एवं तमः स्वपरार्थं जनयति।

इस व्याख्यान से *माठर-वृत्ति* तथा *सुवर्ण सप्तति शास्त्र* के रचयिताओं का **वाचस्पति मिश्र** से महान् मतभेद ज्ञात होता है। जहां प्रथम दोनों आचार्यों के मत से रूप, यौवन, कुल एवं शील इत्यादि से सम्पन्न स्त्रीका अपनी सपत्नियों को दुःख करना तथा अपने को न पा सकने वाले पर पुरुष को मोह था विवाद में डाल देना सामान्यतः रजस् और तमस् कार्य होने पर भी कभी-कभी सत्त्व का भी कार्य होता है जो उसका अन्यार्थकरण (अर्थात् दूसरे गुण के कार्य का सम्पादन) है, वहां **वाचस्पति मिश्र** के अनुसार क्रमशः रजस् और तमस् के ये कार्य सदा उन्हीं के द्वारा सम्पादित होते हैं,ये कभी भी सत्त्व के द्वारा सम्पादित नहीं होते। यही बात अन्य दोनों गुणों —रजस् तथा तमस्—के भी अन्यार्थकरण के सम्बन्ध में जाननी चाहिए। तेरहवां कारिका के व्याख्यान में आई हुई भिन्न पंक्तियां इसमें प्रमाण हैं:-

अत्र च सुखदुःखमोहाः परस्परविरोधिनः स्वस्वानुरूपादिसुखदुःखमोहात्मकान्येव निमित्तानि कल्पयन्ति। तेषां च परस्परमभिभाव्याभिभावकभावान्नानात्वम्। तद्यथा एकैव स्त्री रूपयौवनकुलशीलसम्पन्ना स्वामिनं सुखंकरोति, तत्कस्य हेतोः? स्वामिनं प्रति तस्या सुखरूपसमुद्भवात् सैव स्त्री सपत्नीर्दुःखीकरोति, तत् कस्य हेतोः? ताः प्रति तस्याः दुःखरूपसमुद्भवात्। एवं पुरुषान्तरं तामविन्दमानं सैव मोहयति, तत् कस्य हेतोः? तं प्रति तस्याः मोहरूपसमुद्भवात्।... तत्र यत् सुखहेतुः तत् सुखात्मकसत्त्वम्, यत् दुःखःहेतुस्तत् दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः।

तत्त्वकौमुदी की इन पंक्तियों का तात्पर्य निम्नलिखित है:—

जागतिक पदार्थों में प्राप्त होने वाले परस्पर विरोधी सुख, दुःख तथा अज्ञान अपने अपने प्रादुर्भाव के अनुकूल ही सुखात्मक दुःखात्मक तथा अज्ञानात्मक

कारणों का अनुमान कराते हैं। इन्हीं को १३वीं कारिका सत्त्व, रजस् और तमस् नाम दिया गया है। इन गुणों का अनेकत्व सुखादि के परस्पर अभिभाव्य अभिभव (या तिरोभाव को प्राप्त होने वाला) तथा अभिभावक (अभिभव या तिरोभाव करने वाला) होने से है। अर्थात् चूंकि कभी सुख उत्कृष्ट होकर ये दोनों का तिरोभाव करता है, कभी दु:ख और कभी अज्ञान इसलिये इनके कारण एक नहीं हो सकते, क्योंकि यदि एक ही गुण सुख, दु:ख तथा मोह का कारण मान लिय जाये तो प्रत्येक वस्तु एक ही समय में एक ही व्यक्ति को सुखदु:खनोहात्मक अनुभूत होगी। परन्तु एसा कभी नहीं होता। इसके विपरीत अनेक होने पर इन सत्त्वादि गुण के उद्भूत या उत्कृष्ट होने के लिये व्यक्ति के धर्म और अधर्म की अपेक्षा रहने से व्यक्ति और वस्तु दोनों में ही कभी सत्व, कभी रजस् और कभी तम् ही उद्भूत होगा। इस प्रकार वस्तु विशेष व्यक्ति विशेष को एक समय में एक ही प्रकार की सुखात्मक, दुःखात्मक या मोहात्मक लगेगी, सर्वात्मक नहीं। जैसे रूप, यौवन, कुल शील से सम्पन्न वही स्त्री अपने पति को सुख देती है क्योंकि उसके प्रति उस स्त्री का सुखात्मक सत्त्व रूप ही प्रकट होता है। वही स्त्री सौतों को दु:ख देती है क्योंकि उनके प्रति उसका दु:खात्मक रजोरूप ही प्रकट होता है। इसी प्रकार उसे न पा सकने वाले पर पुरुष को मूढ बना देती है क्योंकि उनके प्रति उस स्त्री का मोहात्मक तमोरूप ही प्रकट होता है।. उपर्युक्त दृष्टान्त में जो पति के सुख का कारण है, वह कान्ता कायगत सुखात्मक सत्त्व गुण है जो पति द्वारा किये गये धर्म रूप निमित्त से समुद्रभूत होकर उसके सुख में पराजित हो जाता है। इसी प्रकार जो सपत्नी के दु:ख का कारण है वह कान्ता काम यत् दु:खात्मक रजो गुण है जो सपत्नी द्वारा किये गये अधर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उसके दु:ख में परिणत हो जाता है। एवं जो उस स्त्री को प्राप्त न कर सकने वाले पर पुरुष के मोह का कारण है, वह कान्ता काय गत मोहात्मक तमो गुण है जो पुरुष द्वारा किये गये अधर्म रूप निमित्त से समुद्भूत होकर उनके मोह या विषाद में परिणत हो जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त मत ही कारिकानुसारी होने के कारण संगत एवं उपयुक्त है।[१]

१. तत्वकौमुदीकार ने यह सिद्धान्त प्रतिपादन सांख्य मत के अनुरोध से किया है। वस्तुतः उनका अपना मत (वेदान्त मत) इससे भिन्न है। उसका संक्षेप में कथन उन्होंने ब्रह्मसूत्र

सृष्टि एवं उसका प्रयोजन

प्रत्येकों के विवेचन के आरम्भ में कहा जा चुका है कि सांख्य के प्रमेय का पदार्थ मुख्यत: दो ही है, एक तो जड प्रकृति और दूसरा चेतन पुरुष: और सारा ज़ड़ जगत् इसी जड प्रकृति का परिणाम है और इसी परिणाम का नाम सर्ग या सृष्टि है। प्रकृति के एक और परिणाम की भी चर्चा पहले प्रकृति और उसके गुप्त प्रकरण में की जा चुकी है। वह परिणाम भी कहा गया है जो प्रलयकाल में होता रहता है। इस परिणाम को मानने का कारण भी वहां-स्पष्ट किया जा चुका है। इस सदृश परिणाम में प्रकृति के गुणों का पारस्परिक साम्य नष्ट नहीं होता, इसी से कोई अभिनव सृष्टि नहीं होती। परन्तु सृष्टि काल में गुणों में क्षोभ होने से, साम्य नष्ट होता है, वैषम्य उत्पन्न होता है, एवं वैषम्य या न्यूनाधिक्य को प्राप्त हुए गुणों के विविध मिश्रण से विविध सृष्टि होने लगती है। यहां यह प्रश्न स्वभावत: उठता है कि पूर्वत: साम्य प्राप्त गुणों में वैषम्य या न्यूनाधिक्य क्यों और कैसे आ जाता है ? क्यों का उत्तर जेसा पहले कहा जा चुका है, तेरहवीं कारिका के **प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः** तथा ३१ वीं कारिका के **पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम्** अंशों में दिया गया है। इनका भाव यह है कि चूंकि पुरुष के पूर्वकृत कर्मों का भोग तथा भोगान्तर तत्त्वज्ञान द्वारा पुरुष के अपवर्ग की सिद्धि के लिये विविध सृष्टि अपेक्षित है और इस विविध सृष्टि के लिये गुणों में वैविध्य या वैषम्य होना आवश्यक, अतः

२-२-१ के शांकर भाष्य की भामती में इस प्रकार किया है—यदि पुनः एते एव सुखदुःखादिस्वभावा भवेयुस्ततः स्वरूपत्वाद्वेमन्तेऽपि चन्दनः सुखः स्यात्। नहि चन्दनः कदाचिदचन्दनः। तथा निदाघेऽपि कुङ्कुमपङ्कः सुखः भवेत्। नह्यसौ कदाचिदकुङ्कुमपङ्क इति। एवं कण्टक क्रमेलकस्य सुख इति मनुष्यादीनामपि प्राणभृतां सुखः स्यात्। नह्यसौ कांश्चित् प्रत्येव कण्टक इति। तस्मादसुखादिस्वभावा अपि चन्दनकुङ्कुमादयो जातिकालावस्थाद्यपेक्षया सुखदुःखादिहेतवो, न तु स्वयं सुखादिस्वभावा इति रमणीयम्।' इसके अनुसार चन्दन, कुङ्कुम इत्यादि जागतिक भोग-पदार्थ स्वतः सुख-दुःख मोहात्मक नहीं है अपितु जाति काल, अवस्था इत्यादि के अनुरोध से वे वैसे हो जाते हैं।

गुणों में क्षोभ तथा उसके द्वारा वैषम्य या न्यूनाधिक्य उत्पन्न होता है। 'कैसे' का उत्तर कारिकाकार ने

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः ॥

इस २१ वीं कारिका में दिया है इसका भाव यह है कि प्रकृति दर्शन द्वारा पुरुष की कैवल्य-सिद्धि के लिये प्रकृति और पुरुष का संभोग होता है, जिससे सृष्टि होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पुरुषार्थ सिद्ध के हुए प्रकृति और पुरुष का परस्पर संयोग होता है, और संयोग से प्रकृति के अंशों में लोंभ होने से वैषम्य उत्पन्न होने पर विविध सृष्टि होती है। **विज्ञानभिक्षु** का क्षोभ से संयोग और उससे सृष्टि का सिद्धान्त ठीक नहीं लगता।[१] यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भोग एवं अपवर्ग के लिये अपेक्षित संयोग भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। भोग के लिये अपेक्षित संयोग का कारण अनादि अविद्या है, जैसा कि **तस्य हेतुरविद्या** इस योग सूत्र से स्पष्ट है। यह संयोग तब तक बना रहेगा जब तक इसमें केवल भोग सम्पन्न होता रहेगा। इस अनादि संयोग के अन्त के लिये कैवल्य अपेक्षित है, जिसका कारण है प्रकृति और पुरुष का विवेक अर्थात् पुरुष का प्रकृति के स्वरूप को देखकर अपने को उससे विविक्त अन्य या भिन्न समझ लेना। भोग के लिये अनादि संयोग होने पर भी कैवल्यानुभूति के लिये पुनः संयोग होता है। जैसा कि २० वीं कारिका के व्याख्यान में **कौमुदीकार** ने स्वयं भी कहा है–**अनादित्वाच्च संयोगपरम्पराया भोगाय संयुक्तोऽपि कैवल्याय पुनः संयुज्यते इति युक्तम्।** इसका तात्पर्य यह है कि भोग और अपवर्ग के लिये होने वाले संयोग एक नहीं, भिन्न है। संयोग की तो अनादि परम्परा है क्योंकि उसकी कारणभूत अविद्या अनादि है। उसमें कोई संयोग परम्परा भोग में हेतु है तो कोई दूसरी कैवल्य में।

यह सृष्टि जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, प्रकृति से महत् उससे अहंकार अहंकार से एक ओर तो एकादश इन्द्रियां और दूसरी ओर पांच तन्मात्र तथा तन्मात्रों

१. द्रष्टव्य सा. सूत्र ५-१०१ का विज्ञानभिक्षु कृत भाष्य।

से पृथ्वी, जल इत्यादि पांच महाभूत—इस क्रम से होती है । यहां विचारणीय प्रश्न यह है कि एक ही अहंकार से प्रकाशक इन्द्रियां तथा प्रकाश्य रूप, स्पर्श, शब्द इत्यादि तन्मात्र कैसे उत्पन्न होते हैं ? एक ही कारण से दो पृथक, स्वभाव वाले कार्य कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? इसका उत्तर आगे के इन्द्रियोत्पत्ति प्रकरण के अंतिम भाग में आयेगा । अतः वहीं द्रष्टव्य है ।

सांख्य में इन्द्रियों की उत्पत्ति

विभिन्न भारतीय दर्शनों में इन्द्रियों की उत्पत्ति विभिन्न प्रकार से बताई गई है। इस सम्बन्ध में सांख्यशास्त्र की अपनी विशिष्ट प्रणाली है । पहली बात जो इसके सम्बन्ध में बताने की है वह यह है कि जहां न्याय तथा वेदान्त में इन्द्रियां भौतिक हैं, वहां सांख्य में वे आहङ्कारिक —अहंकार से उत्पन्न मानी गई है। **ईश्वरकृष्ण** ने **सात्त्विकं एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्** इत्यादि पच्चीसवीं कारिका में इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से बताई है । **सात्त्विकमेकादशकम्...** । इत्यादि (सा. सू. २-१८) में भी इन्द्रियों की उत्पत्ति सात्त्विक अहंकार से कही गई है । पुराणों में इन्द्रियां कहीं तो आहंकारिक और कहीं भौतिक कही गई है ।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा।
अहन्तत्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूत ॥
वैकरिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ।
तैजसादिन्द्रियाण्वेव ज्ञानकर्ममयानि च ॥
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ।

इत्यादि पौराणिक वचनों में सात्त्विक अहंकार से इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव और मन, राजस अहंकार से दस इन्द्रियां, तथा तामस् अहंकार से पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति की प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है । इसी का अनुसरण करते हुए सांख्य सूत्रों के भाष्यकार **विज्ञानभिक्षु** ने अपने सांख्य प्रवचन भाष्य में ऊपर उद्धृत **सात्त्विकमेकादशकम्** इत्यादि सूत्र का तदनुकूल अर्थ किया है । एवं सांख्य कारिकाओं के

अपने व्याख्यान में भी ५वीं कारिका पर व्याख्यान लिखते हुए—**सात्त्विक एकादशकः इत्यनेन मनो बाह्यं, तैजसादुभयमित्यु भयपदेन च द्विविधमिन्द्रियं ग्राह्यम** ॥[१] ऐसा लिखा है। इसमें स्पष्ट है कि विज्ञान भिक्षु के मातनुसार केवल ग्यारहवीं इन्द्रिय मन ही सात्त्विक है अन्य दसों इन्द्रियां आहंकारिक होती हुई भी राजस है, सात्त्विक नहीं। सांख्य सिद्धान्त की दृष्टि से **विज्ञानभिक्षु** का यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। इसके विपरीत आचार्य **वाचस्पति मिश्र की 'प्रकाशलाघवाभ्यामेकादशक इन्द्रियगणः सात्त्विको वैकृतात् सात्त्विकाहंकारात् प्रवर्तते भूतादयस्त्वहंकारात् तामसात् तन्मात्रो गणः प्रवर्तते।.... तैजसात् राजसादुभयं गणद्वयं भवति। यद्यपि रजसो कार्यान्तरमस्ति, तथापि सत्त्वतमसी स्वयमविक्रिये समर्थे अपि न स्वस्वकार्यं कुरुतः रजस्तु चलतया ते यदा चालयति तदा स्वकार्यं कुरुत इति**। इत्यादि पंक्तियां जो उन्होंने २५ वीं कारिका पर भी व्याख्यान आरम्भ करते हुए उन्होंने इन्द्रियों को सात्त्विक अहंकार से ही उत्पन्न माना है—**सात्त्विकाहंकारोपादानकत्वमिन्द्रियत्वम्**।

जैसा अभी ऊपर प्रदर्शित किया गया है, **वाचस्पति** मिश्र द्वारा प्रतिपादित मत ही सांख्य-शास्त्र का सर्वमान्य मत प्रतीत होता है। यदि इसमत के विरुद्ध कोई यह शङ्का करे कि सभी इन्द्रियों के सात्त्विक होने पर कर्मेन्द्रियाँ भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करती: उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियाँ भी विषयों को क्यों नहीं प्रकाशित करती: उन्हें भी मन और ज्ञानेन्द्रियों को ही भांति को प्रकाशित करना चाहिये, तो ऐसी ही शंका तो **विज्ञानभिक्षु** के भी सम्बन्ध में होगी, क्योंकि सभी इन्द्रियां सात्त्विक नहीं है? पूर्व मत विरुद्ध उठी हुई शङ्का का तो समाधान भी है और वह यह कि चूंकि उत्कृष्ट सत्त्व प्रधान अहंकार से मन, मध्यम-सत्त्व-प्रधान अहंकार से बुद्धीन्द्रियां तथा निकृष्ट सत्त्व प्रधान अहंकार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती है, अतएव जहां मन सर्वाधिक विषय प्रकाशक है वहां बुद्धीन्द्रियां तो प्रकाश करती ही नही, तथापि सात्त्विक होने से ही वे भी लघु होने के कारण क्षिप्रकारिणी है, अन्यथा ऐसी

१. श्री बालराम उदासीन द्वारा का. २५ की विद्वतोषिणी में उद्धृत।

न होती, परन्तु द्वितीय मत के विरुद्ध उठी हुई शंका का तो कोई भी परिहार नहीं दिखाई देता।

अब जो नैयायिक इत्यादि दार्शनिक इन्द्रियों को भौतिक अर्थात् आकाश इत्यादि भूतों से क्रमशः उत्पन्न मानते हैं और उसमें **चक्षुरिन्द्रियं तैजसं रूपादिषु पञ्चसु रूपस्यैवाभिञ्जकत्वात् दीपवत् त्वगिन्द्रियं वायवीयं रूपादिषु पञ्चसु स्पर्शस्यैवाभिञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनपवनवत्, रसन् जलीयं रूपादिषु पञ्चसु रसस्यैवाभिञ्जकत्वात् दन्तान्तस्तोयवत्** इत्यादि अनुमान प्रमाण देते हैं, वह सर्वथा भ्रमात्मक है, क्योंकि विचार करने पर इनके विरुद्ध तो बात आपाततः मन में आती है, वह यह है कि यदि ये इन्द्रियां प्रकाशक सात्त्विक अहङ्कार से न उत्पन्न होकर अप्रकाशक आकाश वायु आदि पांच भूतों से प्रथक-पृथक उत्पन्न हुई, तो वे प्रकाशक कैसे हुई ? आकाश इत्यादि की भांति इन्हें भी प्रकाश्य होना चाहिये, प्रकाशक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि उपयुक्त प्रकार के अनुभागों में नैयायिक जो यह हेतु देते हैं कि चक्षु, श्रोत्र इत्यादि इन्द्रियां आकाश, वायु आदि भूतों के शब्द स्पर्श आदि विशेष गुणों की उपलब्धि में पृथक-पृथक करण है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह दीप इत्यादि उदाहरणों में प्राप्त या उपस्थित नहीं है। जैसे दीप ही को लेकर विचार करने पर ज्ञात होता है कि दीप रूप के प्रत्यक्ष में करण नहीं है, क्योंकि करण तो वह है जिसके होने पर कार्य अवश्य हो, रूप के प्रत्यक्ष में सन्निकृष्ट चक्षुरिन्द्रिय ही करण है, दीप नहीं। अन्यथा चक्षुरिन्द्रिय सन्निकर्ष के अभाव में भी दीप से रूप का प्रत्यक्ष होता। जब उदाहरण ही असिद्ध है, तब अनुमान कहां से सिद्ध होगा ?

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो चुका है कि उत्कृष्ट सत्त्व-प्रधान अहङ्कार से मन, मध्यम सत्त्व प्रधान अहङ्कार से ज्ञानेन्द्रियां तथा निकृष्ट सत्व प्रधान अहङ्कार से कर्मेन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। यही अहङ्कार जब तमः प्रधान होता है, तब इससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पांच तन्मात्र या सूक्ष्म भूत उत्पन्न होते हैं जिनसे क्रमशः आकाश, वायु, तेजस् जल तथा पृथ्वी महाभूत उत्पन्न होते हैं। कारण के तमः प्रधान होने से ही ये भूत इत्यादि कार्य भी तमोगुणी —अप्रकाशक अर्थात् दूसरों का प्रकाश

न करने वाले, अपितु, प्रकाश्य अर्थात् दूसरे (इन्द्रिवृद्धि) से स्वयं प्रकाशित होने वाले होते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सत्त्व, रजस् तथा तमस् के न्यूनाधिक भाव से विविधता को प्राप्त हुए अहङ्कार से विविध तत्त्वों—मन, पांच ज्ञानेन्द्रियों, पांच कर्मेन्द्रियों तथा पांच तन्मात्रों की सृष्टि होती है।

बाह्यार्थवाद

मूलत: प्रकृति के ही परिणाम या वास्तविक कार्य होने के कारण ये तन्मात्र, महाभूत इत्यादि, तथा इन महाभूतों के भी विकार भूत ये सारे जागतिक पदार्थ भी प्रकृति की ही भांति सत्य है, वास्तविक हैं। दूसरे शब्दों में रखी बात को इस प्रकार कह सकते हैं कि योग की ही भांति सांख्य को भी बाह्य पदार्थों की सत्ता मानसिक व्यापार या चित्त-वृत्ति से पृथक स्वतन्त्र रूप से मान्य है। कारिकाकार ने ११वीं कारिका में 'विषय:' और 'सामान्यम्' शब्दों द्वारा तथा सूत्रकार ने **न विज्ञानमात्रं, बाह्यप्रतीते:** (सा. सू. १-४२) के द्वारा यही अभिप्राय प्रकट किया है। अत: विज्ञानवादी बौद्धौं से सांख्य का स्पष्ट मतभेद है। सांख्य विज्ञानवादी नहीं, वस्तुवादी या विषयवादी है। जैसे सूक्ष्म अन्त:करण अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार तथा मन प्रकृति के परिणाम है, वैसे ही स्थूल आकाश इत्यादि पंच भूत, तथा उनका भी विशिष्ट परिणाम यह पाञ्चभौतिक जगत् भी प्रकृति के परिणाम है। अत: जैसे अन्त:करण का परिणाम ज्ञान सत् है, वैसे ही ज्ञान के विषय बनने वाले जगत् के स्थूल पदार्थ भी सत् हैं।

बाह्यार्थवाद का उपर्युक्त प्रतिपादन सांख्य के प्रसिद्ध सत्कार्यवाद पर आधारित या आश्रित है। अर्थात् बाह्यार्थवाद सत्कार्यवाद का ही न्यायोचिता निष्कर्ष है, इन दोनों सिद्धान्तों में परस्पर सामञ्जस्य है, विरोध नहीं। जिन्हें सांख्य का सत्कार्य वाद मान्य होगा, उन्हें उसका बाह्यार्थवाद भी मान्य होगा। जिन्हें उसका सत्कार्यवाद सिद्धान्त मान्य नहीं है, अथवा मान्य होने पर भी जो उसे बाह्यार्थवाद के लिये पर्याप्त हेतु नहीं मानते, उनके लिये सांख्यकारिकार ने ग्यारहवीं कारिका के विषय एवं सामान्य शब्दों द्वारा तर्क उपस्थित किया है। विषय का अर्थ है—ग्राह्य

अर्थात् विज्ञान से पृथक स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करने योग्य, एवं सामान्य का अर्थ है — एक ही समय में अनेक पुरुषों द्वारा ग्राह्य । इसका तात्पर्य यह है कि यदि जगत् के पदार्थ (शब्द, घट, पट इत्यादि) विज्ञान के ही रूप होते तो जैसे विज्ञान मानसिक व्यापार होने के कारण व्यक्तिगत होते हैं, वैसे ही ये पदार्थ भी व्यक्तिगत होते, अर्थात् जैसे दूसरे की बुद्धि के प्रत्यक्ष न होने के कारण एक का विज्ञान दूसरे को अप्रत्यक्ष रहता है वैसे ही शब्दादि पदार्थ भी जिस व्यक्ति के विज्ञान के रूप होते, उसी को प्रत्यक्ष होते । परन्तु चूंकि इनका प्रत्यक्ष सर्व सामान्य को होता है, अत: ये विज्ञान के रूप नहीं अपितु उससे पृथक स्वतन्त्र पदार्थ है । ऐसा मानने पर ही नर्तकी के एक ही कटाक्ष (जो शब्द इत्यादि की तरह हो व्यक्त पदार्थ है) का एक साथ ही अनेक पुरुषों को प्रतिसन्धान (प्रत्यभिज्ञान) होना संङ्गत है, अन्यथा ऐसा नहीं होना चाहिये ।

सांख्यों के इस तर्क के विपरीत विज्ञान वादी बौद्धों का कथन ही है कि स्वप्न में बाह्य पदार्थों के अभाव मे ही स्वप्न द्रष्टा पुरुष का विज्ञान (बुद्धि) ही घट पट, सर्प इत्यादि अनेक ग्राह्य विषयों का रूप धारण करके स्वयं ही उसका ग्राहक या ज्ञाता बनता है । अथवा जैसे जागरण काल में भी बाह्य (वास्तविक) स्थिति के अभाव में सूर्य मरीचियों में जल, शुक्ति में रजत (चांदी) अथवा रस्सी से सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार जागरण काल में भी प्रतीत होने वाले घट, पट, हस्ती आदि अन्य पदार्थ भी विज्ञान के ही भिन्न-भिन्न रूप है, उसके बाहर उनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है । यदि कोई यह शंका करे कि जब सभी पदार्थ एकमात्र विज्ञान के ही रूप है तो विज्ञान के एक होने पर भी नील पीत इत्यादि रूप से पदार्थ वैचि्त्रण का आभास क्यों होता है, तो इसके उत्तर में विज्ञानवादियों का यह कहना है कि विज्ञान गत यह वैचित्र्य व्यक्ति के वासना गत वैचित्र्य के कारण है । स्वप्न में भी तो स्वप्न द्रष्टा का ही विज्ञान घट, पट, हस्ती आदि विचित्र रूपों में प्रतीत होता है, वहां तो कोई बाह्य पदार्थ नहीं रहता । इसलिये जैसे स्वप्न कालीन विज्ञान वैचित्र्य पदार्थ वैचित्र्य पर नहीं अपितु वासना वैचित्र्य पर आश्रित होता है, उसी प्रकार जागरण-कालीन पदार्थ वैचित्र्य भी विज्ञान वैचित्र्य के कारण होता है । यदि पूछा जाय कि

विज्ञान वैचित्र्य ही क्यों होता है तो उसका कारण विज्ञानवादी व्यक्तिगत वासना वैचित्र्य बताते हैं । यह वासना वैचित्र्य भी अनादि अविद्या के कारण है ।

ज्ञान और बाह्य वस्तुओं का अभेद-साधक एक हेतु विज्ञानवादी यह भी देते हैं कि जिस वस्तु की जिसके साथ नियत रूप से प्राप्ति होती है, वह उससे भिन्न नहीं होती, जैसे एक चन्द्र के साथ नियत रूप से प्राप्त होने वाला द्वितीय चन्द्र उससे भिन्न नहीं होता है । इसी प्रकार ज्ञान के साथ नियत रूप से प्राप्त होने के कारण वस्तु उस ज्ञान से भिन्न नहीं है । *सर्वदर्शनसंग्रह* की **सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियो:** । कारिका में यही बात कही गई है । इसका तात्पर्य यह है कि नील वस्तु और तद्विषयक यह नीला है यह ज्ञान—दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं । क्योंकि दोनों एक साथ ही प्राप्त होते हैं । चूंकि कोई भी वस्तु सविषयक ज्ञान से पृथक नहीं देखी जाती, इसलिये वह उस ज्ञान से भिन्न नहीं अपितु तद्रूप ही है, यदि दोनों भिन्न होते तो पृथक पृथक प्राप्त होते, एक साथ न प्राप्त होते । यदि कोई कहे कि यदि वस्तु और स्व विषयक ज्ञान में भेद नहीं है, वस्तु वस्तुत: स्वज्ञान रूप ही है तो दोनों में वस्तु एवं वस्तु का ज्ञान इस प्रकार का भेद क्यों और कैसे दिखाई पड़ता है, तो इसका उत्तर विज्ञानवादी बौद्ध यह देता है कि यह भेद मिथ्या या भ्रान्तिमूलक है, ठीक वैसे ही जैसे चन्द्र के एक ही होने पर भी उसमें दो चन्द्रों का दिखाई पड़ना ।

बाह्यार्थवाद के विरुद्ध विज्ञानवाद का समर्थन करने वाले यें दोनों ही तर्क विचार करने पर असत् प्रतीत होते हैं, और बालू की भांति ढहत दिखाई पड़ता है । जैसे स्वप्न कालीन घट, पट, मठ, हस्ती इत्यादि पदार्थ जागरण काल में न तो प्रतीत होते हैं एवं न रहते ही हैं, केवल स्वप्न काल का तद्विषयक ज्ञान ही रहता है (क्योंकि उसके (सत्य) न होने पर तो जागरण काल में होने वाला उसका स्मरण भी न होता), उसी प्रकार जागरण काल के पंदार्थ भी वस्तुत: नहीं है अर्थात् अपने-अपने ज्ञान से पृथक प्रसिद्ध नहीं है, विज्ञानवादियों का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इसका आधार स्वप्न और जागरण का पारस्परिक सादृश्य है जो सर्वथा असिद्ध है । उल्टे दोनों का वैषम्य या वैधर्म्य ही प्रत्यक्ष सिद्ध है । स्वप्न काल के बोध का बाध या प्रत्याख्यान अवान्तर (जागरण) काल में प्रत्यक्ष से सिद्ध है, परन्तु जागरण काल के

बोध का बाध प्रत्यक्ष या किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं है । **कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्** (बाह्यसूत्र २-२-२) के द्वारा यही भाव प्रकट किया है । जब दृष्टान्त (स्वप्न) और दार्ष्टान्तिक (जागरण) में साधर्म्य के स्थान में वैधर्म्य है, तब दृष्टान्त गत धर्म अर्थात् स्वाप्निक पदार्थों की अवास्तविकता का दार्ष्टान्तिक अर्थात् जागरण काल के पदार्थों में अनुमान कैसे हो सकता है ? दृष्टान्त असिद्ध होने पर भी भला कहीं अनुमान सिद्ध होता है ?

विज्ञानवादियों का दूसरा तर्क भी विचार करने पर इसी प्रकार असत् या दूषित सिद्ध होता है । निःसन्देह पदार्थ और उसके ज्ञान के विषय में तथाकथित सहोपलब्धि का नियम, जिससे वे दोनों को एक सिद्ध करते है, सूक्ष्म विचार कसौटी पर कहे जाने पर खरा नहीं उतरता । यह सहोपलम्भ का नियम आखिर है क्या ? यदि इसका अर्थ साहित्येनोपलम्भ अर्थात् पदार्थ और उसके ज्ञान का साथ-साथ पाया जाना है, तब तो इसके बल पर दोनों की एकता क्या ही सिद्ध होगी ? हां इसके उल्टे दोनों की भिन्नता तो अवश्य ही सिद्धि होगी, क्योंकि अभेद विरुद्ध भेद से व्याप्त होने के कारण यह सहोपलभ्भ हेतु विरुद्ध हेतु है, अतः 'विरुद्ध' हेत्वाभास है, और हेत्वाभास से प्राप्त होने वाला ज्ञान प्रमा नहीं, प्रमाभास होगा । यही बात इस प्रकार से कही जा सकती है कि सहोपलभ्भ और अभेद वस्तुतः एक दूसरे के विरोधी है, दो भिन्न वस्तुओं का ही सहोपलम्भ हो सकता है, सहोपलम्भ या साहित्य के लिये भेद अर्थात् कम से कम दो वस्तुओं का होना अनिवार्य है, अभेद से अर्थात् वस्तु के एक ही होने पर किसका किससे साहचर्य होगा, अपना अपने ही से तो साहचर्य होना नहीं । यदि सहोपलभ्भ हेतु का विरुद्धत्व दोष मिटाने के लिये उसका अर्थ एकोपलभ्भ किया जाये तो यह भी असंगति ही है, क्योंकि सह का अर्थ असंगति ज्यों का त्यों बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान के विषय बनने वाले पदार्थ या वस्तु के बाह्य होने, तथा उस ज्ञान के आन्तरिक होने के कारण दोनों की एक रूप से उपलब्धि असम्भव है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सांख्यशास्त्र न्याय, वैशेषिक, योग इत्यादि की भांति ही बाह्यार्थवादी है । वैसे तो वेदान्त भी विज्ञानवादी नहीं, बाह्यर्थवादी ही है, जैसाकि

ऊपर वैधर्म्यं न स्वप्नादिवत् इत्यादि ब्रह्मसूत्र के उद्धरण से स्पष्ट है, पर शाङ्कर वेदान्त बाह्य अर्थों या विषयों को न्याय, सांख्य योग इत्यादि की भांति वस्तुतः सत् नहीं मानता, परमार्थतः सत्य नहीं कहता, अपितु व्यवहारतः ही सत्य मानता है । उसकी यह मान्यता उसकी परमार्थ विषयक मान्यता अद्वैत के सर्वथा अनुसार ही है ।

स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर

पूर्व जिन तन्मात्रों की चर्चा कर आये हैं, उनकी साख्य शास्त्र में दूसरी संज्ञा अविशेष है । एवं उनसे उत्पन्न होने वाले महाभूतों की संज्ञा विशेष है।[१] किस वैशिष्ट्य के कारण वे महाभूत विशेष कहलाते हैं, जिसके अभाव के कारण तन्मात्र अविशेष कहे जाते हैं ? इसका उत्तर **ईश्वरकृष्ण** ने का. ३८ के अन्तिम शब्दों में दिया है जिसका भाव जल है कि चूंकि आकाश वस्तु इत्यादि स्थूल विषयों में कुछ सत्त्व प्रधान होने के कारण शान्त सुखात्मक प्रकाश रूप और लघु कुछ रजः प्रधान होने के कारण घोर, दुःखात्मक और चंचल तथा कुछ तमःप्रधान होने के कारण मोहात्मक विवाद रूप और गुरु (भारी) होते हैं, इसलिये परस्पर पृथक-पृथक रूप से अनुभव किये जाने के कारण विशेष और स्थूल कहलाते हैं । इसके विपरीत तन्मात्र हम लोगों (प्राकृत जनों) के द्वारा पृथक-पृथक अनुभूत न होने के कारण अविशेष और सूक्ष्म कहलाते हैं ।

विशेष या स्थूल विषयों के तीन प्रकार या अवान्तर भेद होते हैं ये सूक्ष्म शरीर, माता पिता से उप्तन्न स्थूल शरीर, तथा पञ्च महाभूत है । इनमें स्थूल शरीर, जिसके चर्म (त्वक) रक्त तथा मांस माता से तथा स्नायु (वसें) अस्थि एवं मज्जा पिता से उत्पन्न होते हैं, अनित्य या नश्वर होते हैं, क्योंकि गाड़े जाने पर वे पृथ्वी भाव्र को प्राप्त हो जाते हैं, जलाये जाने पर गरम बन जाते हैं, एवं व्याघ्र इत्यादि से खा लिए

---

१. द्रष्टव्य कारिका ३८:–
तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥

जाने पर पच कर मल बन जाते हैं। इनके विपरीत सूक्ष्म शरीर नियत अर्थात् नष्ट न होने वाले होते हैं।[१]

सूक्ष्म शरीर की दूसरी संज्ञा लिङ्ग शरीर भी है। साधना की दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व सांख्य शास्त्र में ही नहीं, अन्यत्र भी है। अत: इसके स्वरूप पर थोड़ा विस्तार के साथ विचार कर लेना उचित होगा। सांख्य कारिका में इसे महत् (बुद्धि), अहङ्कार ग्यारह इन्द्रियां तथा पांच तन्मात्र—इन अठारह तत्त्वों का बना हुआ, सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, नियत भोग रहित, धर्माधर्म भावों के संस्कारों से युक्त एवं संसरण करने वाला बाताया[२] वेदान्त में भी सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर की कल्पना है, पर सांख्यशास्त्र गत सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर से वेदान्तीय सूक्ष्म शरीर थोड़ा भिन्न है। जहां सांख्य में सूक्ष्म शरीर अठारह तत्त्वों से बना माना जाता है, वहां वेदान्त में उसे सत्रह तत्त्वों से ही बना माना जाता है। वेदान्त अहङ्कार का अन्तर्भाव मन इन्द्रिय में कर लेता है। इसके अतिरिक्त एक भेद और है, वह यह है कि सांख्य के पांच तन्मात्रों के स्थान में वेदान्त पांच प्राण मानता है। पर सांख्य और वेदान्त, दोनों ही मध्य शरीर से प्राय: एक से प्रयोजन की सिद्धि मानते हैं। यह प्रयोजन पुरुष का संसरण है। इसी सूक्ष्म शरीर के द्वारा पुरुष (आत्मा) जगत् में विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है। यह कभी मनुष्य बनता है तो कभी पशु, और कभी वनस्पति इत्यादि। इस प्रकार परशुराम, युधिष्ठर, उदयन आदि अनेक पुरुषों का रूप धारण करने वाले नट[३] की भांति यह सूक्ष्म शरीर अनेक योनियों में उत्पन्न होकर अनेक शरीर धारण करता है।

---

१. द्रष्टव्य का ३९:—
सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते॥

२. द्रष्टव्य सा.का.४०:—
पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥

३. द्रष्टव्य सा.का.४२:—

वस्तुतः तो यह सूक्ष्म शरीर ही विभिन्न योनियों में संसरण करता है किन्तु अनादि अविद्या के कारण पुरुष या आत्मा उसके साथ अपना तादात्म्य या अभेद ग्रहण करने के कारण उस संसरण अर्थात् जन्म मरण को, एवं उससे होने वाले दुःख को अपना ही समझता है ।[१] यही उसका बन्धन है और उसी से छुटकारा पाने के लिये सारी आध्यात्मिक साधना बताई गई है । वह छुटकारा अज्ञान मिटने पर ही मिल सकता है, अथवा इसे और अच्छे ढंग से इस प्रकार कह सकते हैं कि अज्ञान से मुक्ति ही जन्म मरण से मुक्ति है, दुःखों से मुक्ति है । अज्ञान से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान ही हो सकता है । अतः सारी आध्यात्मिक साधना वस्तुतः ज्ञान ही के लिये की गई साधना है । यह ज्ञान वस्तुतः क्या है ? और इसकी साधना क्या है ? ज्ञान है—**नास्ति, न मे, नाऽहम्** (अर्थात् मैं अकर्ता, अभोक्ता एवं अपरिणामी आत्मा हूं —इस सत्य) को जानकर श्रद्धा पूर्वक दीर्घकाल तक निरन्तर भावना करते जाना, जब तक पूर्वोक्त अनुभूति न हो जाय, जब तक इस सत्य का साक्षात्कार न हो जाये ।[२] चूंकि सत्य या तत्त्व के विषय में किया गया अभ्यास उसी का साक्षात्कार उत्पन्न करता है, इसी लिये यह ज्ञान विशुद्ध अर्थात् संशय एवं विपर्यय से अमिश्रित होता है और विपर्यय या मिथ्या ज्ञान से अमिश्रित होने के कारण ही केवल कहा जाता है । इसीलिये ज्ञानी को केवली और ज्ञान से प्राप्त होने वाले जन्म जरा व्याधि मृत्यु इत्यादि दुःखों के विनाश को कैवल्य मोक्ष कहते हैं । एक शंका यहां अवश्य उठती हैं, वह यह है कि अविद्या तो अनादि है अतः उससे सतत उत्पन्न होते रहने वाले मिथ्या ज्ञान से जन्म-मरण सदा ही होते रहेंगे, उनसे कभी छुटकारा होगा ही

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिप्रसङ्गेन ।
प्रकुतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गाग् ॥

१. द्रष्टव्य सा का. ६२
तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥

२. द्रष्टव्य सा. का. ६४
एवं तत्त्वाभ्यासान्निस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥

ाड़ीं। इसका समाधान यह है कि अविद्या संस्कार अनादि होने पर भी सान्त है। नष्ट होने वाला है, और उसका यह अन्त या विनाश उसकी अपेक्षा अर्वाचीन या अभिनव ज्ञान संस्कार से भी हो जायेगा। क्योंकि तत्त्वोन्मुखता बुद्धि का स्वभाव ही है. जैसा कि वेद बाह्यों (बौद्धों) ने भी कहा है: —"मिथ्या ज्ञान (क संस्कारों) से वस्तु-स्वरूप के निर्दोष (विशुद्ध) ज्ञान का कभी भी बाध नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि स्वभावत: (अप्रयास) ही तत्त्वज्ञानोन्मुखी होती है। इस अवस्था में जीव को बांधने वाला अज्ञान लेश मात्र भी नहीं अवशिष्ट रहता, इसी से ज्ञान को अपरिशेष —**अविद्यमानः परिशेषः किञ्चिदवशिष्टं ज्ञातव्यं यस्मिन् तत्**—कहा गया है। इसी अपरिशेष ज्ञान से सांख्य दर्शन का परम प्रतिपाद्य कैवल्य या मोक्ष प्राप्त होता है। जीव के बन्धन के कारण उसके परिहार से प्राप्तव्य मोक्ष (कैवल्य) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने से पृथक अध्यायों में विवेचित होंगे।

बन्धन तथा उसके कारण

अन्य सभी दर्शनों के समान सांख्य दर्शन में भी बन्धन तथा इसके साधनों का विस्तार से वर्णन किया गया है । प्रत्येक भारतीय दर्शन की यह समान विशेषता है कि उसमें व्यक्ति के सभी लौकिक व्यवहारों तथा उसके कारणों को बन्धन रूप बताने के साथ-साथ उससे घूटने के उपायों का भी निर्देश किया गया है । वास्तव में दर्शन शास्त्र का प्रमुख उद्देश्य ही यह है कि व्यक्ति जागतिक कार्य व्यवहारों को बन्धन तथा दुःखस्वरूप देखते तथा तत्काल उसके निवास के लिये प्रयत्न आरम्भ करें । इस प्रकार प्रत्येक दर्शन मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति का उपाय बताते हैं ।

वास्तव में यह बन्धन अविवेक तथा दुःख के बीच की कड़ी है । अर्थात् अविवेक से बन्धन उत्पन्न होता है ।[1] तथा इस बन्धन से दुःख का सृजन होता है । इस प्रकार अविवेक, बन्धन तथा दुःख यहां पूर्व-पूर्व उत्तर उत्तर का कारण है । इन तीनों की चर्चा प्रत्येक दर्शन में अपनी अपनी प्रक्रिया के अनुसार हुई है ।

बौद्ध दर्शन के चार आर्यसत्यों में प्रथम दो दुःख तथा दुःखसमुदय है । प्रथम सत्य में कहा गया है कि सभी व्यवहार दुःखस्वरूप है तथा द्वितीय सत्य के अनुसार उस दुःख का कारण भी वर्तमान है । यह कारण द्वादशाङ्गभव चक्र का चलना है । इस चक्र में सबसे प्रमुख अविद्या है जो कि उपरिलिखित अविवेक के अनुरूप है । इस प्रकार यहां दुःख तथा अविवेक की चर्चा हो गई है । आस्तिक दर्शनों में से न्याय के सूत्र में मिथ्या ज्ञान, दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दुःख यहां पहले पहले वालों को बाद वालों का कारण बताया है ।[2] इसमें स्पष्ट ही सबके कारण के रूप में मिथ्या

१. विपर्ययादिष्यते बन्धः– सांख्यकारिका ४४

२. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः । न्याय. १-१-२

ज्ञान अर्थात् अविवेक तथा इन सबके अन्तिम फल के रूप में दुःख को प्रस्तुत किया है । योगशास्त्र में भी अनागत दुःख को हेय बताया है ।[१] अतीत दुःख नहीं, अपितु भावी दुःख ही चिन्तनीय है । क्योंकि वही आगे कष्ट प्रदान करने वाला है । इस दुःख का कारण द्रष्टा अर्थात् पुरुष एवं दृश्य अर्थात् प्रकृति के संयोग को बताया गया है ।[२] अन्त में इसका भी कारण अविद्या को ही बताया गया है ।[३] इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी दर्शनों में दुःख तथा उसके कारणों की चर्चा हुई है । इससे ही यह भी व्याख्या है कि सभी दर्शनों का दुःख से छूटने का उपाय बताना अंत विषय है ।

सांख्य दर्शन भी इससे अछूता नहीं है । इसका प्रारम्भ ही तीन प्रकार के दुःखों के वर्णन से हुआ है । उन दुःखों से अत्यन्त अर्थात सदा के लिये छूटने को ही अत्यन्त पुरुषार्थ बताया है ।[४] तीन प्रकार के दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक हैं । जो आत्मा के सहायक शरीर एवं मन के अधीन दुःख हों, उन्हें आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है । इस प्रकार इस दुःख के अन्तर्गत शरीर तथा मानस दोनों प्रकार के दुःख सम्मिलित हैं । विभिन्न प्रकार की व्याधियां शरीर दुःख तथा पागल पन आदि मानस दुःख है । विभिन्न भूत अर्थात् प्राणियों से उत्पन्न होने वाला दुःख अधिभौतिक है । साथ ही अग्नि वायु इत्यादि से उत्पन्न होने वाले दुःख आधिदैविक दुःख के अन्तर्गत सम्मिलित है । यद्यपि सभी प्रकार के दुःख मानस है । क्योंकि इन सबमें मन अवश्य विक्षिप्त होता है । पुनरपि इतने दुःखों का विभाजन इस आधार पर है कि कुछ दुःख केवल मन के द्वारा है तथा कुछ मन के अलावा अन्य साधनों से मिल कर उत्पन्न होते हैं ।[५] इस प्रकार मन के साथ साथ

---

१. हेयं दुःखमनागतम् यो.सू.२-१६

२. दृष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः । योग.२-१६

३. तस्य हेतुरविद्या । योग.२-२८

४. अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः । सा.सू.१११

५. यद्यपि सर्वमेव दुःखं मानसं, तथापि मनोगतजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वविशेषः । सा.सू.११ पर विज्ञानभिक्षुभाष्य

अन्य साधनों से उत्पन्न होने वाले दु:खों को यहां मानस दु:ख से अलग गिनाया गया है ।

ये सभी प्रकार के दु:ख बन्धन से उत्पन्न होते हैं । **आचार्य वाचस्पति मिश्र** ने अपनी *सांख्य तत्त्व कौमुदी* में तीन प्रकार के बन्धन बताए हैं—प्राकृतिक, वैकृतिक तथा दक्षिणक । जो व्यक्ति प्रकृति को ही आत्मा समझते हुए उसकी ही उपासना करते हैं वे प्राकृतिक बन्ध की स्थिति में पहुंच जाते हैं । उसकी उपासना करने वाले पूर्ण मुक्त कभी नहीं हो सकते । पर वे सौ सहस्र मन्वन्तर के लिये प्रकृतिलय की दशा में पहुंच जाते हैं । इसी प्रकार वैकारिक बन्ध वह है जब कोई व्यक्ति भूत, इन्द्रिय, अहंकार इत्यादि विकारों को ही पुरुष समझ कर उसकी उपासना करता है । ये लोग सांसारिक मानवों से अच्छी दशा में कुछ काल के लिये पहुंच जाते हैं । पर अन्तत: पुन: इस संसार में लौटते हैं । इष्ट और अपूर्व अर्थात् यज्ञ तथा वापी कूपादि का निर्माण करने से दाक्षिणक बन्धन प्राप्त होता है । यह बन्धन भी सांसारिक बन्धनों से श्रेष्ठ है । पुनरपि बन्धन तो है ही यज्ञादि के करने पर भी लोभ, मोहादि विकार वर्तमान रहते ही हैं, जबकि मोक्ष के लिये इन का पूर्व नाश होना आवश्यक है । अत: ये सभी बन्ध कहे गये हैं ।

इन सभी प्रकार के बन्धनों का कारण अविद्या अथवा अविवेक है । सांख्य योग के बार बार इस अविद्या को ही समस्त दु:खों तथा बन्धनों का मूल बताया है । अत: इसकी विशेष रूप से व्याख्या आवश्यक है । न्याय में इसे मिथ्या ज्ञान कहा गया है । सामान्यतया मिथ्या ज्ञान तथा सांख्यसम्मत अज्ञान या अविद्या समानार्थक प्रतीत होते हैं । परन्तु वस्तुत: इनमें सूक्ष्म भेद है । इन दोनों शब्दों से दोनों दर्शनों के अलग-अलग सिद्धान्त संसूचित होते हैं ।

न्यायशास्त्र की अन्यथा ख्याति के अनुसार पूरोवर्ती वस्तु के स्थान पर किसी अन्य वस्तु का प्रत्यक्ष होता है । बाह्यार्थवादी सभी दर्शनों के अनुसार ज्ञान की यथार्थता का अनुमापक यह है कि वह बाह्य वस्तु के अनुरूप हो । वाह्य जगत् में किसी अन्य विशेष्य वाली वस्तु वर्तमान हो, पर तद्विषयक ज्ञान न हो तो उसे भ्रम कहा जायेगा । इस प्रकार ज्ञान की यथार्थता बाह्य वस्तु से नियन्त्रित होती है । न्याय

के अनुसार इस मिथ्या ज्ञान की दशा में बाह्यतया अन्य वस्तु के रहने पर किसी अन्यविषयक प्रत्यक्ष होता है जैसे इदं रजतम् यहां पर पुरोवर्ती शुक्ति के वर्तमान होने पर भी रजत विषयक प्रत्यय होता है । अत: यह मिथ्याज्ञान है ।

पर सांख्य शास्त्र में भ्रम के सम्बन्ध के प्रक्रिया मान्य नहीं है । उनका कहना है कि जब पुरोवर्ती स्थितशुक्ति है तो वह रजत का ज्ञान करा ही कैसे सकती है । सांख्य के अनुसार वस्तु इन्द्रिय प्रणालिका से जाकर बुद्धि को तत्तदाकर बनाती है तो अन्त में द्विषयक ज्ञान होता है । पर यह असम्भव है कि अन्य वस्तु बुद्धि का अन्य आकार बनावे । बाह्य शक्ति में यह सामर्थ्य कहां कि वह बुद्धि को रजताकार बना देवे । प्रत्येक वस्तु अपने अनुरूप तो बुद्धि को रंग सकती है, पर यह सम्भव नहीं कि वह कुछ वस्तु का रगं दे । अतएव सांख्य शास्त्र के अनुसार भ्रम स्थल में मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ख्याति नहीं, अपितु अविद्या अथवा अख्याति होती है । इसके अनुसार इदं रजतम् वाले स्थल में शुक्ति के स्थान पर रजत का प्रत्यक्ष नहीं होता । अपितु शुक्ति का ज्ञान नहीं हो पाता । साथ ही रजत नहीं है यह ज्ञान हो पाने के कारण वह व्यक्ति उसे रजत कह देता है । वस्तुत: उसे रजत का प्रत्यक्ष नहीं होता । इस समय दोषवश शुक्तिज्ञान होने से यह ज्ञान तो प्रतिबन्धित है ही । साथ ही गोघटादि जगत के अन्य पदार्थों में से भी यह नहीं है, इस प्रकार भी उसे स्पष्ट ज्ञात रहता है । अत: उसे वह गोघटादि भी नहीं कह पाता । पर रजत नहीं है इस प्रकार का ज्ञान उसे नहीं हो पाता । अत: वह विवशतावश उसे रजत ही कह देता है । यही सांख्यों की अख्याति है ।

ऊपर के विवरण से प्रकट है कि न्याय में अन्य के स्थान पर अन्य का प्रत्यक्ष होता है । पर सांख्य में अन्य का प्रत्यक्ष नहीं अपितु विवशतावश उसका प्रयोग हो जाना है । न्याय के अनुसार अविद्या में पर्युदास प्रतिषेध है । अर्थात् यथार्थमिव यथार्थ सदृश वस्तु का ज्ञान । पर सांख्य में प्रसज्यप्रतिषेध है—अर्थात् यथार्थ वस्तु की पूर्णतया बोध न होना अन्य का भी नहीं— पर उसका विवशतावश प्रयोग होना ।

सांख्य में यह अख्यातिवाद कई प्रकार के विशेष सिद्धान्तों के कारण है । प्रथम सिद्धान्त यह कि किसी वस्तु के बोध का यथार्थ बाह्य पदार्थ पर निर्भर रहता

है । द्वितीय वह वस्तु बुद्धि में अन्य प्रकार का आकार बनाने में असमर्थ है । तृतीय-यदि किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान है तो उसके विषय को बाह्य रूप से सदा वर्तमान होना चाहिये । अर्थात् सत्कार्य बाद सिद्धान्त के द्वारा उनका कभी नाश नहीं हो सकता । इससे स्पष्ट है कि जिसका भी भ्रम होता है, उसका विषय बाह्य रूप से कभी भी नहीं रहता । इस प्रकार इस सम्पूर्ण जीवन में जो बहुत से मोक्षप्रतिबन्धक भ्रम हैं उन का विषय जगत् में वर्तमान नहीं । अपितु केवल अख्यातिवाद सिद्धान्त के कारण उसका ग्रहण होता है ।

सांख्य में सबसे बड़ी अविद्या प्रकृति पुरुष का विवेक न होना है । प्रकृति तथा पुरुष के गुण एवं कार्य पूर्ण रूप से भिन्न भिन्न हैं, पुनरपि अविद्यावश उनको एक दूसरे के स्थान पर समझ लिया जाता है । सांख्य के अनुसार पुरुष नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है । नित्यशुद्ध का अर्थ यह है कि उसमें कोई विकार नहीं आता । सामान्यतया प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन दु:ख सुख, काम, क्रोधादि, विकारों से ग्रस्त होता है । वह उसे पुरुष अर्थात् चेतना का ही धर्म समझता है । पर यह वास्तविकता नहीं । क्योंकि सभी प्रकार के सुख, दु:खादि भाव बुद्धि आदि के ही धर्म है । ये सभी विकार सात्त्विक राजस अथवा तामस होते हैं । ये तीनों गुण निश्चित रूप से प्रकृति के होते हैं । अत: यह स्वाभाविक है कि ये सभी विकार प्राकृत है । पुनरपि अज्ञातवश इसे प्रकृति का धर्म समझ लिया जाता है । पुरुष कदापि किसी भी परिस्थिति में इन विकारों से संसक्त नहीं होता, यह दिखाने के लिये यहां नित्य शब्द का प्रयो किया गया है ।

पुरुष नित्यबुद्धस्वभाव है—अर्थात् सर्वदा चिन्मात्र है । अत: जीवन, मरण, मूर्च्छा इत्यादि विकारों से भी वह कदापि सम्पृक्त नहीं हो सकता । साथ ही अनुभावस्वरूप होने के कारण वह कदापि इस विशेषता से अलग नहीं हो सकता । पर ज्ञान अथवा बोध को बुद्धि की विशेषता समझ लेना भी इसी अविद्या के कारण होता है ।

इसी प्रकार पुरुष नित्यमुक्त स्वभाव है । जब वह सभी प्रकार के विकारों से रहित है तो उसका इन सबसे बद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता । अत: पुरुष सदा

ही मुक्त है । पुनरपि मोक्ष या कैवल्य प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है, वह वस्तुत मोक्ष प्राप्ति के लिये नहीं, अपितु अविद्या निवृत्ति के लिये है । अविद्या या अविवेक की पूर्ण निवृत्ति के बाद पुरुष का अपने स्वरूप मे होना ही मोक्ष है । पुरुष के अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण वह प्रकृति के गुणों को आत्मसात् करता हुआ सा प्रतीत होता है । पर वस्तुत: वह उससे यत्किंचित् भी सम्पृक्त नहीं होता ।

इस प्रकार प्रकृति तथाँ पुरुष ये दोनों नितान्त भिन्न मूल तत्त्वहै । पर अविद्या वश प्रकृति के धर्म पुरुष में तथा पुरुष के धर्म प्रकृति में समझ लिये जाते हैं । यह बड़े बड़ी अविद्या अथवा अविवेक है । इस अविवेक का निवारण करते हुए विवेक ख्याति करना सांख्य का परम पुरषार्थ या परं उद्देश्य है । जगत् के सभी व्यवहार इस महती अविद्या से जन्य होते हैं । पुरुष का अपना स्वरूप न समझ पाने के कारण वह प्राकृत धर्मों से दु:खी, सुखी होता है । पुरुष का इन सब धर्मों से कदापि सम्बन्धित न होने पर भी सम्बन्ध समझना भ्रम ही ही । साथ ही बुद्धि धर्मों को ही चेतना समझ लेना भी भ्रम है ।

जगत् के सभी दु:ख बुद्धिजन्य, अहङ्कारजन्य, मनोजन्य, इन्द्रियजन्य या शरीरजन्य होते हैं । इन सभी में आत्मत्वारोप करने से इन सभी दु:खों को मानव अपना समझता है । इन सभी वस्तुओं को मैं समझना अथवा दुनिया का वस्तुओं को मेरा समझना अविद्या है । इस प्रकार अहं तथा 'मम' दोनों बुद्धियां अविद्याजन्य तथा दु:ख भूत है ।

इस अविद्या के कारण संसार के पदार्थ भी अशुद्ध रूप से समझे जाते हैं । जो पदार्थ जैसा नहीं, उसे अख्याति के द्वारा वैसा समझना अविद्या ही है । योग सूत्र में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि अनित्य पदार्थों में नित्यता की अशुचि अर्थात् अपवित्र पदार्थों में शुचिता की दु:खस्वरूप पदार्थों में सुख स्वरूपता की तथा अनात्मभू पदार्थों में आत्मत्व की भावना करना अविद्या है ।[१] पदार्थों को इस प्रकार समझने के कारण ही जगत् में असंख्यों प्रकार के दु:ख वर्तमान हैं । इस प्रकार

१. योग. सूत्र २-५

स्पष्ट हुआ कि प्रमुख रूप से तीन प्रकार की अविद्यायें हैं – प्रथम उदासीन तथा विकारों से रहित पुरुष को विकारवान् समझना अथवा बुद्धि मन इत्यादि को ही चेतना समझना द्वितीय जगत् के पदार्थों को मेरा समझना। वेदान्त में इन अविद्याओं को क्रमशः तादात्म्याध्यास तथा तद्धर्माध्यास नाम से अभिहित किया है।[१] तृतीय अविद्या वह है जिसमें जगत् के पदार्थों को अन्य रूप से समझ लिया जाता है। ये सभी प्रकार की अविद्याएं नितान्त दुःख मूल हैं।

यह अविद्या अनादि है। अर्थात् इसे किसी व्यक्ति विशेष ने किसी विशेष समय में उत्पन्न या प्रारम्भ नहीं किया है। अपितु यह अनादि काल से चली आ रही है। इस अविद्या से अनेकों प्रकार के बन्धन तथा उससे असंख्यों प्रकार के अनुभव तथा कार्य निर्मित होते हैं। ये अनुभव विभिन्न प्रकार की वासनाओं तथा जन्म मरण बन्ध के लिये उत्तरदायी हैं। इन सभी का सम्मिलित परिणाम दुःख होता है। साथ ही इन सबसे नई अविद्याएं तथा परिपक्व अविद्याएं उत्पन्न हो रहती है। इस प्रकार यह चक्र सदा चलता रहता है। किसी चक्र के सम्बन्ध में यह नहीं कही जा सकता कि कौन प्रारम्भ में है तथा कौन अन्त में। जबकि सभी एक दूसरे से उत्पन्न हो रहे हैं। पुनरपि अविद्या को सबका मूल कहा जाता है। वह इसलिये नहीं कि वह सबके प्रारम्भ में है—क्योंकि चक्र में प्रारम्भ की आशा करना व्यर्थ है, अपितु इसलिये कि वह सबसे प्रधान है। सभी दार्शनिकों ने इसे चक्र के रूप में ही स्वीकार किया है। बौद्धों में द्वादशाङ्ग भवचक्र के अन्तर्गत तो इसे स्पष्ट ही चक्र स्वीकार किया है। वहां भी यद्यपि अविद्या से ही प्रारम्भ किया है। तथापि चक्र होने के कारण प्रत्येक को प्रत्येक के प्रारम्भ में माना जा सकता है। न्याय में भी दुःख, जन्म, प्रवृत्ति इत्यादि का क्रम बताते हुए इसे चक्र ही स्वीकार किया है।[२] योग में भी क्लेशरूपी मूल से जाति, अर्थात् जन्म आयु अर्थात जीवनावधि तथा भोग के उत्पन्न होने की बात कही गई है।[३] यह भी चक्र है—क्योंकि उस भोग से पुनः

---

१. ब्र.ब्र.सू. १-११ पर शांकर भाष्य तथा भामती टीका

२. न्याय. सूत्र १.२

३. योग सूत्र २१-१२

नवीन तथा परिपक्व क्लेश तैयार होते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी अन्य सभी को जन्म देने के लिये उत्तरदायी है ।

ऊपर अनुभवों के द्वारा वासनाओं के स्थापित होने की बात कही गई है । ये अनुभव कुशल, अकुशल तथा अव्याकृत तीनों प्रकार के हो सकते हैं । पर कुशल या अकुशल कर्मों से ही वासना की स्थापना होती है, अव्याकृत से नहीं । कुशल अनुभव से जो वासना स्थापित होती है, वह आगे पुनः कुशल अनुभव उत्पन्न करती है, इसी प्रकार अकुशलता से भी । यद्यपि वासना स्वयं कुशल या अकुशल नहीं होती । वासना के सूक्ष्म होने के कारण सभी प्रकार की वासनाएं अव्याकृत ही होती हैं । अव्याकृत कर्मों से न तो कर्माशय संस्कार पैदा होते हैं, न वासना संस्कार । प्रथम प्रकार के संस्कार उसका बुरा या अच्छा कर देते हैं तथा वासना संस्कारों से उस प्रकार के पुनः अनुभव प्राप्त करने की इच्छा होती है । पर अव्याकृत कर्म से कोई भी संस्कार पैदा नहीं होता । यदि लेटते समय करवट बदलने से बिना जाने कोई मच्छर मर जाता है तो उससे कोई वासना नहीं तैयार होगी । वहां न तो कर्माशय संस्कार से बनने वाला दुःख रूप फल प्राप्त होगा; नहीं वासना संस्कार से बनने वाले नए हिंसारूप कर्म उत्पन्न होंगे । इसी तथ्य को योग में **क्लेशमूलः कर्माशयः दृष्टादृष्टजन्यवेदनीय** सूत्र से कहा गया है । यह कुशल या अकुशल कर्म क्लिष्ट कर्म कहे गये हैं । इनसे कर्माशयसंस्कार पैदा होता है, जिसका कल इस जन्म में भी मिल सकता है । ठीक यही धारणा बौद्धों की भी है । अनेक मत में भी कुशल या अकुशल रूपस्थिर कर्मों से ही पाप, पुण्य रूपी कर्म वासना तैयार होती है, जो कि इस जन्म या अगले जन्म में दुःख या सुख रूप फल देने के लिये उत्तरदायी है ।

वासना संस्कार का विस्तृत अर्थ तथा चक्र इस प्रकार है—किसी भी वस्तु के अनुभव करने से जो अच्छी या बुरी बासना तैयार होती है, उसे योगसूत्र में वासना संस्कार कहा गया है ।[१] इसके कारण ही जब कोई व्यक्ति उसे पूर्व देखी गई तथा वासना संस्काररहित वस्तु को दुबारा देखता है तो उसे प्राप्त करने की इच्छा करता

१. योगसूत्र व्यासभाष्य २-१५ में विस्तृत विवेचन

है, या उससे दूर भागता है । शेर को देखकर जो वासना संस्कार बैठता है, उसके कारण ही उसे पुन देखते ही कांपने लगता है । किसी प्रिय वस्तु का अनुभव करके उसकी पुनः इच्छा भी इसी संस्कार के कारण होती है । यह चक्र इस प्रकार है– किसी वस्तु का अनुभव करने से अन्तःकरण में वासना संस्कार उत्पन्न होते हैं । इस वासना संस्कार से उसका पुनः स्मरण उत्पन्न होता है । इससे उसके प्रति राग होता है। इससे काय वचन में चेष्टा होती है। रागयुक्त अन्तःकरण इन्द्रियों को तदनुकूलता कार्य करने के लिये आदेश देता है । तभी इन्द्रियां उस प्रकार का कार्य करने लगती हैं । इससे द्विविध व्यापार होता है । एक ओर तो योग के शब्दों में कर्माशय संस्कार तैयार होते हैं । जो इस या अगले जन्म में बुरे या अच्छे करा देने के लिये उत्तरदायी हैं । इन्हें ही न्यायशास्त्र में धर्माधर्म तथा बौद्ध दर्शन में कर्म वासना कहा गया है ।[१] दूसरी ओर इसी इन्द्रियजन्य अनुभव से वासना संस्कार या बौद्धों के अनुसार विपाकवासना तैयार होती है । जिसके कारण पुनः वैसा स्मरण होता है, पुनः राग पुत्र चेष्टा इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है तथा वासना निरन्तर और दृढ़ होती जाती है ।[२] इस दृढ़वासना के कारण ही जिस वस्तु को जैसा समझ चुके हैं उससे भिन्न प्रकार का जल्दी समझने को तैयार नहीं होते ।

यह अविद्या बुद्धि का धर्म है । पर वह उससे भिन्न नहीं । सांख्य कारिका में बुद्धि के अध्यवसाय आदि धर्म बताते हुए उन्हें अभिन्नरूप से ही निर्दिष्ट किया है । पर वास्तव में सांख्य सिद्धान्त में धर्म धर्मी, क्रिया क्रियावान् इत्यादि में भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकार्य है । क्योंकि नितान्त भेद तथा नितान्त अभेद दोनों प्रश्नों में दोष है । अतः यहां भेद सहिष्णु अभेद स्वीकार्य है । **आचार्य वाचस्पति मिश्र** ने अध्यवसायों बुद्धि इत्यादि की व्याख्या करते हुए कहा है कि यहां क्रिया, क्रियावान् में अभेद की विवश करके निर्देश किया है । इसका तात्पर्य यही कि वैसे तो सांख्य में नितान्त अभेद स्वीकार्य नहीं है पुनरपि यहां सामान्य लौकिक विवश करके ऐसा प्रयोग किया है ।

---

१. त्रिंशिका श्लोकान्त में वर्णित स्थिर मति टीका

२. सुखानुभावों हि संस्कारमाधते स च सुखस्मरणं तच्च रागं इत्यादि– २.२५ पर

इस प्रकार अविद्या बुद्धि से भेदाभेद रूप से सम्बन्धित है । *सांख्य कारिका* तथा *सांख्य सूत्र* दोनों में ही इस अविद्या के अलावा अन्य भी सात् रूप गिनाए हैं ।[१] वहां कहा है कि धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य में इसके सात्त्विक रूप है तथा अधर्म अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य ये तामस रूप है । इन आठों रूपों में ज्ञान को छोड़कर सभी का अनुष्ठान अज्ञान के बिना सम्भव नहीं । इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी के मूल में अज्ञान है जो बुद्धि के विभिन्न रूपों को रखता है । पिछले पृष्ठों में अज्ञान के ३ प्रकार बताए हैं । पर यहां सांख्य कारिकाकार ने अज्ञान के अन्य ६ भेद बताए हैं । इनकी व्याख्या आगे प्रस्तुत है ।

याग, दान इत्यादि अनुष्ठान करने से धर्म होता है । इससे विभिन्न प्रकार के सुख इत्यादि अभ्युदय प्राप्त होता है । साथ ही इससे द्युलोक प्रभृति ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति होती है । यह लौकिक दृष्टि से शुभ होते हुए भी अन्ततः अज्ञान का ही एक सूक्ष्म है । क्योंकि इस प्रकार के कार्य में लोभ, मोह इत्यादि मानसिक विकार बने ही रहते हैं, विभिन्न प्रकार की वासनाओं का क्षय नहीं होता । साथ ही इन बौद्ध विकारों से पुरुष को विविक्त करने की प्रक्रिया का विकास नहीं होता । इसका फल भी एकान्त रूप से सुख नहीं है । अपितु लौकिक सुख के समान दुःखमिश्रित है । इस सुख का भी ह्रास होने से यह आत्यन्तिक भी नहीं है ।

वैराग्य का अर्थ रागाभाव है । रागादि के मानसिक विकारों के अभाव की ओर प्रयत्न ज्ञान की उपलब्धि में सहायक होता है । पुनरपि इस वैराग्य को अज्ञान का ही एक रूप माना गया है । इसका कारण यह है कि यह वैराग्य ज्ञान उपलब्धि में सहायक तो है, पर स्वयं में अज्ञान ही है । अन्ततः ज्ञानोपलब्धि से पूर्व प्रत्येक क्रियाएं तथा व्यवहार अज्ञान ही तो कहे जायेंगे । यदि वे साधन ही ज्ञान हो तो उस ज्ञान प्राप्ति के लिये कोई प्रयत्न व्यर्थ है । अतः स्पष्ट है कि धर्म वैराग्य आदि ज्ञान में सहायक होकर भी अज्ञान है । ये अज्ञान होकर भी ज्ञान में सहायक होने से ही

---

१. सांख्य कारिका श्लोक २३ पर तत्त्वकौमुदी तथा सांख्य सूत्र ३-३७ में विस्तार से वर्णन है ।

शुभ अथवा उत्तम माने जाते हैं तथा इनके अनुष्ठान की प्रेरणा दी जाती है । **पंचदशी** में इसका एक बहुत सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा है कि मणि की प्रभा को ही मणि समझ कर भागने वाले व्यक्ति को मणि प्राप्त हो ही जाती है । यद्यपि प्रभा मणि नहीं है । यह संवादिभ्रम है ।[१] अर्थात् साधन दूषित या भ्रान्त होकर भी कभी कभी अर्थक्रिया को सन्पन्न कर देता है । **भामतीकार** ने भी इसका एक सुन्दर उदाहरण दिया है ।[२] न्याय शास्त्र में भी तर्क को यथार्थ ज्ञान में सहायक मानते हुए भी स्वयं अययार्थ ज्ञान के अन्तर्गत ही माना जाता है । इसी प्रकार यहां वैराग्य आदि ज्ञान में सहायक होकर भी अज्ञान के ही रूप हैं ।

तत्त्वकौमुदीकार ने चार भेद अथवा संज्ञाएं बताई हैं — यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा, वशीकार संज्ञा । इन्द्रियां राग, द्वेषादि के प्रति स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होती हैं । असकी ओर प्रवृत्त न होने देने के लिये प्रारब्ध प्रयत्न को ही यतमान संज्ञा कहा जाता है । इन मलों के प्रक्षालन का प्रयत्न करने पर भी कुछ तो शान्त हो जाते हैं तथा कुछ अविशिष्ट रह जाते हैं । शान्त सुर मलों को अशान्त से अलग रखने का नाम व्यतिरेक संज्ञा इसमें मत प्रयत्न किया जाता है कि कहीं वे अशान्त मल शान्त को भी प्रभावित न कर दे । इन्द्रियों की प्रवृत्ति के असमर्थ होने पर भी मानसिक रूप से उभड़ने न देने के प्रयत्न को एकेन्द्रिय संज्ञा कहा जाता है । विभिन्न प्रकार के विषयों के रहने पर भी उस ओर मानसिक रूप से भी प्रवृत्त न होना ही वशीकारसंज्ञा वैराग्य है । यही सबसे उत्तम वैराग्य है । क्योंकि यह बहुत कठिन होता है कि पदार्थ सामने रहने पर भी उस ओर इन्द्रियां न जावें । यहां तक कि उस ओर मानसिक रूप से भी इच्छा न हो । इस वैराग्य से प्रकृति लय प्राप्त होता है ।

---

१. मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति । पञ्चदशी ९-२

२. वर्णे ह्रस्वत्वदीर्घत्वादयोऽन्यधर्मा अपि समारोपितास्तत्प्रतिपत्तिहेतवः । न हि लौकिकी नाग इति वा नग इति वा पदात् तरुं कुमुदं वेती प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः । ब्र.सू. १-१-१ पर भामती

ऐश्वर्य भी बुद्धि धर्म है तथा अज्ञान का ही एक रूप है । यौगिक क्रियाओं तथा साधना के द्वारा व्यक्ति के शरीर, इन्द्रिय आदि में विशेष प्रकार का अलौकिक शक्ति आ जाती है । जिससे वह अनेकों आश्चर्यजनक कार्य करने लगता है । पर यह सब अन्ततः अज्ञान है । क्योंकि उस समय शरीर, इन्द्रिय आदि तथा विभिन्न क्लिष्ट क्रियाएं वर्तमान रहती हैं, जो कि अज्ञान का प्रमुख लक्षण है ।

इस ऐश्वर्य के भेद बताए गये हैं । वे इस प्रकार हैं —अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्रकाम्य, ईशित्व और वशित्व । अणिमा का अर्थ छोटा होना, लघिमा तथा गरिमा का अर्थ क्रमशः हल्का तथा भारी होना है । महिमा से तात्पर्य बड़ा होना है । प्राकाम्य का अर्थ इच्छा का अवरोध या साकल्य है । ईशित्व का भूत, भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति तथा नाश आदि में समर्थ होना है । वशित्व का अर्थ प्रत्येक पदार्थ के प्रति स्वामित्व होना है । ये ऐश्वर्य लौकिक दृष्टि से तो बड़े ही चमत्कार पूर्ण हैं । पुनरपि तत्त्वज्ञान की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है ।

तामस रूपों में अज्ञान के अलावा, अधर्म अवैराग्य तथा अनैश्वर्य सम्मिलित हैं । इनका अज्ञानत्व ही सहज ही सिद्ध है साथ ही इनकी व्याख्या भी सात्त्विक रूपों के अभाव के रूप में ली जा सकती है ।

सांख्य कारिका श्लोक ६३ में कहा गया है कि प्रकृति धर्म, अधर्म, इत्यादि सात भावों से अपने को बांधती है तथा केवल विवेकख्याति या ज्ञान रूप के द्वारा वह कैवल्य प्राप्त करती है । इससे भी स्पष्ट है कि ज्ञान को छोड़कर धर्मादि सभी अविद्या के ही रूप हैं । यद्यपि उनकी व्याख्या के लिये अलग पाठ किया गया है ।

अज्ञान की अन्य प्रकार से वर्गीकृत तथा व्याख्या—

सांख्य कारिका तथा सांख्यरूप में भी इन्हीं बुद्धि धर्मों को साधकों के लाभ के निमित्त अन्य प्रकार से वर्गीकरण करते हुए समझाया है । साधकों को अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये इन धर्मों से बचते हुए उनकी यात्रा में संलग्न रहना चाहिए । ये भेद इस प्रकार हैं — विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि । विपर्यय का

अर्थ मिथ्याज्ञान है । अन्य स्पष्ट ही है । आचार्यों ने इनके विभेद भी बताएं हैं, जो इस प्रकार हैं—

विपर्यय के तमस, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र नामक ५ भेद बताए गये हैं । इन्हें भी योग में क्रमश: अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन नामों से संसूचित किया है । इन सबके पुन: अवान्तर भेद बताए गये हैं । तमस् और मोह के आठ आठ, महामोह के दस तथा तामिस्र और अन्धतामिस्र के १८-१८ भेद गिनाये गये हैं । आत्मा से अतिरिक्त प्रकृति महत्, अहङ्कार तथा पंच तन्मात्रों में आत्मभावना तमस् या अविद्या है । इसके विषयों के आठ प्रकार होने के कारण इसका अष्टविध होना सिद्ध है । देवता लोग आवेगा इत्यादि आठ प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त करके उन्हें शाश्वतिक तथा परमपुरुषार्थ मानते हैं— यह मोह है । यह भी अपने विषयों के आठ प्रकार का होने के कारण आठ प्रकार का है । शब्द आदि ५ विषय दिव्य, अदिव्य के भेद से दस प्रकार के होते हैं । इन विषयों के प्रति आसक्ति ही महामोह है । यह भी अपने विषयों के दस प्रकार का होने के कारण दस भेदों वाला है । शब्द आदि दस विषयों के साथ यदि अणिमादि भी मिला दिया जाये तो १८ भेद हो जाते हैं । इन दोनों में एक सूक्ष्म भेद यह है कि शब्दादि तो साक्षात् ही आसक्ति के विषय है, पर अणिमादि परम्परा से । क्योंकि अणिमादि का सेवन अन्तत: शब्दादि के लिये ही किया जाता है । अत: ये स्वरूपत: नहीं, अपितु परम्परया रञ्जनीय हैं । पर ये १८ प्रकार के सभी विषय द्वेष को उत्पन्न करने वाले हैं । क्योंकि उनसे अपनी पूर्ण इच्छा की तृप्ति न होने पर अथवा इच्छित ऐश्वर्य प्राप्त न कर पाने पर उनसे द्वेष उत्पन्न होता है । इनके प्रति होने वाला यह द्वेष ही तामिस्र है । यह अपने विषयों के भेद से १८ प्रकार का कहा गया है । अन्धतामिस्र के भी उपर्युक्त १८ विषय होते हैं । इन विषयों के प्रति होने वाला भय अन्धतामिस्र है । देवता अणिमा इत्यादि ऐश्वर्यों को प्राप्त करके डरते हैं कि कहीं हमारे शब्दादि भोग तथा अणिमादि ऐश्वर्य असुरों द्वारा नष्ट न कर दिये जायें । यही भय अन्धतामिस्र या अभिनिवेशकता कहा जाता है । इस प्रकार यह पांच प्रकार का विपर्यय सूक्ष्म भेदों के कारण ६२ प्रकार का होता है ।

अशक्ति नामक बुद्धि के कुल २८ भेद बताए गये हैं। इनमें से ११ प्रकार की अशक्तियां ११ प्रकार की इन्द्रियों की विकलता अथवा उपपात के कारण उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार यहां इन्द्रियवध कारण है तथा बुद्धि वैकल्य उसका फल है। पर सांख्य कारिक में हेतु और हेतुमान् में अभेद विनाश करके इन्द्रिय बध को ही बुद्धिवध कहते हुए समानधिकरण निर्देश कर दिया है। इसके साथ ही ऊपर वर्णित तुष्टि तथा ८ सिद्धि की अशक्ति के द्वारा कुल १७ प्रकार की अशक्ति कही जाती है। इन १७ तथा ११ प्रकार की अशक्तियों को मिलाने से कुल १८ प्रकार की अशक्ति कही जाती हैं।

तुष्टि के उन भेदों का वर्णन इस प्रकार है—

प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य नामक चार आध्यात्मिक तथा विषयों से वैराग्य उत्पन्न होने के कारण पांच बाह्य- इस प्रकार कुल ९ तुष्टियां मानी गई हैं।

ये आध्यात्मिक तुष्टियां आत्मा के सम्बन्ध भ्रम के कारण से होती है। पहली प्रकृति नामक तुष्टि का अर्थ यह है—यदि कोई गुरु किसी साधक से कहे कि विवेक साक्षात्कार प्रकृति का परिणाम ही है। इस प्रकार उसे प्रकृति ही उत्पन्न करती है। अत: उससे अतिरिक्त आत्मा का अभ्यास व्यर्थ ही है। इस प्रकार के उपदेश से प्राप्त होने वाली तुष्टि 'प्रकृति' है। इसे ही 'अम्भः' भी कहा जाता है।

उपादान नामक तुष्टि इस प्रकार का उपदेश देने से होती है। वह विवेक ज्ञान प्रकृति का परिणाम विशेष होकर भी केवल प्रकृति से नहीं होता। अन्यथा सबके प्रति प्रकृति के समान रूप से होने के कारण सभी को सर्वदा विवेक ज्ञान होने लगेगा। इसके विपरीत यह सन्यास से होता है। अत: तुम सन्यास ही धारण करो। इस प्रकार के आदेश से प्राप्त तुष्टि उपादान है। इसे ही 'सलिल' भी कहा जाता है।

काल नामक तुष्टि निम्न प्रकार के उपदेश से होती है। संयास भी शीघ्र अपवर्ग देने वाला नहीं है। वह कालान्तर में परिपक्व होकर विवेकज्ञान दे देना। उद्विग्न

से कोई लाभ नहीं । इस प्रकार के उपदेश से प्राप्त तुष्टि काल है । इसे 'ओघ' शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है ।

'भाग्य' नामक तुष्टि भाग्य के उपदेश से प्राप्त होती है । यथा—विवेकज्ञान न प्रकृति से न काल से, न सन्यास ग्रहण करने से अपितु भाग्य से प्राप्त होता है । जिस प्रकार मदालसा की सन्तानें बाल होने पर भी भाग्यवश मुक्त हो गईं । इस तुष्टि को 'वृष्टि' नाम से भी अभिहित किया गया है ।

शब्दादि विषयों से वैराग्य होने के कारण उत्पन्न होने वाली तुष्टियां ५ प्रकार की है । आत्म भिन्न प्रकृति महतत्त्व इत्यादि का आत्मा समझते हुए शब्दादि विषयों से वैराग्य होने पर जो तुष्टियां होती है, वे बाह्य पदार्थों को विषय बनाने के कारण बाह्य है । उपरिलिखित वैराग्य -उपादन, संरक्षण, विनाश, योग और हिंसा इन ५ कारणों से उत्पन्न होता है । इस तुष्टि को ५ कारणों वाली होने के कारण इसे ५ प्रकार की बताया गया है । ये कारण अत्यन्त स्पष्ट है । अत: इनकी व्याख्या की अवश्यकता नहीं ।

आठ प्रकार की सिद्धियां इस प्रकार है -ऊह, शब्द, अध्ययन, त्रिविध दु:ख विनाश, सुहृत्प्राप्ति तथा दान । इनके होने पर व्यक्ति अभिमान में पड़ जाता है । तथा ज्ञानमार्ग से झटक जाता है । इसें त्रिविध दु:ख विनाश मुख्य सिद्धि है—क्योंकि यह फलरूप है । अन्य पांचों सिद्धियां इस फल का उपाय होने से गौण है ।

गुरुमुख से शास्त्र पूर्वक अध्यात्म विद्या के श्रवण को ही यहां अध्ययन कहा गया है । यह आगे दु:खत्रयविनाश का कारण है, पर जो व्यक्ति इसे ही पूर्ण समझ ले, उसके लिये तो यह अज्ञान ही है । इसे संसार तरण का प्रथम हेतु होने से 'तारा' कहा गया है । इस अध्ययन का कारण शब्द है । यहां शब्द का अर्थ शब्दजनित अर्थज्ञान है । इस प्रकार अध्ययन से अर्थज्ञान होता है । तथा इस अर्थज्ञान से दु:खनिवृत्ति होती है । इस प्रकार यह सिद्धि कारण तथा कार्य दोनों है । इस सिद्धि को 'सुतारा' भी कहा जाता है । ऊहा का अर्थ अधीत युक्तियों की शास्त्रोक्त विधि द्वारा परीक्षा करना है, इससे वस्तु की सत्यता का निर्माण होता है । इसे ही 'मनना'

कहा जाता है तथा अधिक तारक होने से इसे 'तारतार' भी कहा जाता है । अपने द्वारा परीक्षित तथ्य ठीक है या नहीं, इस का निश्चय करने के लिये अन्य मित्रों की आवश्यकता होती है । उनके होने पर तत्त्व चिन्तन में सहायता मिलती है । अतः सुहृत्प्राप्ति होना । चतुर्थ प्रकार की सिद्धि है । 'दाना' नामक सिद्धि का अर्थ शुद्धि है । विवेकज्ञान की शुद्धि होने से दुःखमय की निवृत्ति होती है । इसको योगसूत्र में अविप्लव विवेकख्याति कहा है । यह सिद्धि ही सार्वकालिक आनन्द का हेतु होने के कारण 'सदा मुदिता' कहलाती है । दुःखत्रयविनाशरूप फलरूप मुख्य सिद्धियों को क्रमशः प्रमोद, मुदित तथा मोदयान भी कहा गया है । यही सम्पूर्ण बन्धनों की कारणभूता अविद्या की व्याख्या है, जिसकी निवृत्ति को ही मोक्ष कहा जाता है ।

कैवल्य

अन्य सभी दर्शनों के समान साख्य का भी चरम उद्देश्य दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा मोक्ष प्राप्त कराना है । न्याय शास्त्र भी तत्त्वज्ञान से निःश्रेयत्व की सम्पूर्ण व्याख्या करने से अपने को परिसमाप्त समझता है । वेदान्त दर्शन ब्रह्मज्ञान की व्याख्या अर्थात् मोक्ष का निरूपण करने में ही कृतकार्य होता है । **भगवान बुद्ध** ने भी चार आर्य सत्यों में से एक दुःखनिरोध को भी बताया है तथा इसका उपाय बताया है । इस प्रकार सभी दर्शन एक स्वर से इस तथ्य से सहमत है कि यद्यपि संसार दुःखस्वरूप है, पर इससे घुटने के साधन भी है, तथा इस दुःखरूपी संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति भी है, यद्यपि मोक्ष के स्वरूप तथा इनके साधनों के विषय के दर्शन में कुछ मतभेद हो सकता है ।

सांख्य शास्त्र में भी मोक्ष या कैवल्य तथा इसके साधनों का विस्तार से निरूपण किया है । इसके अनुसार दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है । यह निवृत्ति अज्ञान की निवृत्ति से होती है । अज्ञान अथवा अविद्या का विवेचन पिछले अध्याय में विस्तार से किया जा चुका है । वहां बताया गया है कि प्रकृति से पुरुष का अविवेक ही सबसे बड़ी अविद्या है क्योकिं यही सम्पूर्ण प्रकार के बन्धनों का मूल है । अतः इसका विवेक करना ही परम पुरुषार्थ है ।

इस अज्ञान को निवृत्त करने के लिये साधक को धीरे धीरे अभ्यास करना होता है । पहले तो स्थूल अज्ञानों की निवृत्ति आवश्यक होती है । अर्थात् अपने से जगत् के पदार्थों के साथ सम्बन्धों की निवृत्ति करते हुए यह भावना दृढ करनी होती है कि मैं उनसे विविक्त या पृथक हूं । फिर शरीर, इन्द्रियादि के प्रति आत्मत्व बुद्धि का प्रहाण करना होता है । धीरे धीरे विभिन्न प्रकार की अहङ्कार तथा ममकार की

भावनाएं शान्त होने लगती है । उनके शान्त होते ही बुद्धि की वृत्तियों पर भी नियन्त्रण होने लग जाता है । ये वृत्तियां शुद्ध हो जाती है । तथा अपेक्षाकृत बहुत कम हो जाती है । धीरे धीरे अधिकाधिक अभ्यास तथा साधना करने पर यह प्रक्रिया विस्तृत होती जाती है । अन्त में बुद्धि वृत्ति के अत्यधिक शान्त तथा शुद्ध होने पर बुद्धि में प्रकृति पुरुष विवेक की वृत्ति बनती है । यह बुद्धि की सर्वोत्कृष्ट वृत्ति है । इसमें पुरुष की दृष्टि प्रकृति से अपने को सर्वथा अलग देखने की होती है । इस वृत्ति के उदित होने पर सभी दु:खों का तिरोधान या नाश होने लगता है, क्योंकि सभी दु:ख अज्ञानमूलक वृत्तियों पर आधारित हैं । जब प्रकृति को आत्मा तथा पदार्थों को आत्मीय समझने का अज्ञान हो तो उसके आधार पर वृत्ति हो ही कैसे सकती है ?

पर यह प्रकृति पुरुष विवेक की वृत्ति लौकिक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट होने पर भी तुच्छ है । क्योंकि प्रत्येक प्रकार की वृत्ति पुरुष के संयोग से ही बनती है । इसलिये यद्यपि यह वृत्ति इस विवेक का पूर्ण अनुभव कर रही है, पुनरपि यह उसी संयोग की प्रक्रिया पर आधारित है । क्रमश: अधिकाधिक साधना होने पर इस वृत्ति का भी नाश हो जाता है । इस वृत्ति का नाश होते ही प्रकृति और पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध टूट जाता है तथा पुरुष स्वरूपस्थ हो जाता है,,यही कैवल्य है । प्रत्येक प्रकार की वृत्ति का नाश हो जाने पर वह बुद्धि के लक्षण के अनुसार उसमें किसी अध्यवसायादि वृत्ति के साथ अभेद बहुत आवश्यक है । वृत्ति से अभिन्न बुद्धि वृत्ति-रहित होकर नहीं रह सकती । वह तत्काल ही प्रकृति में लीन हो जायेगी । यही कारण है कि कैवल्य दशा में बुद्धि प्रकृति लीन होती कही जाती है । इसका विशेष विवेचन आगे होगा ।

बन्ध तथा मोक्ष दोनों ही दशाओं में, पुरुष के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता । वह सदा ही शुद्ध, बुद्ध, एवं मुक्त बना रहता है । पुनरपि बन्ध अवस्था उस प्रकृति के संयोग के कारण ही है । जिस प्रकार किसी स्फटिक पर किसी जपा इत्यादि पुष्प का उपराग पड़ने पर, वह स्फटिक भी उसी रंग के पुष्प वाला प्रतीत होता है । वास्तव में वह भ्रान्त प्रत्यय है । ठीक इसी प्रकार पुरुष कदापि प्रकृति के विकारों वाला नहीं होता । पुनरपि उसे भ्रान्ति से वैसा समझ लिया जाता है । यद्यपि पुष्प

का उपराग पड़ने पर स्फटिक में कुछ परिवर्तन अवश्य होता है उसमें एक विशेष प्रकार की लालिमा आ जाती है। जो कि पहले नहीं थी। यदि उसमें इस प्रकार का यत् किंचित परिवर्तन न हो तो उसे फूल वाला समझने की भ्रान्ति भी न हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि उसमें भ्रान्ति के लिये कोई परिवर्तन होना अवश्यंभावी है ठीक इसी प्रकार बन्ध-दशा में पुरुष में यदि यत्किञ्चित भी परिवर्तन न हो तो उसके विकारी होने की भ्रान्ति ही कैसे होगी। इसे लगता है कि उसमें परिवर्तन अवश्य होता है। पर इस दशा में उसकी अपरिणामिता तथा नित्य शुद्धि आदि विशेषणों पर आघात पहुंचता है। इस प्रकार दोनों ही पक्षों में समस्या वर्तमान है। इसका उत्तर यह है कि संयोग होने पर वस्तु में यत्किंचित परिवर्तन तो अवश्य होता है। एक दूसरे पर तनिक भी प्रभाव न पड़ने पर संयोग ही न हो सकेगा। अत: पुरुष का प्रकृति से संयोग होने पर उस पुरुष में परिवर्तन तो अवश्य होता है। पुनः वह पुरुष नित्य शुद्ध कैसे कहा जा सकता है ? इसके उत्तर के लिये एक बार पुन: स्फटिक के उदाहरण पर ध्यान देना होगा। वहां पर स्फटिक पुरुष से उपरक्त होने पर भी स्वच्छ बना रहता है। क्योंकि स्वच्छता का अर्थ किसी के प्रतिबिम्ब को अपने में आत्मसात् करने का सामर्थ्य रखना है। यह सामर्थ्य उस स्फटिक में पुरुष के उपराग से पूर्व भी तथा बाद के भी, अर्थात् दोनों दशाओं में वर्तमान रहता है। अत: वह स्फटिक दोनों दशाओं में शुद्ध ही कहा जायेगा। ठीक इसी प्रकार यद्यपि पुरुष प्रत्येक दशा में विकारों को आत्मसात् करने का सामर्थ्य रखता है, तथापि वह पूर्ण रूप से अपरिणत ही रहता है। इसलिये वह नित्य शुद्ध ही कहा जायेगा। पुरुष में बुद्धिविकारों को ग्रहण कर सकने का सामर्थ्य उसकी स्वच्छता का द्योतक है। यह सामर्थ्य किसी विकार को ग्रहण करने के बाद भी जाता नहीं। अत: वह नित्य शुद्ध है। स्फटिक में भी पुष्प का उपराग पड़ सकना, उसकी स्वच्छता को प्रकट करता है। उस पर उपराग पड़ने पर भी यह सामर्थ्य जाता नहीं। अत: उसे नित्य स्वच्छ मान जा सकता है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि प्रकृति और पुरुष का संयोग होने की दशा में पुरुष बुद्धि के विभिन्न आकारों का बोध करता है, तथा इस प्रकार से व्यास के शब्दों में

बुद्धि बोधात्मा बनता है । प्रत्येक दशा में वह ग्राह्यकता की क्षमता रखने के कारण शुद्ध बना रहता है ।

आचार्य वाचस्पति मिश्र प्रभृति कतिपय आचार्यों ने इस दोष से बचने के लिये एक प्रतिबिम्बवाद स्वीकार किया है ।[१] उनके अनुसार पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ने से वह बुद्धि चेतन सी होकर विभिन्न परिणामों को धारण करने लगती है । इस दशा में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष पर नहीं पड़ता, प्रत्युत बुद्धि पर पड़ी हुई उसमें प्रतिबिम्बित पुरुष छाया जिसे वेदान्त में चिदाभास कहा जाता है, वही उस बुद्धि के विभिन्न आकारों का ग्रहण या बोध कर लेता है । इस प्रकार बुद्धि के विभिन्न भावों का अवबोद्धा वह चिताभास है, पुरुष नहीं । इस स्थिति में पुरुष में कोई उपराग न पड़ने से वह सर्वदा स्वच्छ ही बना रहता है ।

इसके विपरीत द्विप्रतिबिम्बिवाद के **विज्ञानाभिक्षु** आदि आचार्यों के अनुसार पूर्वोक्त रीति से उस पुरुष की शुद्धि में कदापि कोई आघात नहीं पहुंचता । अतः बुद्धि की पुरुष में प्रतिबिम्ब माने तो भी कोई हानि नहीं है । यह बाद मानने पर सांख्य कारिका का वह युक्ति भी सार्थक होती है, जिसमें कहा गया है कि पुरुष कर्ता है; भोक्ता नहीं । इस उक्ति का आशय यह है कि पुरुष में अधिष्ठातृ रूप कर्तृत्व तो है किन्तु परिणामि रूप कर्तृत्व नहीं है । इस प्रकार पुरुष समस्त व्यापारों का अधिष्ठाता होता है, वह समस्त विकारों का बोद्धा होता है । पर बुद्धि परिणमित होती हुई मोक्षा होती है । पुरुष का कर्ता, अधिष्ठाता तथा अवबोद्धा बनना इस बात पर निर्भर है कि उस पर प्रकृति का उपराग पड़े तथा यह उसे आत्मसात करे । पर इस प्रकार करते हुए वह कोई क्रिया नहीं करता, जो उसे परिणामी कहा जा सके । स्फटिक पर पुष्प का उपराग पड़ते समय वह स्फटिक कोई क्रिया नहीं करता । इसी प्रकार चुन्बक लोहे को खींचते समय कोई क्रिया नहीं करता । तब भी वह चुम्बक अधिष्ठाता कहा जाता है । ठीक इसी प्रकार पुरुष भी कोई परिणाम अथवा क्रिया

---

१. बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिविम्बसंक्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुसः तथा च दृशिच्छायापन्नया बुद्ध्या संसृष्टा शब्दादयो विषया भवन्ति– तत्त्ववैशारदी प. २१४

न करते हुए भी अधिष्ठाता आदि कह दिया जाता है । लोक में प्रत्येक कार्य के लिये क्रिया के रूप में बोलने की चाल है । अतः यहां भी क्रिया की भ्रान्ति हो जाती है । पर यह वास्तविकता नहीं है ।

इस तथ्य के कारण ही पुरुष को कर्ता तथा अकर्ता दोनों ही कहा गया है । पुरुष इच्छाविलीन अर्थात् विभिन्न प्रकार के बुद्धि विकारों से विचलित या क्रियाशील अथवा परिणमित होने वाला नहीं है । अपितु वह सदा ही पूर्ण शुद्ध तथा अविकारी रहता है । अंतः अकर्ता है । साथ ही संयोग करने या अधिष्ठाता बनने से यह कर्ता है । पर यह क्रियापूर्वक अधिष्ठाता नहीं ।[१] इसलिये पुरुष के लिये जब भी किसी क्रिया सूचक शब्द का प्रयोग हो तो उसका अर्थ अभूत या अवर्तमान की वर्तमानता नहीं अपितु पहले से वर्तमान का ही उच्चारण है । योग सूत्र में पुरुष के कैवल्य के लिये कहा गया है । **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्** अर्थात् चित्तवृत्तिनिरोध होने पर पुरुष की स्वरूप में अवस्थिति होती है । यहां इसका यह अर्थ नहीं कि पहले से स्वरूपमें अनवस्थित की अवस्थिति होती है । अपितु सदा से ही वर्तमान स्वरूप में अवस्थिति होती है ।

ऊपर के विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष या कैवल्य पुरुष के लिये कोई नवीनतम या विशेषता नहीं अपितु वह पुरुष नित्यमुक्त है । इसलिये कैवल्य प्राप्त होता है, यह तात्त्विक दृष्टि से भ्रान्त वाक्य है । वास्तव में तो यह कैवल्य सदा ही प्राप्त है । वेदान्त की यह मान्यता है कि मोक्ष प्राप्य या विकार्य नहीं है । यह सांख्यों को भी स्वीकार्य है । जब वह वस्तु सदा से वर्तमान है तो उसकी प्राप्ति का अर्थ ही क्या ? इस प्रसार उसकी प्राप्ति **ग्रीवास्थ ग्रैवेयक न्याय** से होती है । जिस प्रकार कोई स्त्री अपने ही कण्ठ में पहने हुए हार को भूल गई हो तथा उसे खोज रही हो । उसे यदि बताया जाय कि वह उसके गले में ही है तो वह यह जान कर प्रसन्न हो जाती है । यहां पर उसे अप्राप्त हार की प्राप्ति नहीं, अपितु पूर्वतः प्राप्त की ही प्राप्ति

---

१. अतः आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्ता संनिधिमात्रतः ॥– योगवासिष्ठ ४-५६

है । इसी प्रकार यहां भी पूर्वत: प्राप्त किन्तु अविवेक या भ्रमेवश अप्राप्त सा प्रतीत होने वाले मोक्ष को ही प्राप्त करना होता है । इसीसे तो सांख्य कारिकाकार ९२वीं कारिका में **तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्,** इत्यादि का उद्घोष किया है । इस प्रकार मोक्ष के लिये प्रत्येक प्रयत्न बुद्धि के विकारों को निवारित करने के लिये है । पुरुष के किसी स्वरूप को बदलने के लिये नहीं । बुद्धि चाहे हो या न हो, पर पुरुष की शुद्धि में कोई व्याघात आने वाला नहीं । पर बुद्धि यदि किसी विकार का आकार बनाती है तो पुरुष उसका भी बोध कर लेगा । इससे पुरुष पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता । अपितु इस प्रकार के बोध से बुद्धि तथा शरीर इन्द्रियादि के व्यापार ही प्रभावित होते हैं । इस प्रकार संसार चल पड़ता है । चिन्मात्र पुरुष को चाहे किसी भी विषय से सम्पृक्त किया जाये उससे उसका कुछ नहीं विगड़ता । अपितु उस प्रकार के ज्ञान का संयोग होने से कुछ विषयात्मिका बुद्धि में ही परिवर्तन होता है जो आगे शरीर के विभिन्न परिवर्तनों तथा जगत् के व्यापारों में कारण बनता है ।

यदि पुरुष को यह बोध हो जाय कि ये सम्पूर्ण परिवर्तन अथवा विकार प्राकृत हैं, पुरुष का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं, तो जगत के विभिन्न परिवर्तनों से सम्बन्ध जोड़ने की प्रक्रिया टूटने लगती है । साथ ही प्राकृत अहंकार का विषय कभी तो शरीर, कभी इन्द्रियां तथा कभी बुद्धि आदि अन्त:करण बनते हैं ।यदि यह ज्ञानी हो जाय कि अहंकार तथा उसके सभी विषय प्राकृत होने से जड़ हैं तो उनके प्रति अभिनिवेश टूटने लगता है । दूसरे शब्दो में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि साधक ने ज्यो ही यह अनुभव कर लिया कि कर्त्री, भोक्त्री एवं परिणामिनी प्रकृति से अकर्ता, अभोक्ता एवं अपरिणामी पुरुष मैं सर्वथा विविक्त पृथक हूं त्यों ही पुरुष प्रकृति से उदासीन हो जाता है और प्रकृति भी पुरुष की ओर से उपरत हो जाती है अर्थात् उस पुरुष के प्रति अपना भोगादि व्यापार बन्द कर देती है । इस प्रकार दोनों का संयोग रहने पर भी सृष्टि—प्रकृति व्यापार का उस पुरुष के प्रति कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है । अवशिष्ट प्रारब्ध तो फल देता रहता है । पर रागद्वेषादि मनो विकारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता यही जीवनमुक्ति की दशा कही जाती है । इस

समय विभिन्न व्यापार तो होते हैं। पर वे क्लिष्ट नहीं होते। अर्थात् उन पर राग द्वेषादि मनोविकारों के सारे बन्धन टूट जते हैं। जैसा कह चुके इस दशा में बुद्धि अपने विभिन्न क्लिष्ट व्यापारों को बन्द कर देती है। इस प्रकार पुरुष को भोग मिलना या प्रतिबिम्ब पड़ना बन्द हो जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अज्ञान दशा में बुद्धि अनन्त प्रकार का आकार धारण करती हुई पुरुष को भोग करवा देती है। पर विवेक की स्थति में यही अपने विभिन्न व्यापारों को समाप्त करती हुई पुरष का अपवर्ग करवा देती है। अन्य सभी जगह अनेकों व्यापार या आयास करने पर ही कोई कार्य सम्पादित होता है। पर यहां कैवल्य का सम्पादन करने के लिये बुद्धि को कुछ करना नहीं होता उन विविध कार्यों को सम्पादन करने के लिये तो कुछ करने की जरूरत इसलिये हैं, क्योंकि वे कार्य कुछ परिवर्तन या यथास्थिति से कुछ वैपरीत्य मांगते हैं। पर पूर्व यथास्थिति के लिये कुछ करने की जरूरत नहीं होती। अतएव यथास्थिति प्राप्त होती है, या हो जाती है, यह कहना भी ठीक नहीं है। ठीक इसी प्रकार यहां भी बुद्धि पुरुष को कैवल्य प्राप्त करवाती है, यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि पुरष तो सदा ही कैवल्य स्वरूप है, उसे उसकी जरूरत नहीं। आवश्यकता केवल यह है कि बुद्धि अपने अविवेकपूर्ण आकारों को पुरुष को देना बन्द करे, जिससे वह उन्हें आत्मसात् न करे।

योगसूत्र २-१४ के व्यासभाष्य में प्रश्न के द्वार से इस बातको बड़े सुन्दर शब्दों में समझाया गया है।[१] वहां यह प्रश्न किया गया है कि बुद्धि अपने अनन्त कार्यों को करती हुई पुरुष को मोक्ष नहीं दे पाती तो वह निवृत्त होकर कहां से दे पायेगी ? यह प्रश्न इसी आधार पर है कि कोई नवीनता किसी कार्य से ही आती है, इसका उत्तर वहां यह दिया गया है कि बुद्धि निवृत्ति से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। अपितु बुद्धि निवृत्ति ही मोक्ष है। यहां उसके बाद कोई नवीनता या परिवर्तन नहीं लाया जाना है।

---

१. योगसूत्र २-२४ पर व्यासभाष्य

सांख्य कारिका ६२ में भी इन्हीं तथ्यों को अपने शब्दों में समझाया गया है। वहां कहा गया है कि प्रकृति या बुद्धि धर्म, अधर्म इत्यादि सात रूपों से पुरुष को भोग कराती है तथा आठवें रूप ज्ञान से कैवल्य करवाती है।[१] धर्म, अधर्मादि का विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है। एक अन्य कारिका ३ में कहा गया है कि विवेक हो जाने पर जब बुद्धि विभिन्न आकारों में परिणत होने से रुक जाती है, तब पुरुष स्वस्थ होकर प्रेक्षक के समान प्रकृति को देखता है। वास्तव में यह भी केवल समझाने की रीति है। तात्पर्य केवल इतना है कि पुरुष अपने स्वरूप में यथास्थिति होता है। उसमें कोई प्रतिबिम्बादि नहीं आते। अब वह साक्षी होने के कारण सुख दुःखादि किसी भी विकार का अनुभविता नहीं बनता। इस वास्तविकस्थिति की उत्पत्ति में हेतु प्रकृति पुरुषविवेक ख्याति ही है। जब तक बुद्धि उसे उत्पन्न कर पाती, तभी तक वह शब्द इत्यादि विषयों का बार-बार भोग करवाती है। परन्तु एक बार विवेक ख्याति उत्पन्न कर चुकने पर वह फिर भोग नहीं उत्पन्न कराती, क्योंकि भोग तो अविवेक के कारण होता है, उसके अभाव में नहीं, जैसे बीज के अभाव में उसका कार्य अंकुर नहीं होता। प्रकृति से अपने को विविक्त या भिन्न न समझने के कारण पुरुषार्थ सुख दुःख ओर मोह उत्पन्न करने वाले शब्द स्पर्श इत्यादि प्रकृति परिणामों को ये मेरे है ऐसा अभिमान करता हुआ उन्हें भोगता है। इसी प्रकार प्रकृति अन्य विवेकज्ञान को भी बहु समझता है कि यह मेरे लिये है। परन्तु विवेक विज्ञान उत्पन्न हो चुकने पर अविवेक रहित हो जाने के कारण वह न तो शब्द इत्यादि का भोग ही करता है, न प्रकृति जन्य विवेकज्ञान को ही अपने लिये समझता है और भोग एवं विवेक-ज्ञान तभी तक प्रकृति कृत सभी से कारण बनते हैं, अन्य तथा ये पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष के लिए अर्थनीय अर्थात् प्राप्तव्य नियम रहते है। ज्यों ही ये पुरुषार्थ (अर्थात् प्राप्त हो जाने के कारण पुरुष के लिये प्राप्तव्य) नहीं रहे त्यों ये प्रकृति कृत सर्ग के प्रयोजक भी नहीं रह जाते हैं।

---

१. रुपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मनात्मानं प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥सा.का.६२

इस प्रकार इस सम्पूर्ण विशुद्ध ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर सञ्चित धर्माधर्म शुभाशुभ कर्मों — का बीज-भाव या फलोत्पादकस्य नष्ट हो जाता है । परन्तु प्रारब्ध कर्मों —जिनसे विशिष्ट योनि वाला वर्तमान जन्म तथा उसमें होने वाले सुख दु:खादि भोग प्राप्त हुए हैं — के अवशिष्ट संस्कार भोग से ही क्षीण होंगे, ज्ञान से नहीं । अत: उनके सामर्थ्य से साधक, जो अब सिद्ध हो चुका है, वैसे ही शरीर धारण किये रहता है, जैसे दण्ड से चलाई गई कुम्हार की चाक पूर्व उत्पन्न वेग से चलती रहती है । जैसे वेग के समाप्त हो जाने पर चाक चलना बन्द कर देती है, वैसे ही अविशिष्ट प्रारब्ध संस्कार के क्षीण हो जाने पर शरीर भी व्यापार करना बन्द कर देता है, नष्ट हो जाता है है । इस विषय में **ईश्वरकृष्ण** की यह उक्ति सर्वथा संगत है—

सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीरः ॥
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥

(सा. का. ६७, ६८)

अनुभवात्मक या साक्षात्कारात्मक ज्ञान होने से लेकर शरीर नष्ट होने तक के बीच की स्थिति **जीवन्मुक्ति** कहलाती है, एवं शरीर नष्ट होने के बाद की अनवधि एवं अनन्त स्थिति **विदेहमुक्ति** । यही कैवल्य या अपवर्ग भी है ।

मोक्ष दशा मे पुरुष का स्वरूप कुछ भी बदलता नहीं है, यह पहले स्पष्ट कर दिया गया है । पुरुष का स्वरूप भी निरूपित कर दिया गया है । यह पुरुष वेदान्त के समान आनन्द स्वरूप नहीं है । सांख्य में इसे केवल चित्स्वरूप माना गया है, आनन्द स्वरूप नहीं । इस आनन्दस्वरूपता के निषेध के लिये वही युक्ति प्रस्तुत की जाती है जो न्याय वात्स्यायन भाष्य में प्रस्तुत की गई है । अर्थात् आनन्द बिना दु:ख के रह नहीं सकता । अत: यदि यहां आनन्द होगा तो दु:ख अवश्य रहेगा । फिर दु:ख के रहते मुक्ति कैसी ? दु:ख तो बना ही रहा, फिर मुक्ति किस से हुई, छुटकारा किससे मिला ?

आत्यन्तिक दु:खाभाव मानना समीचीन है। यह हो सकता है कि इस दु:खाभाव को ही उपचार या गौण रूप से ही आनन्द कह दिया जाये। जिस प्रकार कोई भार ढोने वाला व्यक्ति भार उतारने पर अपने को सुखी कहता है। वास्तव में वह सुखी नहीं, अपितु केवल दु:खाभाव वाला होता है। इसे ही सुखी कह दिया जाता है। ठीक इसी प्रकार यहां भी है।

सांख्य कारिका तथा सूत्र के समान योगसूत्र में भी कवैल्य का निरूपण हुआ है। उसमें अपवर्ग मोक्ष आदि शब्दों का प्रयोग न करते हुए कैवल्य शब्द का ही बार बार प्रयोग हुआ है। यह शब्द अतीव अन्वर्थक है। इसका अर्थ केवल भाव या केवल रूपता की प्राप्त होना है अर्थात् द्वितीय प्रकृति के संयोग संपूर्ण निवृत्त होना है। इस प्रकार यह शब्द ही मोक्ष की स्थिति का सम्पूर्ण वर्णन कर देता है। योग सूत्र में कैवल्य का स्वरूप अधोलिखित सूत्रों में वर्णित हुआ है।—

१. **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**। (समाधिपाद १ ३)

२. **तदभावात् सयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्** (साधनपाद २-२५)

३. **सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्** (विभूतिपाद ३-५५)

४. **पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति शक्तिः**। (कैवल्यपाद ४-३४)

प्रथम सूत्र में कैवल्य दशा के पुरुष का स्वरूप वर्णन किया गया है। द्वितीय सूत्र मे कैवल्य का एवरूप बताने के साथ साथ उसके उपाय का भी निर्देश हुआ है। वहां कहा गया है कि सम्प्रज्ञात योग आदि उपायों के द्वारा अविद्या का अभाव हो जाने पर उस अविद्या के कारण होने वाले प्रकृति पुरुष के संयोग का भी अभाव हो जाता है। यही दृशि अर्थात् चिति शक्ति का कैवल्य है।

विभूतिपाद में तृतीय सूत्र कैवल्य का निरूपण सुन्दर शब्दों में किया गया है। वहां कहा गया है कि सत्त्व अर्थात् प्रकृति तथा पुरुष की समान रूप से शुद्धि हो जाने पर कैवल्य होता है। यहां पर सत्त्वशुद्धि का अर्थ है पुरुष की बुद्धि से मित्रता

की ख्याति रूप का होना । भव्य शब्दों में बुद्धि में सत्त्व पुरुषान्यथाख्याति नामक नितान्त उत्कृष्ट वृत्ति का उदय होना है । इस अवस्था में दग्धक्लेशबीज हो जाने से प्रत्येक प्रकार करके क्लेष्ट कर्म समाप्त हो जाते हैं । इस प्रकार बुद्धि पुरुष के भोग के लिये प्रत्येक प्रकार के व्यापार वन्द कर देती है । पुरुष की शुद्धि का अर्थ उपचरित भोगों का भी अभाव है । पुरष के नितान्त अपरिणमिति तथा स्वच्छ होते हुए भी उसमें बुद्धि वृत्ति का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिसे पुरुष का भोग कहा जाता है । बुद्धि के स्वच्छ अर्थात् क्लिष्ट वृत्ति रहित होने पर बिम्ब के अभाव में प्रतिबिम्ब पड़ना ही असम्भव है । यही पुरुष का स्वरूप में अवस्थान या उसकी शुद्धि है । यह शुद्धि केवल उपचर्यमाण अशुद्धि के बाद होने वाली शुद्धि है । योग के इस सूत्र के अनुसार यही कैवल्य है ।

इस सूत्र में कैवल्य की दशा में बुद्धि की जो स्थिति बनाई गई है, वह जीवन्मुक्ति का स्वरूप है । प्रत्येक प्रकार की क्लिष्ट वृत्ति का नाश हो जाने पर भी सर्वोत्कृष्ट वृत्ति तो वर्तमान रहती ही है । जबकि विदेहमुक्ति के लिये प्रत्येक प्रकार की वृत्ति तुच्छ अतएव परिहेय है । अतएव इस वृत्ति के भी नाश होनेपर अर्थात् बुद्धि के प्रकृति में लीन हो जाने पर विदेहमुक्ति होती है । इस अवस्था मे सभी शरीरेन्द्रिय व्यापार असम्भव है, क्योंकि ये सभी बुद्धिवृत्ति तथा पुरुष भाग के ही अधीन होते हैं । बुद्धि-वृत्ति न होने पर इन सबका होना असम्भव है । जब शरीरपात हो जाता है तथा आत्यन्तिक विदेहमुक्ति हो जाती है ।

इस अवस्था में बुद्धि के अपने किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, न कोई हानि ही होती है । क्योंकि प्रयोजन सिद्धि चेतना या बोध निर्भर होती है । बुद्धि सब कुछ करती है । प्रत्येक प्रकार की वृत्ति बनाती है, पर अन्ततः उसका अनुभव उसे नहीं है । वह अपने होने या न होने के प्रति भी कुछ भी सचित्त नहीं है । इस प्रकार उसकी किसी भी कार्य से प्रयोजन की सिद्धि या असिद्धि नही होती । बुद्धि जो पुरुष के लिये जो विभिन्न् व्यापार करती है, वह भी उसका कोई प्रयोजन नहीं है । अपितु वह तो स्वभाववश यन्त्रगति से विभिन्न व्यापार बन कर लेती है । पुरुष संयोग के अभाव में वह अपना सब कार्य बन्द कर देती है । इससे उसकी अपनी

कोई हानि नहीं है । क्योंकि हानि का लाभ सभी कुछ अनुभव पर निर्भर हैं । बुद्धि के जड होने से उसकी कोई सिद्धि नहीं, उपितु सभी कुछ पुरुषार्थ है । इस प्रकार बुद्धि अन्तत: पुरुष के लिये ही कैवल्य सम्पादन करती है । उसका अपने लिये कोई कार्य नहीं है ।

योगसूत्र के कैवल्य पाद के अन्तिम सूत्र में कैवल्य का सर्वाङ्गसम्पूर्ण वर्णन किया गया है । यह वर्णन दो दृष्टियों से किया गया है – गुणों की दृष्टि से तथा पुरुष की दृष्टि से । गुणों की दृष्टि से कैवल्य बताते हुए कहा गया है कि भोगापवर्ग रूप पुरुषार्थ से रहित गुणों को प्रतिलोम परिणाम के द्वारा अव्यक्त प्रधान में विलीन हो जाना ही कैवल्य है क्योंकि तब गुणों से सम्पर्क या सम्बन्ध समाप्त हो जाने से पुरुष केवली हो जाता है और केवली की स्थिति ही कैवल्य है । तब त्रिगुणात्मिका बुद्धि पुरुष का कैवल्य सम्पादित कर देने के अन्तर या पार या वृत्ति से उपरत होकर प्रकृति में लीन हो जाती है, यही गुणों की दृष्टि से कैवल्य है । पुरुष की दृष्टि से उसका स्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही कैवल्य है जिससे स्फटिक में पुष्प का उपराग न पड़ने पर वह स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । उसमें प्रत्येक प्रकार की उपचर्यमाण उपाधि क्षीण हो जाती है । इसी प्रकार पुरुष की दृष्टि से भी बुद्धिवृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाली प्रत्येक उपाधि का क्षीण होना ही उसका कैवल्य है ।

उपसंहार

सांख्य दर्शन का अत्यन्त प्राचीन काल से ही समस्त भारतीय दर्शनों में प्रमुख स्थान रहा है । महाभारतकार ने **नहि साख्यसमं ज्ञानं न च योग समं बलम्** कथन करके दर्शन को बड़ा महत्व प्रदान किया है । इस कथन से इस वात को जानने की प्रबल इच्छा! मन में उदित होती है कि सांख्योपदिष्ट इस ज्ञान का क्या स्वरूप है ? क्योंकि उसे जाने बिना इसके महत्त्व के रहस्य का उद्घाटन नहीं हो सकता । इसी को जानने का प्रयास पूरे ग्रन्थ में हुआ है जिसके निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सांख्य दर्शन का यह ज्ञान जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष के विवेक या पार्थक्य का ज्ञान है । जड़ प्रकृति के प्रथम विकार महत् या कि मानव व्यक्तित्व में समाविष्ट जड़ प्रकृति के प्रथम विकार महत् या बुद्धि तत्त्व से उसके चेतन तत्त्व, जिसे वह पुरुष कहता है, को पृथक समझना, जड़ बुद्धि को नहीं अपितु चेतन आत्मा को मनुष्य का वास्तविक स्वरूप समझना ही पारमार्थिक या वास्तविक ज्ञान है । उसके उपदेश का तात्पर्य यह है कि जब तक मनुष्य अपने को जड़ बुद्धि से पृथक नहीं समझेगा, प्रकृति का कार्य होने के कारण अनित्य बुद्धि से अपने अविकारी एवं नित्य स्वरूप का विवेक अर्थात् भेद नहीं कर पायेगा, तब तक वह मृत्यु के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकेगा । उसका सिद्धान्त है कि जो सत् है, उसका कभी अभाव नहीं हो सकता, और जो असत् है, उसका कभी भाव नहीं हो सकता । यदि मनुष्य स्वरूपत: निर्विकार एवं नित्य नहीं है, तो लाख उपाय या यत्न करके भी वह नित्यता या अमरता नहीं प्राप्त कर सकता । जो स्वरूप से विकारी है, किसी का कार्य है, वह नित्य कैसे ? कहीं कार्य भी नित्य होता है ? जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट भी जरूर होता है, जिसकी उत्पत्ति है, उसका विनाश भी है । सांख्य मनुष्य की आत्मा को, उसके स्वरूप को अनित्य से भिन्न अर्थात् अविनाशी जानने को ही वास्तविक ज्ञान,

पारमार्थिक ज्ञान मानता है । मानवीय व्यक्तित्व के नित्य चिद्रूप के साक्षात्कार या दर्शन को ही मृत्यु के भय से मुक्त होने अर्थात् अमरता प्राप्त करने का अमोघ उपाय या साधन मानता है । मृत्यु के भय से मुक्ति मानव-जीवन का परम पुरषार्थ है जब बुद्धि जैसा सूक्ष्म तत्त्व भी मानव का स्वरूप नहीं है, तब शरीर, इन्द्रिय, मन या प्राण तो स्वरूप हो ही कैसे सकते हैं ? सांख्योपदिष्ट ज्ञान का यही स्वरूप है, जो अनुपम है । दार्शनिक विचारों के जगत में सांख्य दर्शन ने सर्वप्रथम मानव के इस वास्तविक रूप को सभी के समक्ष प्रस्तुत किया था । संख्या का अर्थ सम्यक् ख्याति अर्थात् सम्यग्ज्ञान है, जिसके स्वरूप का विवेचन अभी तक किया गया । इसी के द्रष्टा और उपदेष्टा होने से इस दर्शन का नाम साङ्ख्य (सङ्ख्या + अण्) पड़ा । **महाभारत** का **नहि साङ्ख्यसमं ज्ञानम्**[१] वचन सांख्य दर्शन के प्रधान प्रतिपाद्य इसी विवेकात्मक आत्मज्ञान के विषय में विशेष रूप से सार्थक है ।

यहां यह बात जानने की है कि **देहादिरेवात्मा** मानने वाले **चार्वाक** आदि भौतिकवादियों की मान्यता के विपरीत देह इन्द्रिय, मन इत्यादि से पृथक आत्मा मानने के कारण यद्यपि न्याय वैशेषिक दर्शनों का भी महत्व पर्याप्त है, फिर भी उनका आत्मविवेक सांख्य दर्शन के विवेकात्मक आत्म ज्ञान की अपेक्षा अवर या हानि कोटि का है, क्योंकि देहादि में अनुभूयमान सुख दुःखादि को वस्तुतः देहधारी जीवात्मा में स्थिति मानने के कारण देहादि के सुख दुःख से उस (जीवात्मा) को कभी भी पृथक या विविक्त नहीं कर सकता भला कोई स्वरूप या स्वभाव से विमुक्त हो सकता है ? इसी से न्याय वैशेषिक का आत्मज्ञान आदिम या प्राथमिक स्तर का है । उसकी अपेक्षा सांख्य दर्शन का आत्मज्ञान देहेन्द्रियादि भौतिक तत्त्वों एवं तत्सम्बद्ध सुखदुःखानुभव, दोनों से आत्मा को पृथक मानने के कारण उच्चतर कोटि का है ।

१. द्रष्टव्य महा० शान्ति० ३।६।२